



चौमासा

वर्ष-31 अंक-94
मार्च-जून, 2014

प्रधान सम्पादक
रेनु तिवारी

सम्पादक
अशोक मिश्र



आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल का प्रकाशन

ISSN 2249-5479

© स्वत्वाधिकार सुरक्षित



सम्पर्क

आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी

मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्

मध्यप्रदेश जनजातीय संग्रहालय, श्यामला हिल्स

भोपाल-462002

फोन/ फ़ैक्स : 0755-2661948, 2661640

E-mail : mplokkala@rediffmail.com,
mptribalmuseum@gmail.com

web. : www.mptribalmuseum.com

मूल्य

एक प्रति बीस रूपये

वार्षिक सदस्यता - पचास रूपये

आजीवन सदस्यता - पन्द्रह सौ रूपये

चौमासा का वार्षिक शुल्क अनुषंग पुस्तिका के साथ सौ रूपये

प्रचार/प्रसार

प्रवीण गावण्डे - (मो. 9827351093)

शब्दांकन

आदिवासी लोक कला एवं बोली विकास अकादमी

मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्

आवरण

प्रथम- भील जनजातीय नृत्य, अंतिम- म.प्र. जनजातीय संग्रहालय परिसर, छायाचित्र- अकादमी संग्रह से

मुद्रण

शासकीय मुद्रणालय, भोपाल

- चौमासा में प्रकाशित सामग्री लेखकों के अपने कार्य और विचार हैं। आवश्यक नहीं कि अकादमी उससे सहमत हो।
- पत्रिका और प्रकाशन से संबंधित समस्त विवादों का न्यायालयीन कार्यक्षेत्र भोपाल रहेगा।

निदेशक, आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्- भोपाल मुद्रक, प्रकाशक द्वारा शासकीय मुद्रणालय, भोपाल से मुद्रित कराकर आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, जनजातीय संग्रहालय, श्यामला हिल्स- भोपाल से प्रकाशित।

सम्पादक-अशोक मिश्र



इस अंक में

- श्रमण संस्कृति और लोकसाहित्य / दुर्गा भागवत / 5
लोककथा और विजयदान देथा का कृतित्व / विजय वर्मा / 10
एक थाल मोतियों से भरा / डॉ. मालती शर्मा / 25
खेलों के रंग : ऊर्जा उमंग / डॉ. पूरन सहगल / 36
गोंड आदिवासियों के खेल / प्रो. शरीफ मोहम्मद / 42
बाल-साहित्य की परम्परा / डॉ. विनय कुमार पाठक / 49
जनजातीय शिल्प परम्पराएँ / निरंजन महावर / 53
छत्तीसगढ़ी कलाओं के स्वरूप / डुमन लाल ध्रुव / 70
ब्रज की गणितीय पहेलियाँ / सर्वोत्तम त्रिवेदी 'लघु' / 73
लोकोक्तियों में निहित संस्कार / डॉ. माधुरी यादव / 77
बुन्देली की पहेलियाँ / डॉ. कुंजीलाल पटेल 'मनोहर' / 80
बुन्देली लोकविधा सैर / डॉ. बहादुर सिंह परमार / 94
गरासिया घाट एवं शिव मंदिर / मायापति मिश्र / 97
लोकगीतों में विवाह संस्कार / श्रीमती हेमलता उपाध्याय / 101
छत्तीसगढ़ी वैवाहिक संस्कार / राम कुमार वर्मा / 107
भोजपुरी संस्कार गीत / पराक्रम सिंह / 111
आल्हा की आस्था का फूल / डॉ. अंशुबाला मिश्रा / 115
मिट्टी के बर्तन और चित्रकारी / डॉ. सुधीर कुमार / 118
डोमकच / डॉ. उषा वर्मा / 122
बघेलखण्ड का नाट्य संसार / डॉ. अमित शुक्ल / 131
मालवी लोक-संस्कृति में संजा पर्व / संजय आटेड़िया / 135
मालवी पर्व : संजा / अंजना दुबे / 137
लोक संस्कृति और भारतीय समाज / डॉ. अर्चना शुक्ला / 144
साहित्य सेवी : बालकवि वैरागी / डॉ. महेन्द्र भानावत / 147
संस्कृति संचालनालय एवं मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद् के आयोजन / 153



श्रमण संस्कृति और लोकसाहित्य

दुर्गा भागवत

श्रमण संस्कृति ने विश्व को अमूल्य संस्कृतिदान दिया है। ब्रह्मचर्य और संन्यास ये हमारे वर्णाश्रम धर्म के दो विशेष क्षेत्र हैं। ब्राह्मण वाङ्मय में संन्यास का आविष्कार भलीभाँति पाया जाता है। इस वैराग्य वृत्ति पर ही हमारे उपनिषदों का अधिष्ठान रहा है। हमारा उच्चतम ब्रह्मज्ञान, शांति का मंगलमय रहस्य, सत्य का प्रखर तेज यह ब्रह्मचर्य और वैरागी वृत्ति से ही उत्पन्न हुआ है। 'तत्त्वमसि' की वाणी में व्यक्तिनिरपेक्ष भाव और विश्वकल्याण का स्वप्न साकार हुआ है। याज्ञवल्क्य ने प्रीति के आत्मकेन्द्रित अधिष्ठान पर किया भाष्य-आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। प्रीति -अप्रीति के परे परमतत्त्व की ओर ले जाने वाला और वैराग्य का पावन पंथ दिखाने वाला है। श्रुति-स्मृति में गृहस्थाश्रम का आदर किया है, बावजूद मानव का और मानव समाज का लोकमंगल अंततः ब्रह्मचर्य और सर्वसंग परित्याग में ही है, ऐसा सभी स्मृतिकारों की राय है। वैदिकों ने जगत् की अपूर्णता, देह की नश्वरता, भोग की अतृप्ति इन त्रुटियों को भलीभाँति समझ लिया था, इसी कारण उन्होंने मोक्ष का यह सर्वोच्च लक्ष्य आगे रखकर चारों पुरुषार्थों में उसे श्रेष्ठ शुमार किया। 'काम' यह पुरुषार्थ में ही होने से उन्होंने गृहस्थी को घृणास्पद नहीं माना। तात्पर्य यह कि वैदिकों ने अपने तत्त्वज्ञान में केवल भावात्मक तत्त्वों का पुरस्कार किया है। 'सच्चिदानंद' यह उनके तत्त्वज्ञान का घोषवाक्य है।

लेकिन भारत में इन वैदिक श्रमणों के पंथ थे। जैन और बौद्ध संप्रदाय इस अवैदिक श्रमणपंथ में से ही हैं। ये सभी धर्म, पंथ केवल संन्यास और संन्यासियों के सांघिक जीवन पर आधारित हैं। वैदिक संप्रदाय परंपरानिष्ठ तो ये सम्प्रदाय व्यक्तिनिष्ठ हैं। विश्व में व्यक्तिनिष्ठ धर्म की नींव बुद्ध और महावीर ने ही डाली। ईसवी पूर्व पाँच सौ साल पहले यह घटना हुई। इन नवजात धर्मों ने आम

लोगों की आत्मिक मुक्ति का बिगुल बजाया। यह परम्परा एशिया में दक्षिण पूर्व तक पहुँची। ईसा ने व्यक्ति धर्म के क्षेत्र को व्यापक बनाया। बौद्ध धर्म के अहिंसा का आदेश ईसा के प्रेममय तत्त्वज्ञान में परिणत हुआ। इस तरह बौद्ध धर्म के सूत्रपात से विश्व का इतिहास दो खण्डों में विभाजित होकर विश्व में नया सांस्कृतिक कालखण्ड निर्माण हुआ।

बौद्ध और ईसाई संस्कृति

भारतीय श्रमणों के तत्त्वज्ञान का सिकंदर बादशाह पर जो परिणाम हुआ, उसका मैगिस्थेनिस ने विस्तार से वर्णन किया है। अर्थात् स्पष्ट है कि श्रमण संस्कृति का मूल भारत में होकर इस संस्कृति के प्रभाव से विश्व के धार्मिक जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। पौराणिक संस्कृति का प्रभाव लंका, जावा, बाली, सुमात्रा और इंडोनेशिया तक पाया जाता है। बौद्ध संस्कृति का फैलाव चीन, जापान, लंका, ब्रह्मदेश और मंगोलिया तक पाया जाता है।

दसवीं सदी में मध्य यूरोप में बड़े पैमाने पर ईसाई धार्मिक आंदोलन फैला और पादरियों ने अपने प्राचीन संतों की जो गाथाएँ संकलित की, उसमें भारतीय वैराग्यकक्षों का बड़ी मात्रा में प्रचलन मिलता है। भारतीय कथा वाङ्मय और पर्याय से लोकसाहित्य में इस श्रमण संस्कृति के विविध अंशों के आविष्कार का दिग्दर्शन समीचीन लगता है।

कुबेरसेना की कथा

ब्रह्मचर्य के तहत अविवाहित रिश्तेदारों के परस्पर लैंगिक सम्बन्धों का निषेध यह श्रमण संस्कृति के आधार पर बनी कथाओं की विशेषता है। माता-बेटे का सम्बन्ध, पिता-बेटी सम्बन्ध, भाई-बहनों के सम्बन्ध को पूर्णतः त्याज्य माना है। बौद्ध तथा जैन वाङ्मय में इन निषिद्ध सम्बन्धों की करुण कथाएँ पाई जाती हैं और उसकी गूँज मध्ययुगीन ईसाई वाङ्मय में पाई जाती है। इस परिप्रेक्ष्य में कुबेरसेना की कथा सबसे प्राचीन है। हर्मन याकोबी ने परिशिष्ट पर्व की कथा के अनुवाद की पादटिप्पणी में उस कथा का मध्ययुगीन वैश्विक परिभ्रमण भी दिखाया है। इस कथा के आयरिश पर्याय पर जर्मन उपन्यासकार टामस मान ने उपन्यास लिखा है। उसके अंग्रेजी अनुवाद का नाम The Holy Sinner है।

कुबेरसेना की मूल कथा जैन चूर्णी में पाई जाती है। हेमचंद्र ने वह परिशिष्ट पर्व में दी है। उसका आशय इस तरह है- मथुरा की कुबेरसेना नामक गणिका के दो जुड़वा बच्चे होते हैं, एक लड़का और एक लड़की। वह संदूक में रख उन बच्चों को नदी में छोड़ देती है। संदूक बहते हुए शौर्य नगर में पहुँचती है। दो व्यापारी उसे देखते हैं। उन्होंने वह संदूक खोली और एक ने लड़का तो दूसरे ने लड़की ले ली। वे बच्चे बड़े होते हैं और संयोग से दोनों का विवाह होता है। लेकिन कुबेरसेना ने जन्म के दौरान उन्हें पहनाई समान अंगूठियाँ अपने हाथों में देख दोनों को भाई-बहन होने की बात पता चलती है। विवाह होने पर भी ब्रह्मचर्य की मर्यादा न तोड़ने से उन्हें संतोष होता है। कुबेरदत्त मथुरा में आता है और व्यापार में नाम कमाता है। वहीं पर उसे कुबेरसेना से प्यार होता है और उन दोनों का विवाह होता है, उन्हें लड़का होता है। आगे चलकर कुबेरसेना संन्यासिनी बनकर भटकती है और उसे इस राज का पता चलता है। वह इस राज को उन सबको बता देती है। अज्ञान से हुए पाप के प्रायश्चित्त के रूप में वे सभी संन्यासी बन जाते हैं।

विवाहोत्तर ब्रह्मचर्य

विवाहोत्तर ब्रह्मचर्य पालन और किसी सिद्धि के लिए विवाह करने की कल्पना मेघरथ और विद्युन्माली की कथा में समर्पक रूप में पाई जाती है। वह कथा इस प्रकार है- वैताढ्य पर्वत पर बसे गगनवल्लभ देवनगर में मेघरथ और विद्युन्माली नामक दो विद्याधर भाई रहते थे। उन्हें लगा कि विशेष विद्यासिद्धि करने के लिए पृथ्वी का भ्रमण किया जाए। इतना ही नहीं इस विद्यासिद्धि की पहली आवश्यक विधि थी- नीच कुल की कन्या से विवाह कर एक वर्ष ब्रह्मचर्य पालन करना। इसके तहत वे दोनों वसंतपुर कस्बे में गए और दो चांडाल कन्याएँ पसंद कर उनके साथ विवाह किया। वे दो कन्याएँ कानी और आगे दाँत निकले हुए चांडालों ने उन्हें दे दी। आगे एक साल बाद मेघरथ को सिद्धि प्राप्त हुई, लेकिन विद्युन्माली को उस चांडाल कन्या से प्रेम हो गया। उसका व्रत भंग हुआ और वह पेट से रह गई। उसे उस हाल में छोड़कर जाना उचित नहीं, इसलिए वह चांडाल वेश में उन्हीं में रहा। उसके और बच्चे हो गये। वह उन्हीं में उलझ गया। मेघरथ मात्र पत्नी को छोड़कर वैताढ्य पर्वत पर चला गया।

खलनायक का संयम

मुझे इस संदर्भ में एक कल्पना सूझी है। वह यह कि पूरे विश्व की लोककथाओं में खलनायक नायिका को (विवाहित या वाग्दत्त) भगाकर ले जाता है, लेकिन उसका चारित्र्य हनन नहीं करता। नायिका बारह साल व्रतस्थ रहती है, कम-से-कम तीन साल तो आवश्यक रूप से। फिर नायक जो उसका पति, प्रियकर या बेटा होता है, खलनायक को मारकर उसे छुड़ता है। इस तरह की हकीकत मिलती है। मुझे लगता है कि खलनायक का संयम (जैसा रावण ने सीता को लेकर बरता था) और नायिका का व्रत ये दोनों बीज मूलतः तापस संस्कृति से आए हैं।

पत्नी होकर ब्रह्मचर्य या संन्यास

पत्नी होने के बावजूद संन्यास लेना, यह श्रमण संस्कृति की कथाओं में मिलने वाला और एक बीज है। 'ब्रह्मदारण्यकोपनिषद्' में दिखाया है कि याज्ञवल्क्य ऋषि अपनी अत्यंत प्रिय मैत्रेयी को छोड़कर खुशी से चतुर्थाश्रम में प्रवेश करते हैं। यह कथा तो सर्वश्रुत है, लेकिन ऋग्वेद में अगस्त्य-लोपामुद्रा के संवाद में पत्नी होने के बावजूद ब्रह्मचर्य-स्खलन के डर से उससे समागम नहीं करता, ऐसा अगस्त्य ऋषि बताते हैं। विलासी सिद्धार्थ को दुनिया की नश्वरता का पता चला और वह मुक्ति की राह खोजने घर से निकल पड़ा, यह ऐतिहासिक सत्य है। वही बीज महावीर के चरित्र में भी है। लेकिन बौद्ध और जैन चरित्रपरक कथावाङ्मय में ऐसी कथाओं की विपुलता होना, कोई आश्चर्य नहीं। जैसे हेमचंद्र के परिशिष्ट पर्व में एक श्रमण अपने आचार्य के पास डींग हाँकता है कि 'मैं एक बार अपने छोटे सौतेले भाई को दीक्षा दे दूँगा, क्योंकि वह मुझसे असीम स्नेह करता है।' आगे चलकर वह भाई को लाने जाता है, तब भाई के विवाह की धूम शुरु थी। उसने भाई को देखा, लेकिन परिचय भी नहीं दिया। दुःखी होकर वह संन्यासी वापस आता है। उसकी इस हकीकत का मित्रों को पता चलता है तो वे उस पर हँसने लगे। उस समय उसके एक मित्र देवदत्त ने उसे कहा- 'छोटे भाई ने बड़े भाई की इतनी भी प्रतिष्ठा नहीं रखी तो गुरुभक्ति की साधना का फल क्या?'

इस पर बाकी मित्रों ने उसे कहा- 'तुम सही हो तो अपने भाई को दीक्षा दोगे।' भवदत्त गया, उस समय उसके भाई भवदेव

का विवाह हो रहा था। भाई को देखकर भवदेव जल्दी से उसके पास आया। दोनों एक साथ गले में हाथ डालकर बाग में गए। गर्भे लड़ाते हुए वे दूर चले गए। भवदत्त बता रहा था- यही वे पेड़ हैं, जिस पर हम लंगूर की तरह उछलकूद करते थे। ये तालाब देखो, उसमें होनेवाले नील कमल निकालकर उसकी मालाएँ बनाकर एक दूसरे को पहनाते थे। यह नदी देखो, हम बचपन में इसके किनारे बैठकर बालू के किले रचते थे। पानी में मेंढक की तरह तैरते थे।'

बाते करते हुए वे दोनों भाई आश्रम तक आ गए। उस समय मित्रों ने ताड़ लिया कि भवदत्त अपना वचन पूरा करने हेतु भाई को ठगकर लाया है। भवदत्त ने गुरु के सामने शर्त जीतने की बात कही। भाई का वचन झूठा न हो, इसीलिए इच्छा न होने के बावजूद भवदेव श्रमण बना।

फिर कुछ साल बाद भाई गुजर गया। तब उसे विवाह के तुरंत बाद छोड़ आई पत्नी नागिला की याद आई। मन में गृहस्थी की ललक उत्पन्न हुई। उसने रास्ते में नागिला को एक ब्राह्मणी के साथ जाते हुए देखा। दोनों ने एक दूसरे को पहचाना नहीं। लेकिन भवदेव ने जब उसे अपने माता-पिता के बारे में पूछा- अपनी वधू के बारे में बताया, तब उसने उसे पहचाना। भवदेव संन्यासी जीवन त्यागकर क्षुद्र गृहस्थी के सुख में न उलझे, इसलिए वह उसे समझाती है। उसके साथ गृहस्थी बसाने को इंकार कर देती है। मजबूरन भवदेव वापस आता है और आजीवन श्रमण वृत्ति को स्वीकारता है।

पूर्वकर्म के अनुसार विवाह करना, लेकिन हेतुतः विशिष्ट काल तक या हमेशा के लिए गृहस्थी का त्याग करना, ऐसी परिणति भी इन कथाबीजों में अधिकांशतः पाई जाती है। जैसे परिशिष्ट पर्व में ही जंबू चार लड़कियों के साथ पूर्वजन्म में वे उसकी स्त्रियाँ थी, ऐसा मानकर विवाह करता है। लेकिन विवाह से पहले ही वह गृहस्थी न बसाकर श्रमण बनना तय करता है। स्त्रियाँ उसे काफी समझाती हैं, लेकिन उसका निश्चय पक्का होता है।

रामायण में लक्ष्मण का युवा पत्नी को छोड़कर जाना, इसी बीज से आया है। सीता-रावण के यहाँ व्रतस्थ रहती हैं और रावण भी उनसे बलपूर्वक व्यवहार नहीं करता, यह बीज भी इसी से

आया है। खलनायक ऐसी नायिकाओं को भगाकर बंद करके रखते हैं। लेकिन बारह वर्ष व्रतस्थ रहकर फिर विवाह करने की प्रतिज्ञा ये नायिकाएँ करती हैं। खलनायक कबूली देकर अनुनय करता रहता है, ऐसी हकीकत दुनियाभर की लोककथाओं में पाई जाती है। उसमें भी भारतीय लोककथाओं में उत्कृष्टता से पाई जाती हैं।

कई बार नायक की कोई शर्त होती है जो पूरी हुए बगैर विवाह सुख से दूर रहना, उसकी प्रतिज्ञा होती है। पत्नी साल-दर साल राह देखती रहती है। लक्ष्मण की ऊर्मिला की तरह 'मेरी फियर' संग्रह की शेवंती का उदाहरण इसी तरह का है। यह बीज भी पूरे विश्व में पाया जाता है। बुद्ध की हर कथा में वैदिकेत्तर श्रमण संस्कृति की विशेषता है। बौद्ध और जैन वाङ्मय में इन कथाओं की प्रचुरता है।

दृष्टांत की मिसाल

धार्मिक वृत्ति जाग्रत कर उस संप्रदाय के तत्त्वज्ञान का पुरस्कार करने के लिए दृष्टांत का उपयोग किया जाता है। भारत का प्राचीन वैदिक और पौराणिक वाङ्मय, बौद्ध और जैन वाङ्मय विशिष्ट कथाओं के साथ दृष्टांतों से भी खचाखच भरा हुआ है। जिन दृष्टांतों का उपयोग पूरे विश्व के धार्मिक वाङ्मय में हुआ है, वह दृष्टांत 'मधुबिंदूदिपुमान्' नाम से ख्यात है। इस दृष्टांत का सबसे प्राचीन आविष्कार महाभारत के स्त्री पर्व में (अध्याय 5-6) होकर वह बौद्ध, जैन, मुस्लिम और यहूदी ग्रंथों में भी पाया जाता है। यह कथा इस तरह है- एक दफा एक व्यापारी चोरों से लुटने के बाद जंगल में भटक रहा था। उसी समय एक हाथी ने उस पर हमला किया। हाथी से बचने के लिए भागते समय उसे एक पुराना कुआँ दिखा। वह उसमें कूद पड़ा। कुएँ के तट पर बरगद का पेड़ था। उस पर मधुमक्खियों का छत्ता था। बरगद की टहनियाँ कुएँ में उतरी थी, वह आदमी स्वयं को बचाने हेतु उन टहनियों को पकड़ता है, उसी समय ऊपर से हाथी की सूँड का उसके सिर को स्पर्श होता है। कुएँ की तलहटी से बड़ा अजगर उसे निगलना चाहता है और कुएँ के चारों ओर से चार साँप उसे काटने आते हैं। दो चूहे, एक काला और दूसरा सफेद बरगद की टहनियों को कुरेदने लगते हैं। हाथी के हाथ से शिकार छूट गया, इसलिए गुस्सा होकर पेड़ हिलाने लगता है। उससे मधुमक्खियों

में हलचल हुई और उन्होंने उसे काट लिया। इतने में मधुमक्खियों का छत्ता टूट गया और शहद उस आदमी के सिर से मुँह में आया। उस समय वह आदमी आपत्ति भूलकर लगन से शहद खाने लगा।

इस दृष्टांत का तात्पर्य इस तरह है - मनुष्य याने जगत् का जीव, वन याने जगत्, हाथी याने मृत्यु, कुआँ याने मानव जीवन, अजगर याने नर्क, चार साँप याने वासना, बरगद की जड़ याने मनुष्य की जिंदगी, चूहा याने शुक्ल और कृष्ण पक्ष, मधुमक्खियाँ याने दुःख और चिंता, शहद याने विषय सुख।

प्रचलित कथाओं को मोड़कर उन्हें दृष्टांत रूप देना-विशेषतः 'पंचतंत्र' जैसी पुस्तकों की बोधकथाओं को दृष्टांत का रूप देने की क्रिया सभी धार्मिक संप्रदायों में पायी जाती है। महानुभाव वाङ्मय में कौए के गोबर के घर की और चिड़िया के मोम के घर की कथा पाई जाती है। 'पंचतंत्र' की ही कहानी कुएँ में स्वयं का प्रतिबिंब देखकर कूदने वाले सिंह की कथा दृष्टांत के तौर पर बताई जाती है। संत एकनाथ को भारूड में तत्कालीन गीत-नृत्य को परिवर्तित कर दृष्टांत रूप देना पड़ा। उसी की परिणति महाराष्ट्र के गाँव-देहात के नाथ संप्रदाय से प्रसूत कलगी-तुरा लावणी में पौराणिक कथाओं को प्रकृति पुरुष का रूपक जोड़कर हुई है।

पुरान कथाओं का परिवर्तन

श्रमण संस्कृति की एक और विशेषता कथाओं में पाई जाती है, जिससे पुरातन दैवतकथाओं में देवताओं की ओर गौणत्व लाने वाला कथा बीज निर्माण हुआ। जैसे तथागत या तीर्थंकर के जन्मकल्याण का विधि शक्र जैसे देवता, अच्युत जैसे उनके शिष्य बड़े समारोह के जरिये सम्पन्न कर सभी तीर्थों का पानी लाकर उस शिशु का मेरु पर्वत पर अभिषेक करते थे, ऐसा वर्णन 'जंबुपण्णति' या हेमचन्द्र के 'त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित' या 'ललितविस्तर' में पाया जाता है। इस कथा में शिशु के जन्म के समय सभी विधि 'दिशाकुमारी' करती थी। श्रमण संस्कृति में विवाह का स्थान न होने से जन्मकल्याण को ही महत्त्व है। इतना ही नहीं तो शक्र तक उस शिशु को अपनी बराबरी का मानकर उसका अभिषेक करता था। धर्म जाग्रत करने वाला वीर यह शक्र के क्षात्रबल की बराबरी करने वाला होने से उसका अभिषेक करने की कल्पना भी इससे जुड़ी हुई है। महाभारत में भी

तपश्चर्या से कोई भी इन्द्र का पद प्राप्त करता है। तृणविंदू जैसे तापसियों को इसी कारण इन्द्र तपश्चर्या में हिरनी जैसी अप्सराओं को भेजकर विघ्न लाता था, जो सर्वश्रुत है। अर्थात् भारतीय संस्कृति में वह विविध रूपों में प्रकट हुआ है। उन्हीं में से एक रूप बौद्ध और जैन कथाओं में तथागत या तीर्थंकर के जन्म मंगल के समय उसे शक्र इतना ही सम्मान देना पड़ता, अपितु शक्र भी उसके सामने नतमस्तक बनता, ऐसा जो दिखाया है वह 'ब्रह्मतेजो बलें बलम्' इस विश्वमित्र की उक्ति का अवैदिक आविष्कार है। जब शक्र को देवताओं का राजा, सबसे महान माना जाता था, उस समय उसकी बराबरी का या उससे श्रेष्ठ दूसरा भी कोई है, यह कल्पना महाभारत में ही प्रकट हुई है। उसी का व्यापक आविष्कार बौद्ध और जैन वाङ्मय में देखने को मिलता है। इसी की आवृत्ति कृष्ण चरित में गोवर्धन आख्यान में कृष्ण ने इन्द्र की पूजा न कर उसे सबक सिखाया-मिलती है। लेकिन कृष्ण यह वैदिक संप्रदाय से निकला विष्णु का अवतार है और वैदिक

संस्कृति में ईश्वर अवतार घर-गृहस्थी वाला न हो, ऐसा नियम नहीं। अपितु अवतार में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के उत्कट लक्षण हो, ऐसा ही दशावतार के लोकप्रिय राम और कृष्ण इन अवतारों से लगता है। परशुराम, वामन आदि अवतारों से मात्र ब्रह्मचर्य या चतुर्थाश्रम पूज्य होने की बात स्पष्ट होती है। श्रमण संस्कृति के इन दैवतों को गौण मानने की चरम सीमा नाथ संप्रदाय में पाई जाती है। नवनाथ चरित्र में शंकरादि देवताओं को भी नाथों ने किस तरह त्रस्त किया, यह दिखाया है। मूल वैदिक संस्कृति से प्रसूत दशावतार पूर्ण न लगे होंगे, शायद इसीलिए ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीनों का एक-एक अंश लेकर जन्मतः विरागी दत्तात्रय श्रमण संस्कृति के आधार पर उत्तरकालीन पुरान कथाओं में अंतर्भूत हुआ और उसके आधार पर नाथ संप्रदाय का विस्तार हुआ। समग्रतः मराठी में प्रचलित लोकसाहित्य के कुछ प्रकारों पर नाथ संप्रदाय का प्रभाव बड़े पैमाने पर पाया जाता है।

अनुवाद- डॉ. गिरीश काशिद

लोककथा और विजयदान देथा का कृतित्व

विजय वर्मा

श्री विजयदान देथा (1926-2013) जिन्हें उनके समकालीन प्यार और आदर से बिज्जी कहते हैं। उनके निधन से हमने हिन्दी और राजस्थानी के एक सबल और बहुचर्चित, बहुप्रशंसित साहित्य सेवी को खो दिया है। उन्होंने अपना लेखन कार्य हिन्दी से शुरू किया, लेकिन फिर उनका मुख्य कार्य राजस्थानी लोकथाओं का संग्रह और संपादन हो गया। उनके कृतित्व के इस पक्ष को मुख्यतः दो आधारों पर सराहा गया है- बहुत समृद्ध और मनोरम भाषा तथा पारम्परिक कथाओं के पुनर्कथन में प्रगतिशील आधुनिक भावबोध का संश्लेष। नंद भारद्वाज के शब्दों में- विजयदान देथा ने आज के जनतांत्रिक समाज की नयी आकांक्षाओं के अनुरूप स्वाधीनता, समानता, लोकतंत्र, सामाजिक न्याय, नारी-स्वातंत्र्य और आत्म सम्मान जैसे मानवीय मूल्यों और मानव अधिकारों को परिपुष्ट करने वाली जीवन्त और प्रेरणादायी लोक-कथाओं का चयन कर उन्हें अपनी प्रवाहमयी भाषा में 'फुलवाड़ी' के माध्यम से राजस्थानी पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया, बल्कि इस अर्थ में उन्होंने राजस्थानी भाषा का ऐसा परिष्कृत गद्य और उसका पाठक वर्ग तैयार किया, जैसा हिन्दी में बाबू देवकीनंदन खत्री या गुजराती में झवेरचन्द मेघाणी ने किया था।'(राजस्थानी साहित्य अकादमी द्वारा शायद सन् 1988 में प्रकाशित विजयदान जी पर केन्द्रित मोनोग्राफ में सम्मिलित लेख 'लोक सम्पदा की मिलिकयत का मसला और विजयदान देथा' से)

बिज्जी और उनके अनन्य मित्र कोमल कोठारी ने मिलकर बिज्जी के गाँव बोरुन्दा में 'रूपायन' नामी कला-संस्कृति संस्थान को पल्लवित-पुष्पित किया लोककथाओं, लोकगीतों आदि का संकलन शुरू किया और 'वाणी' (अगस्त 1960 से) व 'लोकसंस्कृति' (अप्रैल 1968 से) नामक पत्रिकाएँ निकाली। बाद में 'दुविधा' और 'उलझन' नाम से उनकी कुछ राजस्थानी कहानियों के हिन्दी रूपान्तर, 'फुलवाड़ी' के भाग 10 के हिन्दी, बंगाली, गुजराती, उड़िया और उर्दू अनुवाद और 'द दिलैमा एण्ड अदर स्टोरीज' नाम से उनकी कुछ कहानियों के अंग्रेजी अनुवाद भी सुलभ हुए। उनकी कुछ कहानियों पर फिल्में भी बनी : दुविधा निर्देशक मणि कौल 1973, 'परिणति' निर्देशक प्रकाश झा 1989, 'पहेली', 'दुविधा' कहानी आधारित, निर्देशक अमोल पालेकर 2005। हबीब तनवीर का प्रसिद्ध नाटक 'चरणदास चोर' विजयदान देथा की कहानी 'खांतीलो (चतुर)' चोर पर आधारित था। हालांकि बाद में लोककथा की मिल्कियत के मसले को अपने स्तर पर सुलझाते हुए हबीब तनवीर ने मूलकथा लेखन के रूप में विजयदान जी का हवाला देना छोड़ दिया (नंद भारद्वाज, मोनोग्राफ में सम्मिलित लेख से)।

हमने बात शुरू की थी लोककथाओं के संग्रह-संपादन से, फिर बात आ गई 'विजयदान देथा की कहानी' पर और टूटी जाकर लोककथा की मिल्किल के प्रश्न पर। बिज्जी के कलाकर्म और कृतित्व से जुड़ी दुविधा इस उलझन को समझने के लिए हमें थोड़े विस्तार में जाना पड़ेगा। इस क्रम में हम एक ओर तो विजयदान जी के रचनात्मक उपक्रम से बेहतर परिचित होने का प्रयास करेंगे और दूसरी ओर, इस उपक्रम के प्रकाश में लोककथाओं के साथ बर्ताव को लेकर कुछ दिशा-निर्देश भी लेना चाहेंगे।

राजस्थान में लोककथाएँ वाचिक परम्परा के रूप में कही-सुनी भी जाती रही हैं और हजारों की संख्या में लिखी हुई रखी भी मिलती हैं। हमारे अपने समय में भी लोककथा को सुनकर उसको ज्यों का त्यों लिख देने या उसका कम ज्यादा संस्कार करके, उसका अपनी भाषा और शैली में पुनर्लेखन करने का काम मनोहर शर्मा, नरोत्तमदास स्वामी, सौभाग्य सिंह शेखावत, लक्ष्मीकुमारी चूंडावत, गोविन्द अग्रवाल आदि कई विद्वान करते आये हैं। इसी प्रकार लिखित रूप में उपलब्ध लोककथा को

संपादन करके उसे छपवाने का कार्य भी होता आया है। विजयदान देथा ने भी लोककथाएँ सुनकर उसके पुनर्कथन का काम बड़े पैमाने पर किया। 1957 के आसपास पहली बार उन्होंने एक लघुकथा 'राजस्थानी के अक्षरों में ढाल दी', जबकि उससे पहले तक वे, उनके अपने शब्दों में हिन्दी में अच्छी-बुरी तरह सौ कविताओं, तीन सौ कहानियों और तीन उपन्यासों से कलम मांजते रहे थे। लेकिन अब ऐसा जुनून चढ़ा कि तय किया कि राजस्थानी में ही लिखूँगा। उन्हें दिशा और दृष्टि मिली जोधपुर के शाह गोवर्धन लाल काबरा से : राजस्थानी में लिखना है तो गाँव में जाकर 'गंवारों' को गुरु बनाना होगा और नयी कहानियों की बला से मुक्त होकर युगयुगांतर से लोगों की जबान पर बसी कदीमी (पुरानी, पारम्परिक) कथाओं का अपनी कलम से श्रृंगार करो। राजस्थानी पाठकों के साथ-साथ समूची दुनिया के गुणी पाठकों को जहन में रखो।

'बातां री फुलवाड़ी' के 1962 में प्रकाशित पहले भाग की भूमिका, 'दो आखर' में भी बिज्जी ने लोककथाओं को उनकी वाणी रूप से लिखावट में ढालने में आने वाली कठिनाईयों और तत्सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण के बारे में कुछ महत्वपूर्ण बातें कही हैं। (चूँकि वे सुनकर ही लोककथाओं को लिपिबद्ध कर रहे थे, इसलिए उनका कथन पहले से लिखी रखी कथाओं को सम्पादित कर छपवाने पर लागू नहीं होता।) बिज्जी लिखते हैं कि हर बातपोश कथा को अपने ढंग से, अपनी उपज (प्रत्युत्पन्नता), कल्पनाशक्ति, याददाश्त आदि के अनुसार मांडकर सुनाता है, इसलिए लिखने वाले में भी, अपने पल्ले की बात कहने की कला भी होनी चाहिए-सिर्फ सुने हुए को, ज्यों का त्यों टीप देने से काम नहीं चलने वाला। दूसरा, लोककथा सुनने वाला तो सामने रहता है इसलिए उसके हाव-भाव, स्वर के उतार-चढ़ाव, बीच-बीच में आने वाले पद्य भाग के वाचन (कभी-कभी गायन भी) इत्यादि का जो लाभ उपयुक्त वातावरण बनाने और वांछित प्रभाव डालने में उसे प्राप्त रहता है, वह अदृश्य रहते (और सिर्फ कागज-कलम के सहारे चलते) लेखक के भाग्य में नहीं होता। इसलिए लेखक को इस अड़चन (हैंडीकैप) से पार पाना है, तो उसको सम्बन्धित विषय, जीवन और माहौल की विशद् जानकारी तो होनी ही चाहिए, साथ ही उसे बात लिखने की कला आना और उसका अभ्यास होना भी जरूरी है।

तीसरी बात बिज्जी ने यह कही थी कि जरूरी है कि पुरानी बातों को नया रूप दिया जाए और इसीलिए लोककथाओं के परम्परागत घटना रूप का मैंने कला और कल्पना से निर्माण (संस्कार) किया है। (यह मूल राजस्थानी में कही गई बात का मुक्त भावान्तर है।)

हमारे वर्तमान प्रयोजन के लिए मुख्य बात यहाँ यह है कि परम्परा से चली आ रही लोककथाओं का पुनर्कथन ज्यों का त्यों न करके उनका वर्तमान युग की स्थितियों और माँग के अनुसार संस्कार करने की बात बिज्जी के ध्यान में शुरू से थी- यह कोई बाद का विपथगमन या असामान्यता नहीं थी।

तो, इस तरह शुरू हुआ विजयदान जी द्वारा लोककथाओं को सुनकर, कला और कल्पना द्वारा उनका बनाव श्रृंगार। उनके पुनर्लेखन और प्रकाशन का सिलसिला और यह उद्यम अंत 'बातां री फुलवाड़ी' के 14 भागों के रूप में सामने आया। उनके पहले संस्करण में नन्द भारद्वाज द्वारा उस समय किये गए विश्लेषण के अनुसार, 1962 से 1982 तक प्रकाशित 'फुलवाड़ी' के 13 खण्डों में छोटी-बड़ी कुल चार सौ कथाएँ थीं, जिनमें आधा दर्जन 'लोक उपन्यासों' उसके अलावा तीस के करीब बीस से पचास पृष्ठों तक की बड़ी कथाएँ, सौ के करीब छः से बीस पृष्ठों तक की छोटी कथाएँ और शेष (दो सौ साठ के ऊपर) दो से चार पृष्ठों वाली लघु कथाएँ या चुटकुले सम्मिलित थे। अब यह 'फुलवाड़ी' 14 खण्डों में राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर द्वारा पुनर्प्रकाशित होकर उपलब्ध है। इस रूप में अब इसमें छोटी-बड़ी कुल 482 कथाएँ हैं। खण्ड 14 की 7 कहानियाँ 2004, 2005 और 2006 की लिखी हुई हैं।

लोककथा का कुछ संस्कार तो उसके हर वाचिक या लिखित अवतरण (रेंडिशन) में कुछ चाहे- कुछ अनचाहे, प्रक्रिया धारित ढंग से होता ही आया है और उसमें कुछ भी विचित्र या गलत नहीं है। हर दादी, हर नानी, हर बातपोश कथा को अपने ढंग से कुछ सजाकर, कुछ माँडकर सुनाती आयी है। हमारे अपने दौर में भी मनोहर शर्मा, गोविन्द अग्रवाल आदि का जोर यदि मूल कथा के लगभग ज्यों का त्यों पुनर्कथन-अग्रेषण पर रहा है तो लक्ष्मीकुमारी चूंडावत इत्यादि ने भाषायी संस्कार द्वारा कथा का आकर्षण बढ़ाने का भी प्रयास किया है। लेकिन, कुल मिलाकर

ये सभी सम्मानित साहित्यकार लोककथाओं के संग्राहक-पुनर्कथनकार ही रहे, उन्होंने पुनर्कथन को पुनर्चना नहीं बनाया-पुनर्कथित लोककथा को कभी अपनी मौलिक रचना 'मेरी कहानी' नहीं कहा।

प्रारम्भ में विजयदान भी मुख्यतः संग्राहक ही रहे और उनके द्वारा किया गया संस्कार मुख्यतः भाषा और शैलीगत ही रहा। इस संस्कार और उससे आगे जाते परिवर्तन-परिशोधन को अपनी सशर्त लेकिन लचीली सहमति श्री कोमल कोठारी ने इन शब्दों में दी थी- सही है कि लोककथा के निपट रूप के अध्येता लोककथा के इस नये स्वरूप की ओर कुछ चिंतित दृष्टि से देखते हैं। क्या लेखक की तीव्र अनुभूति द्वारा समाज के बदलते हुए मूल्यों की स्थापना के लिए कथा के कलेवर में हेर-फेर उचित है? क्या इस परिवर्तन-परिशोधन की प्रक्रिया में हम एक ऐतिहासिक वस्तुतथ्य को नया डायमेंशन तो प्रदान नहीं कर रहे हैं? यह शंका न केवल उचित है, अपितु सत्य है। किन्तु परम्परा से प्राप्त एक मौखिक कथा का सन्देश इतिहास और कल के परिवेश में होते हुए भी मनुष्यता के शाश्वत सत्यों की खोज में ही तल्लीन रहता है। और कथा का जब तक यह पक्ष नवीन रूप में भी जीवित रह जाता है तो कथा को प्रस्तुत करने वाली शैली तो केवल सौन्दर्य की माँग को ही पूर्ण करती है। ('फुलवाड़ी' के भाग 7 में सम्मिलित आलेख 'मां रौ बदलौ-एक विवेचन' से) क्या यहाँ हम, कथा के 'सन्देश' के कथा के कलेवर में 'हेरफेर' से काल्पनिक और आरोपित एकात्म को शैली का भ्रामक आवरण नहीं दे रहे?

उस दौर में छपे 'फुलवाड़ी' के मूल संस्करणों के मुख्यपृष्ठ पर यह उपशीर्षक भी छपता था- 'राजस्थान री कदीमी लोककथावां' अर्थात् राजस्थान की पारम्परिक लोककथाएँ। लेकिन फिर एक दौर आया, जिसमें प्रगतिशील सोच और आधुनिक भावबोध के अपने आग्रह के साथ विजयदान, महज संस्कारित पुनर्कथन से आगे बढ़कर लोककथा का पुनर्चाव करने लगे और यह पुनर्चित कथा उनकी मौलिक रचना 'मेरी कहानी' हो गई। स्वाभाविक था कि इसने एक बहस, एक विवाद को जन्म दिया।

अपने पूर्व उल्लिखित 1988 वाले लेख में नन्द भारद्वाज ने लक्षित किया था कि 'फुलवाड़ी' के मूल संस्करण के दसवें भाग से 'कदीमी लोककथावां' सम्बन्धी उपशीर्षक छापना बंद कर

दिया गया है और 'सबै अधिकार लेखक रे हस्ते' – सर्वाधिकार लेखक के अधीन होने की घोषणा कर दी गई। साथ ही, लिपिकार को उस संग्रह विशेष की कथाएँ सुनाने वाले संदर्भ –व्यक्तियों का हवाला देना बंद कर दिया गया। नन्द जी के अनुसार 1972 में प्रकाशित यह दसवाँ भाग वियजदान देथा की लोककथा लेखन शैली में महत्वपूर्ण बदलाव की सूचना देता है। इसी भाग की कथाओं को मौलिक साहित्य का दर्जा देते हुए केन्द्रीय साहित्य अकादमी ने वियजदान देथा को सन् 1974 में अकादमी पुरस्कार प्रदान किया। नन्द जी ने यह संभावना भी व्यक्त की, शायद हबीब तनवीर द्वारा 'चरणदास चोर' की कुछ प्रस्तुतियों के बाद मूल कथा लेखक के रूप में वियजदान जी का हवाला देना बंद कर देने से बिज्जी के लिए कथा के श्रेय और कॉपीराइट का मसला एकाएक महत्वपूर्ण हो गया। इस सिलसिले में नन्दजी ने 1979 में 'फुलवाड़ी' से ली गई कुछ कथाओं के हिन्दी रूपान्तर के रूप में प्रकाशित 'दुविधा' के फ्लेप पर छपी टिप्पणी की ओर भी ध्यान आकर्षित किया- 'बातां री फुलवाड़ी' के 14 खण्डों में 700 कथाओं का सृजन संयोजन उनका एक ऐतिहासिक कार्य है। वियजदान जी ने इन कहानियों में लोककथाओं की शैली, अभिप्राय, कथावस्तु, रूढ़ियों और घटनाओं के बीजतत्त्वों का ही समाहार किया है। इस दृष्टि से कथाएँ लोककथाओं से एकदम भिन्न व्यक्तित्व रखती हैं। नन्दजी ने, यह स्वीकार करते हुए भी कहा कि 'दुविधा' और 'खांतीलो चोर' जैसी कथाओं में बिज्जी ने लोक कथा लेखन को अपनी निपुणता, कल्पनाशीलता, नये भावबोध और जीवन दृष्टि के अनुरूप इन कथाओं के घटना-विन्यास और पात्रों की मनोरचना को अपने ढंग से न केवल प्रभावित किया है, बल्कि इनके अंत और निष्कर्षों को भी काफी हद तक बदल दिया है। ऐसी कथाओं के 'भिन्न व्यक्तित्व' की बात को सिर से नकार दिया। ये लोककथाएँ ही हैं और लोककथा का कॉपीराइट नहीं होता।

इसके जवाब में श्री अर्जुनदेव चारण ने लिखा है कि ये कथाएँ उतनी ही मौलिक हैं, जितनी तुलसीदास की 'रामचरितमानस', शिवाजी सावंत की 'मृत्युजंय' या भैरप्पा की 'पर्व'- इन रचनाओं के माध्यम से रचनाकार अपने पाठकों के सामने उस अर्थ को उद्घाटित करता है, जो इससे पहले वह रचना अभिव्यक्त नहीं कर पाई थी। यह अर्थ का विस्तार एवं

सत्य के सनातन स्वरूप की पहचान के लिए रचनाकार की तड़प, इन रचनाओं को मौलिक रचनाएँ एवं उसके सृजनकार को मौलिक रचयिता की पहचान देते हैं। वियजदान देथा का सबसे बड़ा योगदान यही है कि वह लोककथा के मौन को तोड़ता है... जड़ऊ भाषा में लोककथा को बाँधने का काम अपने-अपने तरीके से वियजदान देथा के साथ वाले कुछ दूसरे लोग भी कर रहे थे, किन्तु उनकी एप्रोच विधा को संरक्षित करने तक ही सीमित रही। वियजदान देथा ने उसे साँसें दी और कथा पुरातत्त्व की वस्तु बनाने से वह बच गई। वह धड़कने लगी। आधुनिक युग ने उसमें अपना प्रतिबिम्ब देखा..।

यदि यह सोचना कि लोककथा से प्रेरित होकर या उसके आधार पर मौलिक लेखन सम्भव नहीं है, एक तरह का दुराग्रह होगा। मूल लोककथा को गूंगी और बिना 'आधुनिक' उद्धार के वर्तमान काल के लिए अप्रासंगिक बताना दूसरी तरह का अतिवाद है। कालजयी रचनाओं के बदलते दौर की बदलती संवेदनाओं और माँगों के परे और ऊपर, अपने शाश्वत मान, मूल्य और मर्यादाएँ होती हैं, जो उन्हें सदियों से संवाद बनाये रखने की क्षमता और युगातीत अर्थवत्ता प्रदान करते हैं। पुरातत्त्वीय महत्त्व की चीज को पुरातत्त्व ही रहने देने का भी अपना महत्त्व है- आखिर हम अपने पुराने स्मारकों को अविवेकी जीर्णोद्धार से बचाते हैं या नहीं? किसी आधुनिक लेखक ने कुछ लोककथाओं के आधार पर कुछ कालजयी, कमोवेश मौलिक रचनाएँ रच लीं, यह बहुत अच्छा है और इसका पूरा श्रेय उसको मिलना चाहिए, लेकिन यह सोचना कि बाकी सारी बेचारी लोककथाएँ ऐसे प्राणदायी पादस्पर्श की बाट जोहती शिलावत पड़ी हैं, यह उपयुक्त नहीं होगा।

दूसरे, इस संदर्भ में कालिदास या तुलसीदास जी का हवाला देना एक ओर तो कुछ ज्यादा ही महत्त्वाकांक्षी है, दूसरी ओर अनुपयुक्त भी है। क्योंकि 'रामचरितमानस' लिखे जाने से वाल्मीकिकृत रामायण विलुप्त नहीं हो गई, जबकि लोककथा को अपनी कहानी बना डालने के क्रम में यदि समानान्तर उद्यम द्वारा मूल कथा को भी सुरक्षित न कर लिया जाए तो उसके विलोपन का खतरा बराबर रहेगा।

इस बहस के पूरे विस्तार के लिए पूर्व उल्लिखित मोनोग्राफ

के अलावा भारतीय लोककला मंडल, उदयपुर के मुख्यपत्र 'रंगायन' के अंग संख्या 31.1 (जनवरी-मार्च, 1998), 31.2 (अप्रैल-जून, 1998) व 32.2 (अप्रैल-जून 1999) को देखा जा सकता है। लेकिन इसके आधार पर अपने लिए कुछ निष्कर्ष निकालने से पहले बेहतर होगा कि हम इस बहस के केन्द्र में जो कृतियाँ हैं, उनमें कुछ से परिचित हो लें।

लोककथा का कथ्य और विन्यास बहुत हल्के (लाईट) और पारदर्शी होते हैं। दूसरे, उनमें कहने वाले और सुनने वाले के बीच एक अलिखित समझ होती है, जिसमें श्रोता या पाठक यह जानते हुए भी कि यह अविश्वसनीय है, कपोल कल्पना है, बात का आनन्द लेने के लिए तर्क को थोड़ी देर के लिए परे रखकर, उस उड़ान का आनन्द ले लेता है। इस संदर्भ में लोकनाट्यों का उदाहरण बहुत उपयुक्त होगा। लोकनाट्य में भी यथार्थवादी सीन-सीनरी इत्यादि का काम रंगकर्मी का 'सुझाव' व दर्शक की रजामंद 'कल्पना' करते हैं। यदि लोकनाट्य में भी मंचीय तामझाम डालेंगे तो वह लोकनाट्य कम, पारसी थिएटर जैसा ज्यादा हो जाएगा। लोककथा को बहुत ज्यादा मंतव्यों से बोझिल करेंगे तो वह अपनी सहज रम्यता और संप्रेषण क्षमता खो देगी, कंदील को लालटेन बना देंगे तो वह अपनी व्योमविहारी आकाशगामिता खो देगी।

अपनी प्रसिद्ध कहानी 'दुविधा' जो 'बातां री फुलवाड़ी' के भाग 10 में संकलित है और जिस पर मणि कौल ने 'दुविधा' नाम से और अमोल पालेकर ने 'पहेली' नाम से फिल्में बनाई थी- में बिज्जी लोककथा के इस भोलेपन की रक्षा कर पाये हैं। एक भूत एक नववधू पर रीझकर चार वर्ष तक उसके धनलोलुप प्रवासी पति की जगह, हूबहू उस पति जैसा रूप लेकर रहता है- अपने आपमें यह एक नितान्त अकल्पनीय बात है। हालाँकि शायद शहर वालों के मुकाबले गाँव वालों के लिए यह कुछ कम अकल्पनीय हो, क्योंकि अंततः तो यह भी 'भूत लगने' का एक रूप ही है। (अर्जुन देव चारण बताते हैं कि मूल कथा में प्रसंग वास्तव में भूत लगने का ही है।) अस्तु, कथा का सबसे कठिन अंश वह है, जिसमें भूत नववधू पर अपनी असलियत जाहिर कर देता है और वह उसे स्वीकार कर लेती है। यह अंश, लोककथा का पुनर्कथन करने वाले की कठिन परीक्षा होती है और बिज्जी उसमें खरे उतरते हैं। (मूल लोककथा में तो शायद यह प्रसंग

होगा ही नहीं। समानान्तर मैथिली कथा में तो इस पूरे दौरान पत्नी को मायके में ही रहते दिखा दिया गया।) यह जरूर है कि कथा का अंत होते-होते राईके द्वारा मामला निबेड़ने के प्रसंग में कथा बिज्जी द्वारा रचित धरातल से ढिसलकर विशुद्ध लोककथा के धरातल पर उतर आती है और सोचते रह जाते हैं कि यह बुद्धिमान, संवेदनशील और समर्थ भूत आखिर इतना मूर्ख और असहाय कैसे हो गया।

कथा को अपने सांचे में ढालने-बढ़ाने के क्रम में बिज्जी कुछ आधुनिक प्रगतिशील भावबोध के स्पर्श भी देते चलते हैं-

1. भूत कई 'सती-सावित्रियों' की असलियत भी जानता है।
2. गाँव वाले कहते हैं कि सच बात पता नहीं चली तो अमीरों का तो कुछ नहीं बिगड़ेगा, लेकिन गरीबों का जीना हराम हो जायेगा।
3. राईका कहता है- मैं राजा नहीं हूँ जो भेट लेकर न्याय करूँ।

इसी तरह, 'बातां री फुलवाड़ी' के भाग 10 में ही संकलित कहानी 'खांतीलौ (निपुण) चोर', जिसके आधार पर हबीब तनवीर ने अपना प्रसिद्ध नाटक 'चरणदास चोर' प्रस्तुत किया था, भी एक उत्कृष्ट प्रयास है। यहाँ भी कथा सिरे से अविश्वसनीय है- एक चोर गुरु के समक्ष पहले तो चतुराई से चार ऐसे काम कभी नहीं करने की शपथ लेता है, जिनको करने की नौबत उसके जीवन में आना एकदम असम्भाव्य है और फिर गुरु के कहने पर हमेशा सत्य बोलने की शपथ भी लेता है। दुनिया को सत्य सुनने की आदत नहीं है, इसलिए पहले तो उसका अपने को चौड़े-धड़ो चोर बताना खूब फलता है, लेकिन अंत में उसको अपनी चार अन्य शपथ का मोल अपनी जान देकर चुकाना पड़ता है। यहाँ भी बिज्जी लोककथा की मौलिक शर्त और शक्ति, शंका को निलम्बित रखना (सस्पेंशन ऑफ डिस्बिलीफ) और बड़ी बात, बड़े संकेत को भी हौले से कहना, धीमें से बता देना- को बखूबी निभा और उभार पाये हैं। साथ ही बिना कथा के कलेवर के साथ कोई जोर-जबर्दस्ती किये वे अपनी प्रगतिशील टिप्पणियाँ भी उसमें टाँकते चलते हैं-

1. चोरी-धाड़े में कोई जुर्म नहीं, गरीबी सबसे बड़ा जुर्म है।

2. चोर तो सिर्फ गरीब होता है- मोटा धाड़ा करने वाला तो राजा कहलाता है।
3. कोई छोटा चोर है तो कोई बड़ा चोर- हमेशा बड़ा चोर छोटे चोर को दंडित करता आया है।
4. सत्ता के जोर के आगे सच का जोर कितना टिकता है।

इस कहानी में भी भाषा का सुंदर, सहज प्रवाह है। कथा में हास्य के डोरे का भी अच्छा निभाव है। वे सब गुण यहाँ मौजूद हैं, जिन्हें और उभारने में हबीब तनवीर कामयाब रहे।

‘दूजौ कबीर’, ‘फुलवाड़ी’ भाग 13 भी एक बहुत सफल रूपान्तरण-विस्तारण है। कथा राजमद में डूबे राजा के सामने थोड़े में संतुष्ट स्वाभिमानी आम आदमी, जनता के कलाकार को उभारती है। जुलाहे की कारीगरी, उसके कंबल-दुशाले न बेचने के लिए हैं न राजा को भेंट देने के लिए, बल्कि उन जरूरतमंदों के लिए हैं- जिनके पास उन्हें खरीदने की क्षमता नहीं है। कथा का विस्तार स्वाभाविक है, भाषा समर्थ और प्रवाहमयी है। जुलाहे के माध्यम से बिज्जी सत्ता को खूब खरी-खोटी सुनाते हैं, एक पैराग्राफ में ‘एनार्किज्म’ (अराजकतावाद) के दर्शन का पूरा खाका खींच देते हैं। नर-मादा का जब तक जी मिले, बस तब तक साथ रहने की वकालत कर लेते हैं। आत्मा-परमात्मा, भाग्य और कर्म को मनुष्य के हाथों रचा गया सबसे बड़ा जंजाल और मूर्तिपूजा को सूगली (गंदी, खराब) बात घोषित करवा लेते हैं और उनका कौशल इसमें है कि यह सब लोककथा में, कंकड़-पत्थर की तरह जबर्दस्ती जड़ा हुआ न लगकर उसमें खप जाता है।

मामूली संस्कार के साथ लोककथा के सफल पुनर्कथन का क्लासिक उदाहरण है ‘फुलवाड़ी’ के भाग 4 में सम्मिलित ‘आसा अमरधन’। अकाल के मारे गरीब पति-पत्नी प्रवास पर जाते हैं तो विमाता तीन साल की सौतेली लड़की और उसके दो साल के भाई को साथ ढोकर ले जाने को तैयार नहीं होती। इस पर उन्हें यह झूठा दिलासा देकर कि संझा को लौट आयेगे, दम्पती उन्हें झूपे में बंद कर, मरने के लिए छोड़ जाते हैं। भाई रह-रह कर पूछता है- सांझ हुई या नहीं, तो बहन उसे कहती है- कहाँ हुई, हुई होती तो माता-पिता लौट न आये होते। साल बीतते पति-पत्नी लौटते हैं तो यूँ आशा के सहारे दिन रात बिताये बच्चे

जीवित मिलते हैं। लेकिन विमाता उन्हें आशा के विपरीत यूँ जीवित पाकर प्रताड़ित करती है तो उसी क्षण उनके प्राण निकल जाते हैं। कैसी अद्भुत कहानी। दिल में सनाका सा बैठ जाता है। भुलाना मुश्किल। बहुत अच्छे से कही गई। एक भी शब्द फालतू नहीं। कला और कल्पना से लोककथा के न्यूनतम संस्कारी, बिज्जी के रचना-कौशल का उत्कृष्ट उदाहरण।

यह हुआ विजयदान जी द्वारा राजस्थानी लोककथाओं के पुनर्कथन, उनकी पुनर्रचना के उद्यम का पहला पक्ष जिसमें उनके हस्तक्षेप के बावजूद कथा के लोकत्व की रक्षा हुई है और जो चीजें-नतीजे में सामने आई हैं, उसकी अपनी प्रामाणिक संगति (वैलिडिटी) है। यहाँ यह जोड़ा जा सकता है कि ऐसे किसी उद्यम में कहाँ सिर्फ भाषा और शैली को समेटता पुनर्कथन समाप्त होता है और कहाँ मूलकथा की वस्तु को भी प्रभावित करती पुनर्रचना शुरू होती है। इसका पक्का निर्धारण और सीमांकन वैसे भी मुश्किल है और मूल कथा के अभाव में पाठक द्वारा उसका किया जाना तो लगभग असंभव है- सिर्फ लेखक ही इसे जानेगा।

इन सीमाओं के अन्तर्गत अब बात दूसरे पक्ष की। इसके लिए हम पहले ‘फुलवाड़ी’ के भाग 14 में सम्मिलित ‘डावड़ी रौ जमारौ’ (दासी की जूँ) की चर्चा करेंगे। चूँकि जो लोककथा (या लोककथाएँ) 133 पृष्ठों में फैली इस महत्वाकांक्षी, लम्बी कहानी या उपन्यास के मूल में है, वह राजस्थान के लिए बहुत जानी-पहचानी और बहुकथित, बहुव्यवहृत है। इसलिए भूमिका के रूप में पहले हम बात करेंगे इस कथा के कुछ अन्य संस्करणों, कुछ अन्य ढंगों से किये गये उसके उपयोग की। अपने आप में यह अध्ययन शायद लोककथाओं के, लोक में परिभ्रमण और विभिन्न अवतरणों-संस्करणों के बारे में हमारा कुछ ज्ञानवर्धन करने वाला सिद्ध हो।

उमादे, ‘रूठी रानी’ की कथा काफी कुछ ऐतिहासिक है और साहित्यिक तथा ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर साधना रस्तोगी ने उसे ‘राजस्थान भारती’, भाग 12 अंक 1, मार्च 1969 में प्रस्तुत किया था। इस विवरण में से निम्न मुख्य कथा-सूत्र उभरते हैं-

1. जैसलमेर के रावल लूणकरण की बेटी उमादे का विवाह 1536 ई. में जोधपुर के प्रतापी शासक राव मालदेव (शासनकाल 1531-1562 ई.) से हुआ।

2. उमा के पीहर में भारमली नाम की सुन्दर दासी थी, जिस पर शायद रावलजी मोहित थे, इसलिए उसे उमा के साथ दहेज में जोधपुर भेज दिया गया।
3. लेकिन पीहर और फिर ससुराल में भी मालदेव की भारमली में आसक्ति देखकर उमा ने आजन्म ब्रह्मचारिणी रहने का प्रण करके पति से अबोला ले लिया।
4. मालदेव ने उमा को मनाने के प्रयास किये लेकिन असफल रहा। हारकर, अंततः उसने झगड़े की जड़ भारमली को बाघा कोटड़िया के पास भेज दिया, लेकिन उमा फिर भी नहीं मानी।
5. लेकिन 1562 ई. में मालदेव की मृत्यु होने पर उमा भी उसके साफे के साथ काठ चढ़ गई।

यह सम्भव है उमा -मालदेव और बाघा-भारमली के दो पृथक आख्यान किसी बिन्दु पर मिलाकर एक कर दिये गए। 1957 में साहित्य संस्थान, राजस्थान विश्वविद्यापीठ, उदयपुर द्वारा प्रकाशित लक्ष्मीकुमारी जी चूंडावत के 'मांझल रात' नामक संग्रह में 'राजस्थानी जूनी (पुरानी) बातां री फहरिस्त' के अंतर्गत 'उमादे भटियाणी री बात' और 'बाघो-भारमाली' नाम से दो पुरानी कथाएँ दर्ज हैं। इसी तरह शक्तिदान कवियों के सम्पादन द्वारा सम्पादित और 1964 में थलवट प्रकाशन, बिराई जोधपुर द्वारा प्रकाशित संग्रह 'लाखीणी' में राजस्थानी की कुछ मुख्य बातों की सूची के अंतर्गत 'उमादे भाटियाणी री' व 'वाघै-भारमली री' शीर्षक वाली दो कथाएँ गिनाई हैं। ऐसी दो भिन्न कथाएँ मेरे देखने में अब तक नहीं आई हैं, लेकिन शीर्षकों को देखते हुए लगता है कि इनमें पहली का केन्द्र बिन्दु, सुहागरात में पति मालदेव को एक डावड़ी या गोली (दहेज में आई दासी) के साथ लिप्त पाकर नववधू उमादे द्वारा जीवन भर के लिए रूठ जाना है, जबकि दूसरी का विषय है दानवीर और शूरवीर, बाघा जी धाड़वी (अमीरों को लूटकर गरीबों में धन बाँटने वाला रॉबिनहुड जैसा चरित्र-नायक) का यशगान और उसकी प्रेयसी भारमली के प्रगाढ़ प्रेम का बखान।

साहित्य संस्थान द्वारा ही 'मांझल रात' से काफी पहले प्रकाशित नरोत्तमदास स्वामी, अपने द्वारा संपादित 'राजस्थानी

बातां' भाग 1 में 'वात उमादे भटियाणी रे' के प्रारंभ में कहते हैं- 'उमादे रूठी रानी के नाम से प्रसिद्ध है। कहानी में उसके रूठने का कारण बताया गया है। प्रसंगवश एक सुप्रसिद्ध प्रेम-जोड़े की अनेक घात-प्रतिघातों से भरी कथा भी आ जाती है। कथा संक्षेप में यून है- नवानगर के जाम रावल को भारमली जंगल में पड़ी मिली। उन्होंने उसे लाड़-प्यार से पाला। वयस्क होने पर उसे आसा चारण माँग कर ले गया। आसा से उसे बाघा कोटड़िया ने ले लिया। बाघा -भारमली में बड़ा प्रेम हुआ। छल करके जोधपुर नरेश राव मालदेव ने भारमली को बुलवा तो लिया, लेकिन वह कैद से निकल भागी। उधर उमादे को जब यह पता चला कि बारी के मुताबिक, उसके महल में आने की बजाएँ उसके पति मालदेव भारमली की टोह में गए हैं, तो उसने रूसना ले लिया। लेकिन मालदेव के देहावसान के बाद अग्नि में प्रवेश करके उसने भी प्राण त्याग दिये।

यही कथा, बिल्कुल इन्हीं शब्दों में, मनोहर शर्मा और श्रीलाल नथमल जी जोशी द्वारा संपादित और साहित्य अकादमी, दिल्ली द्वारा 1984 में प्रकाशित, 'राजस्थानी वात-संग्रह' में भी मिलती है। इस संस्करण से एक अतिरिक्त जानकारी यह मिलती है कि यह कथा अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर के संग्रह से ली गई है, जहाँ वह क्रम सं. 10.6.117 पर दर्ज है। इस संस्करण में भी मूल कथा के कुछ भिन्नता लिए हुए अन्य प्रचलित रूपों की भी उपलब्धता सम्बन्धी दो संकेत हैं- एक, कोई-कोई यह भी कहते हैं कि (भारमली) सोनगरों की लड़की थी जो जोधपुर आई। जोधपुर से जैसलमेर गयी और वहाँ के रावल ने उसे आसा चारण को दिया; और दो, कोई यह भी कहते हैं कि रानी उमादे ने रूसना कस्तूरी नामक दासी के कारण लिया था (भारमली के कारण नहीं)।

... जाग्यो-जाग्यो भंवर सुजान थे
तो घर जाबो ये उमादे रानी आपकै।
म्हारै तो म्हालां ए किस्तूरी दासी रम रही..।

('मारवाड़ी गीत-संग्रह', भगवती प्रसाद दारूका, बम्बई पुस्तक भंडार, कोलकता
1959 भाग 1 पृ. 44-45)

लेकिन डॉ. मनोहर शर्मा के अभिभाषण, 'राजस्थानी कथागीतों का पर्यालोचन' में आये इसी गीत के उद्धरण में,

‘किस्तूरी’, ‘भारमली’ हो गई है। ‘अगणै मनावै पधारिया जी नौकूटा-राव/ भटियाणी राणी खोल किंवाड़ वारी ए ऊमादे राणी/ थारे तो महलां रम रही जी भारमली जी राज/म्हारो नांय मनावो जी होय, वारी ए ऊमादे राणी।’ (‘परम्परा’, राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी, जोधपुर, भाग 53-54, 1980 पृ. 61) ‘वरदा’ वर्ष 5 अंक 2, अप्रैल 1962 में लक्ष्मीकुमारी जी ने उमादे भटियाणी सम्बन्धी एक दूसरा सम्पूर्ण गीत दिया था। मूल गीत में डावड़ी का नाम नहीं आता, लेकिन गीत के अर्थाव में भारमली नाम जोड़ दिया गया है।

इस गुंजाइश भरे परिप्रेक्ष्य में अब हम विचार कर सकते हैं लक्ष्मीकुमारी चूडावत की ‘अमोलक बातां’ में सम्मिलित कथा ‘बाघो-भारमली’ पर।

कथा के इस संस्करण का कथासार यह है- भारमली जैसलमेर के गढ़ के बाहर पड़ी मिलती है। रावल लूणकरण उसे अपनी 2-3 वर्ष की बेटी उमा के साथ ही लाड़-प्यार से बड़ा करते हैं। उमादे के विवाह योग्य होने पर रावलजी उसे जैसलमेर के लिए खतरा बने, जोधपुर के शासक मालदेव को ब्याहना तय करते हैं। बारात आने पर उमा को, मालदेव को चंवरी में ही मार डालने सम्बन्धी अपने पिता के षड्यंत्र की भनक मिलती है तो वह भारमली को भेज मालदेव को आगाह करती है और रावलजी विफल मनोरथ रहते हैं। उमा मालदेव के साथ अजमेर पहुँचती है। दहेज में डावड़ी (गोली, दासी) के रूप में दी गई भारमली भी साथ जाती है। गणगौर के दिन रावजी उमादे के महल में पधारते हैं तो उमा आप बिराजो में कपड़े पहन कर बस अभी आई- यह संदेश लेकर भारमली को राव के पास भेजती है लेकिन मालदेव, उमादे के आते-आते ही, तेरी बाई साहब न सही, तू ही सही कहकर भारमली को अपनी अंकशायिनी बना लेता है। उमादे यह दृश्य देखती है तो काले कपड़े पहनकर, रावजी से रूठकर जोधपुर और फिर अपने जागीरी गाँव जा बैठती है। रावजी उसे मनाने ईसरदास जी को भेजते हैं तो उमादे मान जाती है लेकिन मार्ग में आसा चारण यह दोहा पढ़ता है-

मान रखे तो पीव तज, पीव रखे तज मान।

दो-दो गयंद (हाथी) न बंधही, एके खंभू ठाण (थान)।

और उमादे कभी न लौटने के लिए लौट जाती है।

(एक संदर्भ यह भी जताता है कि आसा चारण ने यह कृत्य उमादे की सौतों के कहने पर, उनके हित में किया था।)

यहाँ उमादे कथा से लुप्त हो जाती है और एक जबर्दस्ती के लगते मोड़ के साथ, कुलच्छिनी सी दिखती भारमली, सुलच्छिनी होकर कथा के उत्तरार्ध पर छा जाती है। कथा के अनुसार, भारमली जोधपुर से जैसलमेर आ जाती है और वहाँ राजकुमार पर डोरे डालने लगती है। इस पर कुंवरजी की दूसरी पत्नी, अपने भाई बाघा कोटड़िया के हाथों भारमली का अपहरण करवा देती है। लेकिन इसके बाद बाघा-भारमली के बीच सच्चा प्रेम पनपता है। मालदेव आसा चारण को भारमली को फुसला कर ले जाने के लिए भेजता है तो बारहठ जी इस जोड़े के गुणों पर रीझकर वहाँ रम जाते हैं। बाघ जी की मृत्यु के उपरांत भारमली भी काठ चढ़ जाती है और आसाजी भी बाघा की दानवीरता का जस गाते-गाते देह त्याग देते हैं। (आसा द्वारा स्वयं को बाघा का जस गाने से न रोक पाने के कारण रात्रि के चार प्रहरों में चार लाख गवाँ देने की जनश्रुति राजस्थान में बहुप्रचलित है।)

सुविधा के लिए, अनूप संस्कृति पुस्तकालय वाले संस्करण को एक व लक्ष्मीकुमारी जी वाले संस्करण को दो से अभिहित करें तो दोनों की तुलना करने पर कई महत्वपूर्ण पक्ष उभर कर आते हैं-

एक - एक के बारे में कयास है कि शायद उमा की कथा में बाघा-भारमली की कथा ‘प्रसंगवश’ आ गई है और एक स्थानापन्न मान्यता का तो स्पष्ट उल्लेख है ही कि कुछ के अनुसार उमा के सुख में पलीता लगने का बानक बनने वाली डावड़ी भारमली नहीं, कोई कस्तूरी थी। लेकिन दो में बिना किसी शकोशुबहे के दोनों कथानकों का संश्लेष है।

दो - एक में उमादे और मालदेव के बीच भारमली की अप्रिय उपस्थिति सिर्फ परोक्ष है और वह निर्दोष है। दो में पहले उसे पूरी तरह राजी नहीं तो कम से कम नीमराजी और कोई विशेष प्रतिरोध न करने वाली शिकार बताया गया है और फिर जैसलमेर के कुंवर वाले प्रसंग में तो वह पूरी पंश्वली बना दी गई है।

तीन - एक के मुकाबले दो काफी अलग और विस्तारित

है। नवानगर की जगह जैसलमेर आ गया है। रावलजी के षड्यंत्र की सूचना भारमली के माध्यम से मालदेव को देने जैसी असंभाव्य बात जोड़ दी गई है, जबकि साधना रस्तोगी द्वारा दिये गए विवरण में यह कार्य एक पुरोहित करता है। यदि दो, अब तक अचर्चित रही और एक से भिन्न किसी मूल लोककथा पर आधारित नहीं है तो उसे लक्ष्मीकुमारी जी द्वारा, कला और कल्पना द्वारा किये गए संस्कार का ही फल मानना होगा।

चार – दो के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में एक महत्वपूर्ण अंतर लक्षित किया जा सकता है। उत्तरार्ध यानि भारमली-बाघा-आसा प्रसंग में मूल कथा में जैसे अनेक प्रामाणिक से लगते पद्यांश आते हैं। जबकि पूर्वार्ध यानि मुख्यतः उमादे-मालदेव प्रसंग में उनका अभाव है। संकेत वही की शायद ये दो भाग दो भिन्न मूल कथाओं या स्रोतों से उठाये गए हैं।

तीसरे स्थान पर चर्चा की जा सकती है कथा के एक और संस्करण, कवि सत्यप्रकाश जोशी की 1974 में हिन्दी साहित्य मंदिर, जोधपुर द्वारा प्रकाशित काव्यकृति 'बोल भारमली' की। (केन्द्रीय साहित्य अकादमी ने 1997 में पुस्तक का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित किया था।) इस कव्य में जोशी ने भारमली के माध्यम से नारी की पूर्ण पुरुष के लिए चाह और प्रेम में काम की अनिवार्य, महत्वपूर्ण उपस्थिति की कथा कही है। भारमली दासी की भाँति रखी जाती है और बचपन से लोलुप पुरुषों की वासना का शिकार बनती है। उमादे की सुहागरात में अचानक खुद को मालदेव की बाहों में पाकर भारमली पहले तो घबराती है लेकिन फिर, 'उबाल पर आ गयी/ विगत सोलह वर्षों की संतप्त ईर्ष्या' और उसे लगा कि 'बदले की रात दुबारा नहीं आयेगी- मैं रानी क्यों नहीं बन सकती?' इसके बाद दासी भारमली को रानी जैसा रुतवा तो मिल गया, लेकिन फिर शीघ्र ही उसका मालदेव से मोहभंग हो गया। 'संहारधर्मी कहाँ समझते हैं सूक्ष्म भोग का स्वर्गिक मर्म।' अंततः बाघा के रूप में भारमली को मनोवांछित पूर्ण पुरुष और आदर्श प्रेमी मिलता है। दो अर्धमंडल मिलकर एक वृत्त बन जाते हैं। इस रूपक के माध्यम से कवि, पुरुष-विरचित युग में नारी काया की पंछी के कर्म और त्रास को शब्द देता है। नारी-मुक्ति का संदेश देते कवि का आधुनिक उद्घोष यूँ चलता है- 'घर-घर बैठी हैं आधी-अधूरी नारियाँ/...और आँगन-आँगन उत्पात मचाते/ ये प्रेमिकाओं के अपूर्ण पुरुष/..मत सकुचाओ

अपने पुरुष की खोज में/ नारियों हारो मत/ एक बार दो बार सौ बार/ परखो भोग में खरा-खोरा/ और अंततः करो जिसका वरण/ कर दो उसे सम्पूर्ण...' पुस्तक में नारी समलैंगिकता, नारी की देहयष्टि और स्त्री-पुरुष के दैहिक मिलन सम्बन्धी कुछ खासे खुले और साहसी विवरण भी हैं।

पुस्तक की भूमिका में सत्यप्रकाश जी बताते हैं कि इसे लिखने का विचार उनके मन में लक्ष्मीकुमारी जी की कथा 'बाघो-भारमली' पढ़कर आया और सन् 1969 में बोरून्दा में बैठकर इसका पहला अध्याय उन्होंने लिखा।

सत्यप्रकाश जोशी की 'बोल भारमली' के संदर्भ में ही थोड़ी चर्चा की जा सकती है राजस्थान के सुपरिचित नाटककार स्व. हमीदुल्ला द्वारा शायद 1977 में लिखित नाटक, 'ख्याल भारमली'। (शब्दकार, दिल्ली, छात्र संस्कार, 1994) नाटक की भूमिका में लिखते हैं- 'भारमली की कथा राजस्थान में सामंती काल में नारी के शोषण, उसके अन्तर्मन की वेदना और वर्ग संघर्ष का एक जीवन्त दस्तावेज है, जिसके आईने में आज के चर्चित विषय नारी-स्वातंत्र्य को भी देखा जा सकता है।' स्पष्ट है कि हमीदुल्ला ने जोशी जी की 'बोल भारमली' भी पढ़ी है और लक्ष्मीकुमारी जी की 'बाघो-भारमली'। लेकिन एक ओर तो नाटकीयता लाने के लिए वे दो अवसरों पर अपने पात्रों का जबर्दस्ती आधुनिक काल के विद्रूपों में प्रक्षेपण करते हैं और दूसरी ओर भारमली के साथ हुए अन्याय को अतिरिक्त धार देने के लिए, बाघाजी को भी छोड़ चुकी भारमली को, स्वयं द्वारा सिरजे गए पात्र, ढोंगी स्वामी जी और मालदेव के बीच भोग्या गेंद बनाकर छोड़ देते हैं। महत्वपूर्ण यह है कि सम्बन्धित लोककथा और राजस्थानी परिवेश से परिचित व्यक्ति को तो यह सब खलेगा, लेकिन सामान्य बाहरी दर्शक को ये भड़ँतियाँ रोचक लग सकती हैं। हालाँकि उनसे स्वयं नाटककार के मूल मंतव्य और नाटक के इच्छित संघात को भी ठेस ही लगती है। जोशी जी भारमली का बाघा से मिलन कराकर भारमली की पूर्ण पुरुष की खोज को एक स्वाभाविक परिणति दे देते हैं, लेकिन यहाँ भारमली की पूरे वर की तलाश अमूर्त रहते संकरिया पर भी न टिक पाकर भूलुंठित, मर्दित हो जाती है। त्रासदी यह है कि किसी को यह भी लग सकता है कि यह चंचल, रंगरसिया, निर्लज्ज भारमली के किये का उचित प्रतिसाद है।

और इन सबके प्रकाश में अब बात देथाजी की 'डावड़ी रौ जमारौ' की। कथा का सार-संक्षेप यूँ है-

एक - उमादे और भारमली दो शरीर एक प्राण हैं। भारमली की कामना है कि उसे उमा के दहेज में डावड़ी (गोली, दासी) के रूप में दिया जाए, जबकि उमा विवाह के बाद अपनी प्रीत और पति की सेज में भी भारमली को भागीदार रखने का इरादा रखती है और इस मंसूबे के फलने की खातिर ही जोधपुर के शासक मालदेव से विवाह के लिए राजी होती है।

दो - भारमली को बड़े लाड़-प्यार से पाला जाता है, उसे दूसरी बेटी माना जाता है। फिर भी भारमली के मन में एक टीस है और वह वह जानती है कि उमादे राजकुमारी है, जबकि वह स्वयं केवल एक डावड़ी है। उमादे का भाई राजकुमार, भारमली के साथ अनाचार करता है तो दोनों को बड़ा आघात लगता है और वे दोनों गढ़ छोड़कर कहीं चले जाने को उद्यत हो जाती हैं। उमादे के पिता रावलजी जो उमादे को मालदेव को ब्याहने का मंसूबा पाले हुए हैं, नकली स्नेह दिखाकर दोनों को रोकते हैं।

तीन - मालदेव उमा को ब्याहने आता है, लेकिन इधर रावलजी मालदेव को चंवरी में मारकर इस जबर खतरे से एक बारगी निबट लेने की योजना बनाये बैठे हैं। उमा की विश्वस्त डावड़ी केसर को इस षड्यंत्र की भनक लग जाती है तो उमा और केसर भारमली को राईका युवक के वेश में जनवासे में भेजकर मालदेव को आगाह कर देती हैं।

चार - रावलजी विफल मनोरथ रहते हैं, लेकिन विदा के समय श्वसुर और 'जामाता बीती ताहि बिसार दे' की नीति अपनाते हैं। मालदेव जान लेता है कि डावड़ी के रूप में जा रही भारमली ही राईका युवक बनकर आई थी। वह उसके सौन्दर्य और साहस का कायल हो जाता है और उमादे से मिलने से पहले ही भारमली से मिलने का इच्छुक हो जाता है।

पाँच - उमादे को मालदेव का बुलावा आता है। उमादे ने तय कर रखा है कि वह पहले मौके पर ही अपनी प्रीत में भारमली की भी पांती रखने की अपनी मंशा जाहिर कर देगी। उसे भरोसा है कि पाँच-छः महीने या एक वर्ष बीतते-बीतते वह मालदेव को इस मामले में कोई दुभांत न रखने के लिए राजी कर

लेगी। लेकिन फिर वह मालदेव की 'परीक्षा' लेने के लिए पहले भारमली को मेवे और इत्र के साथ मालदेव के पास मनुहार करने और उसको इत्र लगा देने के लिए भेजती है।

छह - मालदेव भारमली को देखकर आपा खो बैठता है, जोरामर्दी करता है। भारमली पाँच-छः महीने रुकने की प्रार्थना करती है तो मालदेव कहता है जब पांती रहनी ही है तो इसमें पहले -पीछे का क्या सवाल?

सात - मालदेव अजमेर हार जाता है और सब लोग जोधपुर आ जाते हैं। उमादे मालदेव से अबोला ले लेती है। मालदेव को इसकी तो ज्यादा चिंता नहीं होती है, लेकिन भारमली को लेकर वह पश्चाताप में डूब जाता है और उसमें अविश्वसनीय परिवर्तन आ जाता है। अंततः भारमली पाला बदल लेती है- 'कान्हा' और 'राधा' का मेल हो जाता है। उमादे जोधपुर छोड़कर नारनौल चली जाती है।

आठ - फिर, भारमली-मालदेव से ऊब जाती है। जैसलमेर से बुलावा आने पर वह जैसलमेर जाती है, जहाँ रानी जी से उससे छुटकारा पाने के लिए राजकुमार के साले बाघा कोटड़िया को बुला रखा है। भारमली बाघा के साथ कोटड़ा चली जाती है। पहले तो वह वहाँ से भी भागने की सोचती है, लेकिन फिर बाघा के गुणों और पौरुष पर रीझकर उसके घर में घूँघट काढ़ती है (विवाह के लिए राजी हो जाती है)।

कथा के इन सब संस्करणों को थोड़ा विस्तार से लेने के पीछे हमारे दो निश्चित उद्देश्य हैं- एक तो यह दिखाना कि विभिन्न हाथों में (या विभिन्न कंटों में) एक ही कथा कैसे अलग-अलग रूप ले सकती है और दूसरा यह दिखाना कि क्या (या क्या-क्या) होता है- जब हम किसी कथा का पुनर्कथन या पुनर्चाव किसी उद्देश्य-विशेष की पूर्ति के लिए करते हैं। यहाँ कथा के संस्करण संख्या एक और दो के पीछे ऐसा कोई उद्देश्य नहीं है- नंबर एक में कथा बीज मात्र है तो नंबर दो में संस्कारित भाषा में कथा के एक भिन्न रूप को विस्तार भी दे दिया है। लक्ष्मीकुमारी जी की डावड़ी-डावड़ी ही है। यह समस्या जरूर है कि पूर्वार्ध की नायिका उमादे, उत्तरार्ध में फालतू बन जाती है और डावड़ी नायिका। इस समस्या का हल वे चुपचाप उमादे का पटल से विलोपन करने में ढूँढती हैं।

लेकिन 'बोल भारमली' में सत्यप्रकाशजी के लिए दबे कुचले वर्ग की प्रताड़ित सदस्य होने के अलावा भारमली कामुकता से परे काम के स्वर्गलोक की खोज करती है और उस दृष्टि से मालदेव को अपूर्ण पाकर बाघा के रूप में 'एक योगी समान उदार त्यागी, कवि-संवेदना के स्वामी, सबल पुरुष' का संधान करती है और उस खोज में सफल होकर पूर्णता प्राप्त करती, इतिहास में जाकर बोलती आज के वर्जनाहीन समाज की प्रतीक-नारी-नायिका है। यहाँ उमादे मूलतः भारमली की कथा बढ़ाने का माध्यम है, भारमली सिर्फ डावड़ी न रहकर एक महान आदर्श को अपनी हथेली पर धारण करने वाली ऊर्ध्वस्थ महाशिव की ऊर्ध्वगामिनी महामाया है।

'ख्याल भारमली' में हमीदुल्ला भी उद्देश्य लेकर चले हैं, लेकिन वे अपने ट्रीटमेंट को ऐसी उदात्तता नहीं दे पाये हैं। हमीदुल्ला के लिए भारमली की कथा सामन्ती काल में नारी के शोषण की कथा है, जिसके आईने में आज के चर्चित विषय नारी स्वातंत्र्य का दिग्दर्शन उन्हें कराना है। इसके लिए भारमली का अल्पजीवी उत्कर्ष दिखाने के बाद फिर उसके मोहभंग के लिए पहले वे उत्तराधिकारी की चाह का कथा से बाहर का मुद्दा खोजते हैं और फिर उसके प्रति अन्याय को और धार देने के लिए, फिर एक बार कथा का अतिक्रमण करते हुए वे भारमली का बाघा से भी अलगाव करा देते हैं।

इन सबके प्रकाश में अब बात 'डावड़ी रौ जमारौ' की। जाहिर है कि विजयदान जी ने 'बाघो-भारमली' भी पढ़ी है और 'बोल भारमली' भी, हालाँकि प्रेरणा उन्होंने 'बोल भारमली' से ज्यादा ली है। अंतर मूलतः दो है- 'बोल भारमली' की भारमली दासी की तरह पलती है और झेलती है, लेकिन 'डावड़ी रौ जमारौ' की भारमली दूसरी बेटे की तरह पलती है और सिर्फ कुंवर जी की कुचेटा का शिकार बनती है। दूसरे, 'भारमली' में भारमली की संचित, संतप्त ईर्ष्या और कुंठा तुरन्त उफान पर आ जाती है, जबकि 'डावड़ी रौ जमारौ' में भारमली इसके लिए काफी ऊहापोह से गुजरती है और विजयदान जी इसके लिए 40 पृष्ठ लगाते हैं, क्योंकि उन्हें 'साथिन' के प्रति उमादे के स्नेह और उमादे के माहात्म्य की भी रक्षा करनी है। इसके बावजूद वे उमा के साथ न्याय नहीं कर पाते और कथा उसको एक फालतू पात्र बनाकर छिटका देती है। मूल कथा या कथाओं के दो मुख्य

चरमबिंदु और आकर्षण हैं- एक, उमादे का पति से उम्रभर के लिए अबोला ले लेना और दो, बाघा-भारमली का प्रगाढ़ प्रेम। यहाँ उमा का रूठना सतही तौर पर ले लिया गया है और इस अपूर्व और नाटकीय घटना को और चमत्कारिक बनाने वाले ईश्वरदास और आसाजी वाले प्रसंग भी नदारद हैं। इसी तरह, बाघा-भारमली की प्रीत के परवान चढ़ने और आसाजी द्वारा बाघा को बिड़दाने वाले प्रसंग, जो 'बाघो-भारमली' के मुख्य आकर्षण हैं, भी छोड़ दिये गए हैं। इनकी बजाय, और बहुत-सी बातों को उबाऊ विस्तार दिया गया है- विस्तार बढ़ाने के लिए हर सूत्र को रबर की तरह खींचा गया है।

सत्यप्रकाश जी भारमली के विद्रोह को युक्तियुत्ता प्रदान करने के साथ-साथ उमा के साथ भी न्याय करने में सफल रहते हैं। हालाँकि भारमली के मालदेव से मोह भंग का मामला उनके यहाँ भी जरा मुश्किल से गले उतरने वाला है। लेकिन बिज्जी, भारमली को 'साथिन' बनाने के फेर में, न तो उमा के साथ न्याय कर पाये हैं, न भारमली के पाला बदलने को विश्वसनीय बना पाये हैं और भारमली के मालदेव से मोहभंग का मामला तो यहाँ और भी भुरभुरी जमीन पर टिका है।

विजयदान जी का यह महत्वाकांक्षी और विस्तारित प्रयास कुछ और टिप्पणियाँ भी आमंत्रित करता है-

एक - हमीदुल्ला 'ख्याल भारमली' में, प्लॉट की तलाश में बाहर से लोककथा की ओर जाते हैं- वे लोककथा के संसार का भीतर से साक्षात्कार नहीं कर पाते और इसीलिए उनके दावे और आकांक्षा के विपरीत, उनका नाटक, लोकनाटक जैसा नहीं बन जाता। विजयदान जी लोककथा संसार के अंदर ही उगे-बढ़े पगे हैं। लेकिन यहाँ वे भी लोककथा से बहुत दूर निकल आते हैं, मानों वे लोककथा का पुनर्कथन नहीं कर रहे, किसी मुंबईया फिल्म के लिए पटकथा लिख रहे हैं।

दो - फिर मानो इसी उद्देश्य से वे कथा में रहस्य-रोमांच पैदा करने के लिए 'बोल भारमली' की तर्ज पर भारमली को पुरुष वेश में मालदेव के पास भेजते हैं। फिल्म बननी है तो नारी-देह का प्रदर्शन भी जरूरी है- भारमली तालाब में नहाकर गीले कपड़ों में बाहर निकलती है तो रूम्पण, मालदेव की वरिष्ठ डावड़ी का मन होता है कि भारमली इसी हाल में महाराजा के

पास चली जाए तो महाराजा चकन-बकन हो जाएंगे। (पृ. 206)
पृ. 213 पर भी भारमली के उधाड़े डील के दर्शन का प्रबन्ध है।

तीन - फिल्म के अलावा, चौकाने वाली प्रगतिशील आधुनिकता के भी तकाजे हैं और इसके लिए कई जुगुप्सा पैदा करते प्रसंगों की आयोजना है। अंतरंगता के एक पल में अज्ञेय के उपन्यास 'नदी के द्वीप' में नायिका नायक से कहती है- मुझे लो। शायद उसी से प्रेरणा लेकर यहाँ एक भौंड़े ढंग से कुँवर जी, भारमली के निष्कल '(दूध) लिरावो' को उस अर्थ में लेते दिखाये गए हैं। नारी समलैंगिकता का संकेत है- गीत वस्त्रों वाले प्रसंग में खुद रूक्मण मुश्किल से अपने मन को अंकुश में रख पाती है (पृ. 206)। लैंगिक स्वातंत्र्य के पक्ष में खाद्य-अखाद्य में भेद करने को निरर्थक बताया गया है (पृ.121)। केसर को-उमादे को मालदेव से शादी करने के लिए राजी कराने के लिए रावल जी उसे सेज रमाते हैं, बख्शीश में गहना-गांठा भी देते हैं (पृ. 121-122)। भारमली, मालदेव से मिलने के लिए पहल करती है और फिर दोनों के लिए रात और दिन एक जैसे हो जाते हैं (पृ. 208-209)। ऐसा नहीं है कि जिदंगी में यह सब होता नहीं है, लेकिन जब हम स्तरीय साहित्य में यह सब लाते हैं तो कहने का उद्देश्य और कहने का ढंग भी महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं।

यह उद्देश्य और कहने के ढंग की बात बिज्जी की ही एक और मशहूर कहानी 'न्यारी-न्यारी मरजाद' ('फुलवाड़ी' भाग 12) के प्रकाश में बेहतर समझी जा सकती है। कथा पुरुषों द्वारा रचे समाज में नारी की हीन स्थिति के परिप्रेक्ष्य में यह प्रश्न उठाती है कि विवाहित पुरुष तो चाहे जहाँ मुँह मारे उसको छूट है, लेकिन उसकी स्त्री ऐसा कुछ सोचे भी तो वह कुल्टा, कलकिनी - दोनों की अलग-अलग मर्यादाएँ हैं। फिर, स्त्री-पुरुष की समानता का बिगुल बजाते हुए कथा स्त्रियों को, विद्रोह करके इस थोपी हुई मर्यादा का मर्दन करते और विवाहेत्तर सम्बन्ध बनाते दिखाती है। जाहिर है, इस क्रम में बहुत सा कीचड़-कांदा सामने आता है, बहुत-सी सड़ांध उठती है, कहीं-कहीं अतिरेक भी लगता है, विश्वसनीयता को ठेस भी लगती है, लेकिन बिज्जी के पास एक बड़ा औचित्य-प्रतिपादन है- मवाद है तो चीरा लगाना ही है, पेट के मैल को बाहर लाना ही है, इस अन्यायपूर्ण मर्यादा-द्वैत का भंजन करना ही करना है। 'डावड़ी रौ जमारौ' में ऐसा कोई औचित्य नहीं है और सस्ती, गिलगिली बातें यूँ ही राह चलते फिकरों की तरह उछाल दी गई हैं।

चार - लेकिन कथा का सबसे घिनौना और बेसिर-पैर का पक्ष तो यह है कि एक किशोरी के (यहाँ एक राजपूत राजकुमारी) विवाह के बाद पति के साथ अपनी प्रीत, अपने सुहाग में अपनी एक साथिन को भी पांती रखना चाहती है, बल्कि विवाह ही इस इच्छा की पूर्ति के लिए करती है। लेकिन पति से प्रथम मिलन की बेला में स्वयं न जाकर पति की परीक्षा के लिए पहले अपनी उस साथिन को भेजती है और पति के परीक्षा में असफल रहने पर उससे जीवनभर के लिए अबोला ले लेती है! इसे भी प्रगतिशील दिखाने और आधुनिक खुलेपन की वर्जनाहीनता दर्शाने सम्बन्धी लेखक के हौसले का दिग्दर्शन माने या कुछ और, जो भी हो, यह अनोखी सूझ राजस्थान के लोककथा और किंवदंती जगत के एक हृदयस्पर्शी आख्यान का कूंडा कर छोड़ती है और उमादे के भीष्म जैसे त्याग के माहात्म्य को ओछा, हल्का और तर्कहीन बना देती है। दूसरी ओर यहाँ भी, लक्ष्मीकुमारी जी को 'बाघो -भारमली' की तरह भारमली के (मालदेव से ऊबकर) जोधपुर से कोटड़ा पहुँचने का कथाक्रम, भारमली-मालदेव के सच्चे मिलन के लिए इतना तूमार बाँधे जाने के परिप्रेक्ष्य में अचानक और अविश्वसनीय लगता है।

उमादे-मालदेव-भारमली-बाघा की कथा या कथाओं का विन्यास आम लोककथा के मुकाबले कम झींणा है और यहाँ मूल प्रश्न उसके चरमबिन्दुओं को सही ढंग से उभारने का है। लेकिन 'फुलवाड़ी' के भाग 10 में सम्मिलित 'आसमान जोगी' के पुनर्कथन के साथ एक आम लोककथा के भोलेपन और उसकी शंका के निर्लंबन सम्बन्धी, क्षमता के निर्वहन सम्बन्धी प्रश्न भी जोड़े जाते हैं। कथा बहुत सामान्य -आततायी जोगी ने अपने आसपास महल में हजारों अबलाओं का हरम बना रखा है। वह एक सेठ की बेटी और उसकी सात भावजों का भी अपहरण कर लाता है। एक कुम्हारिन जो आसमान महल की पनिहारिन है, उसकी मदद से सेठ के सात बेटे इन आठों को छुड़ाने का असफल प्रयत्न करते हैं। अंत में कुम्हारिन का बेटा उस तोते को उठा लाता है, जिसमें जोगी का जीव रहता है और उसे मारकर जोगी को ठिकाने लगाता है। सेठ की बेटी की शादी इस युवक के साथ हो जाती है।

जिस ढंग से बिज्जी इस कथा को बढ़ाने और बोझल-पार्थिव बनाते हैं, उससे लोककथा की भोली, झिलमिल

विश्वसनीयता समाप्त होती है। दादी की कहानी में जिस आसमान महल का आभास वहाँ दूर कुहासे से भरे गगन में स्वप्नवत कौंधता है, यहाँ जमीन से ही नहीं उठ पाता- कंदील को लालटेल क्या, गैस का हण्डा बना दिया गया है। दूसरी ओर वह एक उबाऊ और नकली बात का बतंगड़ व आधुनिक कथा की पैरोडी बन जाती है। सारी आधुनिकता धरी रह जाती है, जब हम अपनी नायिकाओं के पत की रक्षा के लिए उन्हें छः महीने की मोहलत का विशेषाधिकार दिलवाते हैं। बाकी सारी बंदिनियाँ तो फिल्म की एक्स्ट्रा जैसी हैं, उनके पत की क्या चिंता करनी। उधर आधुनिकता के नाम पर वहाँ भी जुगुप्सा जगाते अनेक प्रसंग हैं।

1. ऋतुमती घोड़ी और गाय को यह ख्याल नहीं होता कि कौन-सा घोड़ा या कौन-सा सांड है- यह लफड़ा तो सिर्फ मनुष्यों में है।
2. कुम्हारिन के घात करने की आशंका के निषेध के लिए जोगी उसे भी सेज रमाता है- एक बार सेज चढ़ी स्त्री फिर छल नहीं करती ...उमर जरूर थोड़ी ज्यादा है, लेकिन अलग-अलग उमर का स्वाद भी तो अलग-अलग होता है...मीठे के बाद चरपरे की चाहत तो होती ही है..।
3. जोगी कहता है कि नयी स्त्री के साथ लगता है कि कुछ नया होगा, लेकिन सेज में तो वही एक सी बात रहती है.. हान्डी भले ही सोने की हो, ढक्कन खुलते ही कोई आनंद नहीं।
4. छः महीने की मोहलत समाप्त होते-होते सेठ की बेटी चिंता करती है कि जोगी तो सूरज के उजास की भी शंका नहीं करता, तड़के ही मनमर्जी करेगा..।

यदि 'आसमान जोगी' आधुनिकीकरण के खतरे दिखाती है तो 'नागण थारौ बंस बधै' ('फुलवाड़ी' भाग 10) उसकी व्यर्थता का उदाहरण है। यह एक सामान्य व्रतकथा जैसी कथा है- निपूती माँ पति का मन रखने के लिए झूठ-मूठ का गर्भ रखती है। झूठ-मूठ का पुत्र होना घोषित कर 12 वर्ष तक छल को धकाती है। मजबूर होकर आटे का पुतला बनाकर लड़के के बारात में शामिल होती है। रास्ते में तरस खाकर एक नागिन, नाग

को लड़का बनाकर पुतले को सजीवन करने को मजबूर करती है। विवाह के बाद नाग नववधू में रम जाता है, लेकिन अंततः आभारी दम्पति नागिन को परिवार की बड़ी बहू के रूप में अंगीकार कर लेते हैं।

मूलरूप में बिज्जी ने क्या सुना था, यह जानने का तो आज कोई जरिया नहीं है- वह कथा बहुत ढूँढने पर शायद कहीं मिल भी जाए, लेकिन संभावना तो यही है कि इस चक्कर में एक लोककथा लुप्त हो गई है। अब, संस्कार क्या हुआ है? एक तो शायद बातपोश का प्रसंग जोड़कर कथा को विस्तार दिया गया है। दो जगह अमीर-गरीब की बात डाल दी गई। लेकिन 'आसमान जोगी' की तरह यहाँ भी उसकी सारी असंभाव्यताओं के साथ हमने कथा का पुनर्कथन करके क्या उपलब्धि हासिल कर ली, उसका क्या उद्धार कर लिया, अपने लिए, साहित्य के लिए- कौन-सा शाहकार रच लिया? हम लाभ में रहे या घाटे में? यहाँ भी बाहर वाले और भीतर वाले दृष्टिकोणों का अंतर स्पष्ट है। मणि कौल 'आसमान जोगी' और 'नागण थारो बंस बधै' पर फिदा थे, इन पर फिल्में बनाना चाहते थे- मूल कथाएँ क्या थी, वे गुर्मी और अपने संस्कारित संस्करणों में बढ़ी या घटी, इन सब में मणि कौल को कोई को रूचि नहीं थी। (दृष्टव्यः 'फुलवाड़ी' के भाग 10 के प्रारम्भ में उद्धृत मणि कौल का, 21 मई 1972 का पत्र बिज्जी के नाम।)

यह हुआ दूसरा पक्ष जिसमें लेखकीय संस्कार-पुनर्चाव और आधुनिकीकरण का लेखकीय बोध या तो लोककथा पर भारी पड़ते हैं या निष्फल रहते हैं।

और अंत में, विजयदान जी के लोककथाओं सम्बन्धी उद्यम और कृतित्व तथा लोककथाओं के पुनर्कथन, उनकी पुनर्चना, उसके अनुकूलन, उनमें आधुनिकता के अंतःक्षेपण आदि सामान्य मसलों से सम्बन्धित कुछ निष्कर्ष -

एक - जैसा हम देखते आये हैं, लोककथा के हर सुनाने, हर अवतरण में, जाने-अनजाने, उसका कुछ संस्कार होता आया है। यह संस्कार सिर्फ भाषा और शैलीगत ही रहा हो, ऐसा भी नहीं है। मनोहर शर्मा के शब्दों में- राजस्थान में सामान्यतः कहानी के लिए बात शब्द का प्रयोग होता है। यहाँ तक की लोककथा को भी राजस्थान में बात ही कह दिया जाता है, परन्तु बात की कुछ

अपनी विशेषताएँ भी हैं। लोककथा में जहाँ सब प्रकार की सरलता रहती है, वहाँ बात में बणाव की छटा मिलती है। यह बणाव भी शैलीगत तथा कथानकगत दोनों प्रकार का देखा जाता है। इस प्रकार किसी भी साधारण लोककथा को बणाव के द्वारा बात बना दिया जाता है। ('वरदा' वर्ष 14 अंक 1, जनवरी-मार्च 1971, 'तीन सोरठी बातों' से) इसीलिए, लोक में हमें लोककथाओं के कई-कई संस्कार मिल जाते हैं। ऐसा अब भी हो रहा है। श्री गोविन्द अग्रवाल ने कथाओं को उनके मूल रूप में ही लिपिबद्ध किया, उनके साथ किसी तरह की छेड़छाड़ नहीं की। लेकिन उन्होंने भी कुछ अश्लील कथाओं को श्लील बनाकर पेश करने का प्रयत्न किया।

दो - फिर भी, लोककथाओं के संग्रहण और उनके ज्यों या त्यों क्या मामूली संस्कार के साथ अग्रेषण के कार्य को अवहेलना की दृष्टि से देखना गलत है, बल्कि सामान्य परिस्थितियों में और लोककथा के आम प्रेमी और अध्येता के लिए तो यही आदर्श तरीका है। लोककथा जैसे सदियों बोलती आई है, उसे वैसे ही बोलने दीजिए न- हममें अकल होगी तो हम भी उसे सुनेंगे- गुनेंगे, उसका आनंद लेंगे। उस समय के ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए एक मूल्यवान उपकरण और स्रोत के रूप में इस्तेमाल करेंगे। अपने और अपने वक्त को खास और आधुनिक मानकर लोककथा के अनुकूलन-आधुनिकीकरण का यह हौसला, उपक्रम क्यों? कल को कोई कहेगा कि लोकगीतों को भी आधुनिक भावबोध के अनुकूल बनाओ। जो आज आधुनिक है वह भी कल पुराना हो जायेगा, तब क्या नये सिरे से लोककथा का आधुनिकीकरण करेंगे और करते ही जाएंगे? इस अनवरत नवीनीकरण के क्रम में अंततः कितनी और कैसी 'लोककथा' बच पायेगी? लक्ष्मीनिवास बिड़ला का कथन तवज्जो चाहता है- '...लोकसाहित्य का अपना स्थान है। मुझसे कई लोगों ने कहा है कि इन लोककथाओं को आधुनिक शैली में लिखा जाये तो इनका मूल्य बढ़ जाएगा। (किन्तु) ये लोककथाएँ आधुनिक नहीं हैं, यह तथ्य ही इन्हें एक अलग दर्जा देता है। किसी समाज के विकास की दिशा और उसके स्वरूप को विशिष्टता प्रदान करने वाली परिस्थितियों तथा दशाओं का स्पष्ट चित्र उनकी लोककथाओं में अंकित मिलता है। (मैंने इन कहानियों को) आधुनिक पाठकों के लिए ग्राह्य बनाने की दृष्टि से उनके कुछ हिस्सों को छोड़ दिया

है या उनके वर्णन में कुछ परिवर्तन कर दिये हैं, परन्तु इससे अधिक स्वतंत्रता लेने पर कहानियों की आत्मा और उनकी मनोहारिता ही खत्म हो जाती है।' ('भाग्य की बलिहारी', सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली की प्रस्तावना से।)

तीन - स्वाभाविक, सीमित संस्कार और इरादतन परिष्करण-आधुनिकीकरण के बीच के इस अंतर के परिप्रेक्ष्य में अब बात विजयदान जी के कृतित्व की। जैसा हम देख आये हैं बिज्जी ने शुरुआत लोककथा के भाषा और शैलीगत संस्कार से की थी। लेकिन फिर बात कथाओं के सृजन-संयोजन और उनके अंत और निष्कर्षों में काफी हद तक बदलाव को समेटते हुए ऐसी कथाएँ जो लोककथाओं से एकदम भिन्न व्यक्तित्व रखती हैं- की रचना तक पहुँच गई। हम यह भी देख आये हैं कि विजयदान जी इस कार्य में कहीं सफल हुए हैं तो कहीं असफल भी रहे हैं, लेकिन ऐसा लगता है कि उनके सफल प्रयासों ने अनुवादों, फिल्मीकरण, नाटकीकरण आदि के बल पर जो आभामंडल रचा है, वह कभी-कभी उनके असफल प्रयासों पर भी चस्पा किया जाता रहा है।

चार - सामान्यतः लोक और विशेषतः राजस्थान के लोक और उसकी प्रभूत वाचिक-लिखित सम्पदा से परिचित और अपरिचित लोगों के दृष्टिकोणों के बीच का स्वाभाविक अंतर भी यहाँ प्रासंगिक हो जाता है। मूल लोक संपदा से अपरिचित लोगों के लिए बिज्जी द्वारा रचित संस्करण ही प्रामाणिक व एकमेव थे और वे उनकी आधुनिक संस्कारित कौंध के साथ, गुह्य, विदेशज (ऐसोटैरिक, एजौटिक) सम्मोहन और साथ बहा ले जाने वाली सुरचित, सुललित पठनीयता के सम्मिलन से अभिभूत थे और कभी-कभी उन पर, उनमें अनुपलब्ध गुणों का आरोपण करने को भी तत्पर थे।

पाँच - ऐसी गौरतलब पुनर्रचित लोककथाओं पर ज्यादा ध्यान जाने से विजयदान जी के काम का वह पक्ष जो लोककथाओं के संग्रहण और मामूली संस्कार के साथ उनके पुनर्कथन से सम्बन्ध रखता है- थोड़ा अलक्षित और अचर्चित रह जाता है। इनमें से उन बहुसंख्य छोटी-छोटी कथाओं और चुटकुलों को जो और संग्रहों में भी उपलब्ध हैं- को भी दें तो ऐसी बहुत सी कथाएँ हैं, जिनमें मूल का अतिक्रमण या विलोपन हुए बिना उनका

सम्यक् संस्कार व श्रृंगार हुआ मिलता है। 'फुलवाड़ी' के खण्ड 4 में उपलब्ध 'आसा अमरधन' का उदाहरण पहले दिया जा चुका है।

छह - और अंत में बात कॉपीराइट के थोड़े उलझे हुए सवाल की। लोककथाओं, लोकगीतों, मुहावरों, पहेलियों आदि का कॉपीराइट नहीं होता, क्योंकि वे समाज का सामूहिक उत्पाद मानी जाती हैं। अपने-अपने ढंग से असंख्य लोग, ज्यों का त्यों या किंचित संस्कार के साथ उनको सुनाते या लिपिबद्ध करते आये हैं। वैसे भी, पहले कॉपीराइट का चलन नहीं था और भारतीय लेखक-कलाकार तो नामवरी और प्रसिद्धि की ऐषणा से मुक्ति के लिए खासतौर पर जाने जाते थे। लेकिन अब जमाना बाजारवाद और 'इटैलैक्चुअल प्रॉपर्टी राइट्स' का है, मामला लाखों-करोड़ों का बन सकता है। ऐसे में यदि बिज्जी अपनी उन कथाओं को जिनमें भाषा और शैलीगत संस्कार से आगे बढ़कर उन्होंने कथावस्तु को भी बदलकर कथा को पुनर्रचना की थी, अपनी कहानी कहकर उनका कॉपीराइट ले लेते तो अनुचित न होता। ऐसी कथाओं को छाँटकर अलग करने का काम भी सिर्फ खुद विजयदान जी ही कर सकते थे, क्योंकि जैसा हम कह आये हैं सिर्फ लेखक यह जानेगा कि कहाँ सिर्फ भाषा और शैलीगत पुनर्रचना समाप्त होता है और कहाँ लोककथा के अनेक उपलब्ध संस्करणों में से लेखक द्वारा प्रयुक्त संस्करण की पुनर्रचना शुरू होती है। लेकिन विजयदान जी ने यह छाँटने का काम तो नहीं किया बल्कि वे अपनी कहानियों को भी लोककथाओं के संग्रह में लोककथाओं की तरह छपवाते रहे। यानि जो विशिष्टता और नामकरण-संबोधन हम एक रचना के लिए उसकी लोककथा नहीं रह जाने की शर्त पर अर्जित-विज्ञापित कर रहे हैं, उसी को फिर हम लोककथा भी कह रहे हैं। दुविधा यही है, उलझन यही है। बेहतर होता यदि बिज्जी ऐसी कहानियों को अलग से, विजयदान देथा की लोककथाओं से प्रेरित कहानियों के रूप में छपवाते।

लेकिन जो हुआ है उसमें से यह अप्रिय असंभावना उभरती है- 'बिज्जी की लोककथाएँ'। दूसरे, विद्रूप को और गाढ़ा बनाते हुए विजयदान जी ने लगे हाथ बहुप्रचलित छोटी-छोटी लघुकथाओं

और चुटकुलों समेत अपने द्वारा संग्रहित और सामान्य संस्कार के साथ लिखित और प्रकाशित सभी लोककथाओं पर भी अपना कॉपीराइट घोषित कर दिया, मानो लेखक यह जताना चाह रहा हो कि भले ही और दसियों-बीसियों ने भी इन कथाओं को अपने-अपने ढंग से कहा-छपवाया हो, लेकिन उसका कहना, उसके कहने का ढंग और अंदाज सबसे निराला था। वैसे यहाँ यह 'मानो' का तकल्लुफ भी गैरजरूरी है, क्योंकि बिज्जी ने स्वयं कहा है कि 'यह कहने वाले कि बिज्जी काहे के लेखक हैं, उन्होंने तो परम्परागत लोककथाएँ लिखी हैं...खुद अच्छी तरह जानते हैं कि राजस्थान की लोककथाएँ बहुत लिखी जा चुकी हैं, पर उनका कोई नाम लेना भी नजर नहीं आता। ...चाहे राजस्थानी में लिखूँ चाहे हिन्दी में। मेरी रचनाओं के मर्मज्ञ पहला वाक्य पढ़ते ही भाँप जाते हैं कि यह बिज्जी का लिखा हुआ है। और कथा चाहे जितनी पुरानी हो, उसमें आधुनिक समय की धड़कन और उसके उच्छ्वास घुले रहते हैं। वह आज की कहानी है और आने वाले कल की भी। स्थान और काल का अतिक्रमण करती हुई, स्थान और काल को अपने में समाहित करती हुई ...'

('लोक संस्कृति' वर्ष 1 अंक 8 दिसम्बर 2005, पृष्ठ 84, 87)

तो, कैसा अलग छाँटना, कैसा अलग से छपवाना, छोटी से छोटी, बड़ी से बड़ी तक, ये सब बिज्जी की मौलिक लोककथाएँ हैं और उनका कॉपीराइट बनता है। यह दूसरी बात है कि अगर लोककथा वही रहते हुए सिर्फ उनके कहने-सुनाने-लिखने के ढंग का कॉपीराइट होने लगे तो दादियों -नानियों पर कथा सुनाने और पोते-पोतियों, नातियों-नातिनियों पर कथा सुनने पर कॉपीराइट उल्लंघन के मुकदमें दायर होने लगेंगे, हुंकारा देने की हूँस गले में ही घुट जाएगी। लगता है कि बहस जारी रहने वाली है।

अस्तु, यहाँ हमने विजयदान जी की कुछ कथाओं के आधार पर उनके कृतित्व के एक पक्ष के आकलन का प्रयास किया। संदर्भ की माँग है कि उनकी सारी लोककथा- आधारित कथाओं का ऐसा आकलन किया जाए। इसमें कोई संदेह नहीं है कि बिज्जी हमारे समय के एक महत्त्वपूर्ण साहित्यकार रहे हैं- कितने महत्त्वपूर्ण यह तय होगा- ऐसे सर्वांगीण अध्ययन से।

एक थाल मोतियों से भरा

डॉ. मालती शर्मा

पहेलियाँ लोक साहित्य और साहित्य की प्राचीनतम एवं अधुनातन विश्वव्यापी लोकप्रिय काव्य विधा है। ये लोक मानस की काव्य-प्रतिभा की अलंकारिक सर्जना है। संसार की सभ्य-असभ्य, शिक्षित-अशिक्षित सभी जातियों और जनजातियों में अनादि काल से लोक परम्परा में पहेली बूझना, मनोरंजन, ज्ञानवर्धन, बौद्धिक विकास और तर्कशक्ति की वृद्धि का कौतूहल भरा खेल रही हैं। ये शब्द की शक्ति से परिचय कराने का सहज माध्यम भी हैं।'

हमारी सभी भाषाएँ और बोलियाँ पहेलियों की अन्योक्तिपूर्ण कथन भंगिमाओं से भरी पूरी हैं। अपवाद रूप में ही शायद कोई बोली मिले, जिसमें पहेलियाँ न हों। कला शास्त्र की चौसठ कलाओं में पहेली बुझाना भी कलाओं में शुमार एक कला है।

वर्तमान में पिछले दो दशक से बाल साहित्यकारों ने बाल शिक्षा के सभी विषयों और सामान्य ज्ञान के विषयों पर प्रचुर रूप से बाल साहित्य में पहेलियों की रचना की है। इन बाल साहित्य की पहेलियों में पारम्परिक पहेलियों की संरचना के प्रमुख तत्त्व नये युग परिवेश में देखे जा सकते हैं।

पहेली अप्राकृत उपमानों द्वारा बना प्राकृत वस्तु का शाब्दिक-निकटतम, हूबहू नहीं- सांकेतिक चित्र है। हूबहू चित्र तो पहेली बूझने का मजा ही किरकिरा कर देगा। ये उपमान कभी-कभी दूर की कौड़ी भी होते हैं, कभी आसपास के परिवेश से लिये हुए। हमारे देश में जितनी भाषा और बोलियाँ हैं, थोड़े बहुत अंतर से उनमें पहेली के उतने ही नाम हैं। मराठी में पहेली को 'कोड' कहते हैं, बहुवचन है 'कोडी'। विषय वैविध्य की दृष्टि से मराठी पहेलियाँ काफी समृद्ध हैं। कश्मीरी में पहेली को 'प्रच' कहते हैं, मगही में 'बुझौती'। मारवाड़ी और मालवी में 'अखौणी', मेवाड़ी में 'पारसी'। बुन्देली में बुझौवल, बघेली में पहेली को उक्खान कहते हैं।

पंजाबी में पहेली को 'बुझारत' कहा जाता है। मारवाड़ी में 'आड़ी' कहते हैं। रीवा के डॉ. वी.के. सारस्वत ने यह भी बताया कि यहाँ के लोग बोलचाल में पहेली को 'माथापक्की' भी कहते हैं। किन्हीं अंशों में यह ठीक भी है। पहेली का उत्तर ढूँढने में माथापक्की तो करनी ही पड़ती है। पर हिन्दी भाषी क्षेत्र के साहित्य और लोकसाहित्य में पहेली ही परिनिष्ठित और सर्वमान्य नाम रहा है।

अंग्रेजी में पहेली के लिए प्रयुक्त तीन शब्द 'रिडिल', 'पजल' और 'क्विज' उनके रूपों के सूचक हैं। 'रिडिल' किसी वस्तु का शाब्दिक चित्र है, जैसे घड़ी की पहेली- 'राउन्ड एज ए बिस्किट बिजी एज ए बी'। 'पजल' पहेली का चित्रात्मक रूप और 'क्विज' किसी वस्तु के बारे में सीधे प्रश्नोत्तर हैं।

पहेली शब्द संस्कृत शब्द 'प्रहेलिका' से बना है, जिसका अर्थ है- दुर्भिज्ञानार्थ प्रश्न, कूटार्थभाषित कथा। व्युत्पत्ति इस प्रकार है- प्रवलिका, प्रवइलिका, प्रवहलिका, प्रवलि, प्रहेलि, पहेली।

संस्कृत में पहेली को 'ब्रह्मोदय' कहा जाता है और भारतीय सांस्कृतिक परम्परा की दृष्टि से पहेलियों के लिए 'ब्रह्मोदय' नाम मुझे बहुत सार्थक लगता है। अक्षर और शब्द को ब्रह्म मानने वाली हमारे विचार में पहेलियाँ शब्द ब्रह्म का उदय ही तो कही जायेंगी। ये शब्दों की व्यंजना शक्ति की आलोक रश्मियाँ ही तो हैं न। पहेलियाँ लोकजीवन, लोकमानसिकता का जैसे कैमरा है। वस्तुओं के शब्द चित्रों का ऐसा एलबम है, जिसमें इस नाम रूपकात्मक दृश्य और अदृश्य जगत की वस्तुओं के संग्रहीत चित्र देखे जा सकते हैं।

विश्व के प्राचीनतम माने जाने वाले ग्रंथों-वेदों के अनुसार भारत में पहेलियों की परम्परा अत्यंत प्राचीन है। डॉ. सत्येन्द्र के अनुसार वैदिक युग में ब्रह्मोदय अर्थात् पहेलियाँ यज्ञ के अनुष्ठान का ही आवश्यक अंग थी। अश्वमेध यज्ञ में अश्व की वास्तविक बलि से पूर्व होतृ और ब्राह्मण ब्रह्मोदय पूछते थे। यह पहेली पूछना यज्ञ में केवल उनका ही अधिकार था।

डॉ. सत्येन्द्र जी ने लोकवार्ताविद् वेरियर एलविन और डब्ल्यू. डी. आर्चर के संदर्भ- 'नोट ऑन दी यूज ऑफ रिडिल्स इन इंडिया' के उल्लेख से यह भी बताया है कि भारत के आदिवासी

मण्डल गोंड और परधान तथा बिरहौर जातियों के विवाह के अनुष्ठानों में पहेलियाँ बुझाना एक आवश्यक रीति मानी गई है।

यह रीति ब्रज में तो कहीं है नहीं, पर अन्य प्रांतों में भी पहेली बुझाना विवाह के अनुष्ठानों में नहीं है। प्राचीन समय में विवाह को एक यज्ञ ही माना जाता था। विवाह को यज्ञ मानने वाली हमारी सांस्कृतिक परम्परा में आज भी यज्ञ की कुछ रीति जैसे मण्डप गाड़ना विवाह के संस्कारों में बची है। विवाह संस्कार के अंतर्गत दामाद के आशुकवित्त और बुद्धिकौशल की परीक्षा के लिए हँसी-ठिठोली और मनोविनोद का मनोरंजक वातावरण रचने के लिए विवाह में पहेली बुझाना भी बचा हुआ है। ब्रज में वर को बटुक ब्रह्मचारी मानकर ब्रज के ग्रामीण क्षेत्रों में तो नहीं, पर शहरों में चौबों, खत्रियों और अग्रवाल बनियों में देवी-देवता के सामने दूधावती खिलाते समय सिल्लोक (श्लोक) पढ़ने को कहा जाता है। सासों, सलहजें, सालियाँ वहाँ जो भी हो सिल्लोक सुनाने की फरमाइश करती हैं, दूल्हे राजा कोई भी तुकबंदी कर या उन्हें याद पद्यांश सुनाकर सिल्लोकों का नेग लेते हैं। आजकल तो फिल्मी गीत भी खूब चलते हैं। दूल्हा कभी-कभी कटाक्ष भी कर देता है-

छन पकैया-छन पकैया छन के ऊपर पूरी।

दुल्हन की अम्मा सास हमारी रबड़ी की चटोरी।।

बिहार, राजस्थान, महाराष्ट्र, पूर्वी उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश में तो विवाह में पहेली पूछना आज भी लोक परम्परा का अंग है। महाराष्ट्र में तो वर और वधू दोनों से ही 'कोड' पूछी जाती है। राजस्थान में विवाह के अलावा तीज-त्योहारों पर जैवाई राजा के पहली बार ससुराल आने पर साली-सलजहें पहेली पूछती हैं, वे उन्हें पहेली का उत्तर दिये बिना, भीतर प्रवेश नहीं करने देती, खाने की थाली नहीं छूने देती, पलंग पर सोने नहीं, देती। लोकवार्ताविद् लक्ष्मी कुमारी चूँडावत ने ऐसी पहेली को 'आडियाँ' कहा है। हिन्दी खड़ी बोली और हरियाणा के जुड़े क्षेत्रों में पहेली की जगह दामाद से 'छन-पकैया' शब्द जोड़कर कोई पय बनाकर सुनाने को कहा जाता है। दूल्हा जो छन (छन्द) बनाकर कहता है, उनमें फरमाइश करने वाली की चाल-ढाल, आभूषण, स्वाभाव पर फब्तियाँ भी सामने आती हैं।

दामाद से पद्य बनाकर सुनाने की भी यह रीति-'छन-

पकैया' कही जाती है। यह भी वर की बुद्धिमत्ता (विशेष रूप से आशु कवित्व) की परीक्षा लेने का, हँसी-ठिठोली और मनोविनोद का साधन है। 'छन-पकैया' के पद्यों में दूल्हे राजा अपने कुल की प्रशंसा करके तर्कों-बतर्कों में उत्तर देते हैं। 'छनपकैया' में व्यंग्य और कटाक्षों की बहुलता रहती है। पद्य रचना में तुक मिलना जरूरी है-

छनपकैया-छनपकैया छन के ऊपर किनकी,
हम अपनी को ले चले! तुम काहे को टिनकी?

छनपकैया छनपकैया छन के ऊपर तोता।
धन्य हैं मेरे दादा दादी जिनका हूँ मैं पोता।।

छनपकैया छनपकैया छन के ऊपर तोड़ी,
एक प्रज्ञा और एक मैं कैसी अच्छी जोड़ी।।

छनपकैया के पद्य पारम्परिक भी होते हैं और उसी समय नित्य बनते भी रहते हैं। सामान्य लोक जीवन में घर-आँगन, चौपालों पर खेत-खलिहान में राह चलते बड़ों और बच्चों के बीच कभी-कभी थोड़ी फुरसत के वक्त पहेली बूझने के आनंददायक और रोमांचक खेल के चलाने के तो लोक परम्परा में प्रचुर प्रमाण हैं ही- राज दरबारों में, विद्वानों के बीच भी पहेलियाँ बूझी जाती रही हैं। अनेक पहेलियों में अकबर बीरबल और राजा भोज के नाम आते हैं-

1. कहेँ पहेली बीरबल सुनियों अकबर साह
2. कहिये सरकै बीछू लपके नाहरिया गराय कहिये राजा भोज जे, कौन जिनावर आय?

बुद्धि चातुर्य के खेल के साथ परम्परा में पहेलियों के विशिष्ट उपयोग के संदर्भ भी मिलते हैं। बहुत-सी राजकुमारियाँ अपने भावी वर के बुद्धि चातुर्य और शौर्य की परीक्षा लेने के लिए कोई पहेली अपने विवाह की शर्तों में रख देती थी-

अंख तें तो पंख ब्यानी सूरु बींध्यो पानी,
जाको अर्थ बताइदे राजा तू राजा मैं रानी।

पहेलिका अलंकार है और 'पहेली बुझाना' मुहावरा भी। यह संसार, इस जीवन की कोई भी सहज ही न समझ में आने वाली वस्तु या बात पहेली कही जाती है। वार्तालाप में किसी बात

को सीधे-सीधे न कहना, घुमा-फिरा कर चक्करदार ढंग से कहना भी 'पहेली बुझाना' है। बातचीत में अगर कोई बात को घुमाफिरा कर चक्करदार ढंग से कहता है तो सुनने वाला बहुधा कहता देखा गया - अरे यार सीधे-सीधे बात कर, क्या पहेली बुझा रहा है।

बात को घुमा-फिरा कर कहने के पीछे बहुधा कथन को कौतूहलपूर्ण, थोड़ा आश्चर्यप्रद और मनोरंजक बनाने के साथ कभी-कभी गोपनीयता भी रहती है। जैसे ब्रज की इस पहेली में घूँघट निकाले, पति के साथ ऊँट को हाँकने वाला कौन है? तो वह सीधे-सीधे यह न कहके कि ऊँट को हाँकने वाले मेरे पति हैं, रिशतों के चक्कर से यह बात कहती है- कि ऊँट को हाँकने वाले मेरे ससुरजी के साले के भांजे हैं-

ए लजवती ऊँट चढ़ती हाँकन हारा कोन?
मेरे ससुर-ससुर कौ सारौ, ताकौ भाँनिज हाँकन हारौ,

किसी बात को कौतूहल भरी, आश्चर्यपूर्ण और मनोरंजन बनाने के साथ उसे छिपाने, गोपनीय रखने की जरूरत ही पहेलियों की जन्मभूमि, मूल मानसिकता है। प्रख्यात लोकवार्ताविद् फ्रेजर ने कहा है कि पहेलियों की रचना अथवा उदय उस समय हुआ होगा, जब वक्ता को स्पष्ट शब्दों में किसी बात को कहने में किसी भी तरह की अड़चन पड़ती होगी। लोक परम्परा के साथ हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य पर दृष्टिपात करने पर उनके कथन में सच्चाई जान पड़ती है। जब साहित्यकारों ने गुप्त रूप से संदेश भेजने के लिए पहेली का निर्माण किया, उसमें भी किसी वस्तु को प्रतीक बनाकर संदेश को गोपनीय बनाया है। ऐसा एक उदाहरण शिष्ट साहित्य से- नायिका यह जानने के लिए कि प्रेमी/नायक उसके पास कब आयेगा। संदेश वाहक के हाथ एक खिला हुआ कमल भेजती है। नायक किसी चर्चा में व्यस्त है तभी संदेशवाहक पहुँचता है, पर वह उस कमल पर एक निगाह डाल उसकी पंखुड़ियाँ बंद करके संदेश वाहक को लौटा देता है। इसका अर्थ हुआ कि वह रात को आयेगा जब कमल बंद हो जाते हैं।

ताही समय कहुँ आन दिया एक नीरज नीर नयो भरिकें
ताहि को नैक निहारिकें के राव फेरिदियो कलिका करिकें
यह ग्रामीण पहेली है। इस पहेली में गाँव की स्त्री/प्रेमी को

गोपनीय संदेश भेजती है। गोपनीयता के लिए श्लेष अलंकार का आधार लिया गया है, पर द्विअर्थी शब्दों के अर्थ लोक परम्परा से लिए गए हैं।

घर घोड़ा प्रिय मालुए जीन समन्दर पार
बे आवें दीपक बरें श्रोता करहुं विचार

घोड़ी, घोड़ा और स्त्री, जीन, घोड़ी की जीन और चारपाई, समुन्दर समुद्र और पढ़ैनी (पानी के भरे बर्तन रखने का स्थान) वे (पति) श्रोता पहेली सुनने वाले और प्रेमी।

लोक परम्परा में, कहावतों और लोक कथनों में, वार्त्तालाप में भी स्त्री की उपमा घोड़ी से देते हैं- उसे 'घोड़ी' कहा जाता है। 'बढ़ी घोड़ी लाल लगाम' बहुत प्रचलित लोकोक्ति है। किसी चंचल युवती के लिए कहा जाता है- 'अलल बछेरी सी कूदि रही है। इस पहेली में अप्राकृत से जो प्राकृत गोपनीय चित्र खींचा गया है, उसके संकेत ऐसे हैं- स्त्री कहती है, घोड़ी और मैं घर में ही हैं (बाहर घोड़ी देखकर प्रेमी पति के घर में होने का अनुमान न कर बैठे) मेरे पति खेत पर गए हैं। घोड़ी की जीन, मेरी खाट समुद्र के पार, पढ़ैनी के बाद के कक्ष में बिछी है। वे (पति) दीपक जलने पर, रात को आयेंगे। आप (श्रोता) पूरी स्थिति पर विचार करें।

लोकजीवन से प्राप्त परम्परित पहेलियों में ग्रामीण और शहरी मानसिकता की विभाजक रेखा स्पष्ट देखी जा सकती है। पहेली में किसी भी कारण से शाब्दिक और अर्थगत गोपनीयता के लिए शब्दों का और स्थितियों का चयन काफी सीमा तक यह भेद स्पष्ट कर देता है। यमक अलंकार के चमत्कार से दमकती 'सारंग' शब्द पर बनी यह पहेली मुनि मानस की रचना है-

सारंग ने सारंग गह्यौ, सारंग बोल्यौ आय,
जो सारंग-सारंग कहै, तो सारंग मोंहते जाय।

पहेली का अर्थ है- मोर ने साँप को पकड़ लिया, उसी समय बादल गरजने लगा। यदि बादलों की गर्जना सुनकर मोर कुहुकता है तो सर्प उसके मुख से चला जायेगा। जबकि घोड़ी जीन और समन्दर के श्लेषार्थ पर बनी पूर्व उल्लेखित पहेली लोकमानस की रचना ग्रामीण पहेली है। एक और बात 'सारंग ने सारंग गह्यौ' जैसी पहेलियाँ अधिक नहीं है।

ऐसी ही समुद्रमंथन के पौराणिक आख्यान पर समुद्र से निकलने वाले चौदह रत्नों में से अमृत विष और लक्ष्मी को समुद्र के पुत्र-पुत्री मान तीनों के अर्थ पर बनी यह पहेली है-

दधि सुतनी दधि सुत भक्खौ
दधि सुत बेगि बुलाउ
जो दधि सुत आबै नहीं
दधि सुतनी भरि जाय

पहेली का अर्थ है - दधि सुतनी (समुद्र की पुत्री लक्ष्मी) ने दधि सुत (विष) पी लिया है। अतिशीघ्र दधि सुत (अमृत) को बुलाओ! अगर दधि सुत (अमृत) नहीं आता, दधि सुतनी (लक्ष्मी) मर जायेगी। अलंकारिक बुद्धि ऐसी पहेलियाँ बहुत कम और मुनि मानस की उपज है। इनकी शब्दावली संस्कृतनिष्ठ और विशिष्ट है। पौराणिक घटनाओं के योग की ऐसी पहेलियाँ अधिक नहीं मिलती हैं। खड़ी बोली के आदिकवि माने जाते 'हिन्द की तूती' अमीर खुसरो की रची 'पहेलियाँ' कह 'मुकरिनी' और 'दुसुखने' लोक जीवन में बहुत लोकप्रिय हुए। पहेलियों के ये तीन रूप पढ़े-लिखे नागरिक लोगों के मनोरंजन का विषय अधिक रहे। यद्यपि कुछ एक गाँवों तक भी पहुँचे। पाठान्तर रूप भी मिलते हैं, जैसे 'एक थाल मोतियों से भरा' पहेली है-

एक थाल मोतियों से भरा
सबके सिर पर उल्टा रखा
आँधी आयें चाहे तूफाँ आए
मोती एक न गिरने पाए

पर पहेलियाँ ही क्या अपवाद हैं- पाठ भेद तो लोक साहित्य का अनिवार्य घटक ही है। अमीर खुसरो की पहेलियों में अरबी-फारसी, उर्दू और खड़ी बोली की व्यंजना शक्ति का अभूतपूर्व मिश्रण है। भारत की धरती के फल-फूलों, ऋतु-पर्वों की भीनी सुगंध है। उन्होंने दो पंक्तियों, दो सुखने और कह मुकरिनी की रचना की है। उनकी रची पहेलियों के ये तीन रूप भारतीय लोक जीवन पर छाए हुए हैं। यद्यपि वे शहरों में अधिक हैं, पर पश्चिमी उत्तर भारत के गाँव तक भी पहुँची है। पर कह मुकरियाँ और दुसुखना की परम्परा नहीं चली। उनकी लिखी स्वयं पहेली में ही निहित उत्तर की पहेलियाँ भी बहुत हैं, जैसे-

ना मारा ना खून किया
लाखों का सिर काट लिया।

उत्तर- नाखून

दो सुखने में दो प्रश्नों का एक ही उत्तर होता है जैसे-

घोड़ा अड़ा क्यों, पान सड़ा क्यों?

उत्तर - फेरा न था

‘कह मुकरिनी’ दो युवा सहेलियों के बीच में संवाद है। इसे दो सखी खेलती है। ‘कह मुकरिनी’ का अर्थ है कहे हुए से मुकरना, पलट जाना। यह पहेली का बहुत मनोरंजन रूप है। इस पहेली में पहली सखी अपनी सखी से किसी वस्तु या घटना का इस रूप में वर्णन करती है कि दूसरी सखी उसे उसका प्रेमी समझ कहती है-ऐ सखी क्या वह साजन? पहली सखी प्रेमी जैसे अपने वर्णित क्रियाकलापों के साम्य से मुकरके, कहे हुए से पलट कर दूसरा ही उत्तर देती है-नहीं सखी साजन नहीं, अमुक वस्तु है-

सेज पड़ी मोरी आँखों आया
डाल सेज मोय मजा दिखाया
किसके कहूँ अब मजा मैं अपना
ए सखी साजन? ना सखी सपना

उत्तर - सपना

ढोल, बुखार, जाड़ा, चन्द्रमा, पंखा, हार पर बनी अमीर खुसरो की कहमुकरनी बहुत प्रसिद्ध हुई। किन्तु कह मुकरनी की परम्परा न लोकसाहित्य में चली न साहित्य में। अमीर खुसरो भारतीय संस्कृति और ‘हिन्द की तूती’ थे। उन्हें ‘पहेली सम्राट’ कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी। इतने विशाल फलक पर साहित्य में पहेली रचना का उनका कोई उत्तराधिकारी मेरी जानकारी में नहीं है। यह परम्परा उन्हीं से शुरू हुई और उन्हीं पर समाप्त हो गई।

अप्राकृत उपमानों और यमक, श्लेष तथा अन्योक्ति, समासोक्ति अलंकारों के सहयोग से बनी पहेलियों की संरचना को पूरी तरह कुछ एक साँचों में बाँटना यद्यपि संभव नहीं, पर

भूल, घटक, संरचना तत्त्वों का विश्लेषण किया जा सकता है। हमारी पहेलियों की संरचना में रूप, आकार साम्य, रंग साम्य, गतिविधि क्रिया साम्य और गुणधर्म के निकटतम साम्य के उपमान चुने गए हैं। पहेली की रचना की गई है। दो पहेलियाँ देखते हैं, पहेली है-

- सिंघाड़े पर

इत ऊ खूँटा बितऊ खूँटा
भैंस मरखनी दुद्धा मीठा

इस पहेली की संरचना में- रूप आकार साम्य, रंग साम्य, गतिविधि क्रिया साम्य और गुणधर्म साम्य है।

ये जरूरी चारों साम्य नियोजित हैं। सिंघाड़े के दोनों तरफ काँटे होते हैं। रंग श्याम, उसे छीलने पर काँटे चुभते हैं, पर सिंघाड़े की गिरी मीठी और श्वेत होती है। उपर्युक्त चारों साम्यों को ध्यान में रखकर पहेली से बने चित्र के निर्माण में भैंस ली गई है। भैंस खूँटे से बँधती है तो खूँटे काँटे हुए और उसके सींग भी जिनसे वह मारती है, काँटे चुभते हैं- पर इस मरखनी भैंस का दूध बहुत मीठा है, गिरी श्वेत मीठी है।

अब विचारणीय प्रश्न है दूध तो गाय का भी मीठा होता है, सींग उसके भी हैं। तब उपमान में भैंस क्यों आई? उत्तर होगा - गाय के साथ में रंग साम्य नहीं बैठता। कोई एक गाय ही काली हो सकती है, अमूमन गायें श्वेत होती हैं। और एक पहेली लेते हैं, आँख पर-

कारे कारे बैंगन टिपारी बजायँ
राजा माँगो माल मोपै दये ऊ न जायँ

आँखों का रंग श्याम/ काला माना है। उनका आकार बैंगन से मिलता है। हमारी पलक बार-बार बहुत ही धीमी आवाज से झपकते हैं। आँखों का कार्य पलकें झपकाना है। मनुष्य के नेत्र अनमोल वस्तु हैं। राजा के माँगने पर भी बड़ी से बड़ी कीमत पर भी आँखें नहीं दी जा सकती। इस पहेली की संरचना में रूपाकार रंग, गतिविधि और गुणधर्म साम्य है। आँख पर प्राप्त दूसरी पहेली की संरचना में केवल रंग और आकार साम्य ही है-

‘छोटी- सी डिबिया में सालिग्राम’ आँख पर बनी पहली
पहेली में रूप- रंग-आकार- क्रिया और गुण धर्म का विचार
करती संरचना में आँख का निकटतम चित्र खींचा गया है-

अब कढ़ी पर बनी छोटी-सी पहेली को लेते हैं-

पीरी पोखर पीरेई अण्ड
बेगि बताई नई देंतिऊँ डण्ड

इसमें प्रमुख है कि कढ़ी किसमें भरी है और कढ़ी की
पकौड़ियों का रंग और आकार क्या है। इस पहेली की संरचना
काफ़ी सीधी है। इसमें रंग और आकार के सीधे संकेत हैं। कढ़ाई
है, पीले रंग की पोखर उसमें हैं, पीले अण्डे अर्थात् कढ़ी में पड़ी
गोल पकौड़ियाँ। पूछने वाला उत्तर जल्दी चाहता है, अतः अण्डे
की तुकबंदी और धमकाने के लिए डण्डा आ जाता है।

धमकाने वाली बात भी पहेलियों की संरचना का एक
घटक है। कभी यह गाँव छोड़ने की धमकी देता है तो कभी
पहेली का अर्थ बताने पर रूपये-पैसे या कोई अन्य वस्तु देने का
प्रलोभन थी-

आड़ी चालूँ टेढ़ी चालूँ
चालूँ कमर कस
ई आड़ी का अर्थ बताओ
रूपये देऊँ दस

उत्तर - झाड़ू

सभी पहेलियों की संरचना में चारों साम्य हो, यह जरूरी
नहीं है। किसी में आकार साम्य, रंग साम्य होता है तो किसी में
क्रिया और गुण धर्म साम्य रहता है, पर रंग साम्य ही अधिकांश
पहेलियों की संरचना में आता है, जैसे नारियल की पहेली में -

कटोरे में कटोरा
बेटा बाप से भी गोरा

काली मिर्च की पहेली की संरचना में आकार, रंग और
गुणधर्म तीनों साम्य हैं-

पट गोल गोल, पट स्याह स्याह,
पट हपट हूपट हुई हुई

उत्तर- काली मिर्च

ओले पर बनी पहेली की संरचना में सिर्फ आकार से अर्थ
का संकेत है-

न्याँऊँ नायँ म्वाऊँ नायँ
राजा ऊ के देस नाँ
सकल सुपारी, जायें गुठली जायँ
उत्तर- ओला

किन्तु सुपारी में गुठली न होने की बात श्रोता का ध्यान
बँटा देती है। वह ऐसी वस्तु की खोज में अटक जाता है। एक ही
वस्तु पर कई पहेलियाँ भी मिलती हैं। उनके उपमान भिन्न होते
हैं, अप्राकृत वस्तुएँ अलग होगी, पर वस्तु के गुणधर्म की व्यंजकता
सभी में होगी। जैसे सुई-डोरे पर बनी पहेलियों की संरचना ली
जा सकती है। सुई का कार्य है कपड़ा सीते हुए आगे बढ़ाना, नीचे
दी इन तीनों पहेलियों में सुई का यह गुणधर्म बरकरार है-

नौक सी सी नटिया
जोति डारी पटिया

तेरौ दाऊ हेतु जाय
मेरी माँ भजति जाय

छोट से टिल्लू मियाँ
लम्बी से पूँछ

जहाँ जायें टिल्लू मियाँ
वही जाये पूँछ

तराजू की पहेली की संरचना में चित्रात्मकता के साथ
मानवीकरण भी है-

एक सखी द्वै लहँगा पहैरे
छै लटकावै नारे
में तोय पूँछँ ऐ मेरे भइया
वाको नाम कहां रे?

उत्तर- तराजू

यहाँ लहंगों की गोलाई का आकार साम्य है, तराजू के
पलड़े। नारों की संख्या में डोरियों का संकेत है।

उपमानों के कार्यकलापों में, गतिविधियों में विपरीत गुणधर्म का समावेश पहेलियों की संरचना का एक आवश्यक घटक है। पहेली की संरचना में आई ये विपरीत गुणधर्म की स्थितियाँ और कार्य पहेली के अर्थ के संयोग होते हैं। इन्हीं पर पूरी पहेली का अर्थ बहुधा निर्भर करता है। अमीर खुसरो की रची सैकड़ों पहेलियों में से उनकी बहुत प्रसिद्ध तारों भरे आसमान की पहेली लें-

एक थाल मोतियों से भरा
सबके सिर पर औँधा धरा
चारों ओर वह थाल फिरे
मोती उसका एक न गिरे

‘एक थाल मोतियों से भरा’ यहाँ तक तो बात ठीक है, पर यह थाल सबके सिर पर औँधा रखा है और चारों तरफ घूम भी रहा है। यहाँ विपरीत गुणधर्म दो हैं- किसी भी वस्तु में कोई भरी चीज उसके औँधने पर, उल्टा करने पर सारी की सारी फैल जाती है पर इसके मोती नहीं गिर रहे। दूसरी बात थाल में ऊपर तक जब वस्तु भरी हो और वह घूम रहा हो तो उससे चीजें गिरती हैं, जबकि यहाँ तो एक मोती तक नहीं गिर रहा। इस पहेली की संरचना में उत्तरदाता को पशोपेश में डाल देती है कि ऐसा है तो यह क्यों नहीं हो रहा।

पहेली में आई ये विपरीत गुणधर्म की स्थितियाँ और ये विपरीत कार्य ही पहेली के अर्थ के व्यंजक हैं। फिरे और गिरे की तुक विस्मय पैदा करती है कि मोती भरा थाल घूम रहा है और उससे एक भी मोती नहीं गिर रहा, जबकि ऐसा होता नहीं है। पहेली की संरचना का यह विपरीत गुणधर्म का घटक थाल का औँधा होना और उससे मोती का न गिरना पहेली के अर्थ ‘तारों भरा आसमान’ का निर्माण करता है।

पहेली की संरचना में, क्रियाकलापों में विरोध का समावेश अन्य पहेलियों में भी है और सारा अर्थ उसी पर निर्भर भी। उड़ने के लिए पंख जरूरी है। बिना पंख उड़ना सम्भव नहीं, पर पतंग की पहेली में यही विरोधी बात बिना पंख उड़ना, पहेली को निर्मित करता है-

एक पहेली में कहूँ सुनियो मेरे पूत
बिना परों वह उड़ गया, बाँध गले में सूत

उत्तर- पतंग

इस पहेली की संरचना में अर्थ का हल्का सा संकेत गले में बाँधा सूत है। गुणधर्म में विरोध की स्थिति इस पहेली में भी है-

ठाड़े हिन्ना किच किच करें
अन्न खायँ न पानी पियें

उत्तर- किवाड़

किसी प्राणी के जीने, बोलने के लिए अन्न खाना-पीना जरूरी है। पर ये हिरन (किवाड़े) न अन्न खाते हैं न पानी पीते हैं, बस खड़े हुए, किच किच यानी चूँ-चूँ करते रहते हैं।

पहेलियों की संरचना में उत्तर देने वाले को घुमाने, उसका ध्यान चक्कर में डालने के लिए एक-एक शब्द का संयोजन महत्वपूर्ण होता है। उपर्युक्त पतंग की पहेली में पतंग का लिंग बदल दिया है।

बहुत-सी पहेलियों की संरचना में किसी शब्द से ऐसा पेंच डाल दिया जाता है कि बताने वाला सहज ही उत्तर तक न पहुँच सके, भटक जाये। ऐसी एक पहेली मूली पर बनी है। इसकी संरचना का आधार रंग साम्य है। उपमान रूप में आए हैं बगुला और तोता जो सफेद और हरे रंग के होते हैं- एक गाँव में ऐसा हुआ। ‘आधा बगुला आधा सुआ’ यहाँ भी अगर गाँव की जगह खेत शब्द होता तो उत्तर की कल्पना सहज थी, पर गाँव का पटल बड़ा है और बताने वाले का ध्यान कई वस्तुओं पर जाता है और उत्तर ढूँढने में उसे माथापच्ची करनी पड़ती है। मराठी पहेली आकार- साम्य पर बनी है कि सफेद बोतल है, उसपर हरा ढक्कन लगा है-

पाँढरी बाटली, तिला हिरवा बूच

उत्तर- मूली

बहुतांश पहेलियों की संरचना में उपर्युक्त चारों साम्य और अन्योक्ति, श्लेष अलंकार प्रमुख घटक हैं। पहेलियाँ पद्य में हैं, अतः तुक मिलान और गति उनकी संरचना के बहुत जरूरी घटक हैं। तुक मिलान में पहेली के अर्थ की संगति भी जरूरी है, क्योंकि उस पर अर्थ का गुणधर्म निर्भर करता है, जैसे नाखून की पहेली में ‘किया’- ‘लिया’ की तुक है।

हालाँकि इन संरचनाओं की पहेलियों की संख्या अधिक नहीं, पर कुछ पहेलियाँ ऐसी भी हैं जिनकी संरचना में ऐसा कोई भी साम्य नहीं होता। उनकी संरचना के आधार सर्वथा अलग हैं। किसी-किसी के पीछे तो पूरी घटना है। इनके उत्तर पहेली पूछने वाला या जिसने वह पहेली पहले कही-सुनी और उत्तर भी उसे याद है, वही दे पाता है। ऐसी पहेलियों की विशिष्ट संरचनाएँ निम्न हैं- संख्या आधारित, विशेष घटना आधारित, रिशतों पर आधारित, विवाह की शर्त, पौराणिक संदर्भों की पहेली एवं लोक विश्वास आधारित पहेली।

संख्या आधारित पहेलियों की संरचना का आधार संख्या होती है। इनका उत्तर निरीक्षण आधारित जानकारी पर भी कभी-कभी निर्भर करता है। थनों की संख्या पर बनी पहेली ऐसी ही है-

आठ अठार बारै बंगर
चारि चक्क द्वै तोरई

आठ थन कुतिया के, बारह सुअरिया के, चार गाय और भैंस के और दो बकरी के होते हैं। अठंगर, बंगर, चक्क और तोरई शब्द तक मिलान के लिए हैं। पर तोरई शब्द बकरी के लम्बे थनों के लिए आया है। कुछ संख्या आधारित पहेलियों में एक शब्द ऐसा आता है जो संख्या वाचक भी होता है और दूसरा अर्थ भी देता है। जैसे यह पहेली है-

गुरु गुरुआनी नव चेला
सात पई और द्वै द्वै खाई
एक बची?

यह पहेली चक्कर में डालती है कि घर में गुरु, गुरुपत्नी और नौ चेले हैं। रोटियाँ बनी सात, सबने दो-दो खाई, एक रोटी बची। ऐसा हुआ कैसे? इस पहेली में नव का अर्थ नौ भी है और नया भी है। कुल तीन ही तो व्यक्ति हैं खाने वाले! तीनों ने दो-दो रोटी खाली। संख्या की ऐसी ही सुपारी तोड़ने पर बनी पहेली है-

एक सुपारी तीन चोट
चोट चोट के द्वै द्वै टूँक

बताओ कुल कितने टुकड़े हुए? उत्तरदाता व्यक्ति तुरंत दो-दो जोड़कर 'छः' कह देता है, जबकि साबुत सुपारी के तीन

चोटों में टुकड़े होते हैं- चार। संख्यावाचक पहेलियों के उत्तर बुद्धि कौशल से दिये जा सकते हैं। रिशतों पर आधारित पहेलियों की संरचना में संख्या और विशेष घटना का भी समावेश पाया गया है। एक स्त्री अपनी सखी से सास और ससुर से अपने एकदम अलग रिश्ते की बात कहती है। ये दोनों अलग रिश्ते बनने के पीछे एक घटना है। स्त्री कहती है कि मैं सास की तो बहू लगती हूँ, पर ससुर की माँ। वाह कैसे?

ऐरी सखी मेरी सखी बात सुनि हमारी
सासु की तो बहू लागूँ सुसर की महतारी

घटना ऐसी है- बहू रोटी बना रही थी, उसके स्तन से दूध की छींट ससुर की थाली में चली गई। ससुर उसे खा गया। दूध खाने के कारण वह स्त्री ससुर की माँ हो गई, पर संख्या और रिश्ते की असंगति की संरचना पर बनी इस पहेली के पीछे कोई घटना नहीं है। सिर्फ बाग में जाने वाली, नींबू खाने वाली महिलाओं में रिश्ता है-

द्वै माँ बेटी द्वै माँ बेटी
चली बाग कूँ जायँ
तीन नबू तोरिकें
साजेई साजे खायँ

पहेली कहती है- दो माँ बेटी, महिलाएँ हुई चार! पर वे बिना बाँटे नींबू खाती है तीन! वस्तुतः ये महिलाएँ हैं तीन। नानी माँ और धेवती जिनमें आपस में माँ बेटी का रिश्ता है।

रिश्ते के माध्यम से विस्मयपूर्ण ढंग से रास्ता चलते-चलते, दो पथिकों की आपसी बातचीत से अपना परिचय पहेली में देने की भी पहेलियाँ हैं-

लाला पाग मुँह बाँको
जे मेहमान कहाँ कौ?
बन हारी बन बीनि कपास
तेरी मेरी एकई सास

उत्तर - ननदोई

एक स्त्री वन में कपास बीन रही थी। उसे लाल पगड़ी पहने एक बाँका जवान पथिक आता दिखा। उसके मन में कौतूहल

हुआ, यह मेहमान कहाँ से और किसका है? बाँके जवान ने अपने और वन में कपास बीनने वाली स्त्री के बीच के रिश्ते पर आधारित पहेली में अपना परिचय देते हुए कहा- हे बीनने वाली! आराम से बीनो, तुम्हारी और मेरी सास एक है। इस पहेली में उत्तरदाता को बताना होगा कि उस व्यक्ति का स्त्री से क्या रिश्ता था? वह उसका कौन लगता था? निम्न पहेली में एक पथिक, अपने साथी को सुन्दर घर के ओसारे में बैठी बच्चा खिलाती पत्नी का और बच्चे का परिचय पूरे रिश्तों पर आधारित पहेली में देता है-

भली बनी चौपार, उसारौ काँसकौ
बहू खिवो बीर कै बेटा सास कौ

अपनी संरचना के पीछे, पूरी एक कहानी लेने वाली भी कुछ पहेलियाँ हैं। कुछ में पूरी-पूरी एक घटना गूँथी होती है और उसमें उत्तर का संकेत करने वाली कुछ वस्तुएँ भी होती हैं, पर उत्तर तक पहुँचना सहज नहीं होता। जैसे यह पहेली है-

मन मैली तन ऊजरी
ऊपजी गंदे ठौर
सरग चमकि गई बीजरी
भले बचे जा ठौर

गर्मी के दिन थे। एक ब्राह्मण कहीं जा रहा था, उसे प्यास लगी थी। गाँव में उसे एक साफ सुथरा मकान दिखा। वह द्वार पर आया और पानी माँगने ही वाला था कि उसकी निगाह छत पर सूखती खाल पर पड़ी। ब्राह्मण ने अपने साथी से पहेली में पूरी बात कही- मन मैली.....अर्थ हुआ गंदे व्यवसाय का स्थान, पर बाहर से महान साफ तन उजला, ऊपर सूखती खाल दिख गई। अच्छा हुआ, धर्मभ्रष्ट होने से बच गए।

विवाह की शर्त पर आधारित पहेलियों की संरचना में भी कोई न कोई घटना, कोई न कोई कहानी गूँथी होती है। उदाहरण स्वरूप जगदेव के पँवारा में चौबोलागढ़ अनबोला रानी की पहेली ली जा सकती है। ये पहेलियाँ भावी वर के बुद्धि कौशल और चतुरता की परीक्षा थी।

विवाह की शर्त की पहेलियों के उत्तर बताने आया व्यक्ति बाहर रखे नगाड़े पर चोट कर उसे बजाता था। जब उसे भीतर

बुलाया जाता था। राजकुमारी चिक की आड़ से पहेली पूछती थी। उत्तर न दे पाने पर उसे बंदीगृह में डाल दिया जाता था।

पौराणिक संदर्भों की पहेलियाँ अधिकतर शहरी और पढ़े-लिखे लोगों में मिलती हैं। समुद्र मंथन से निकले चौदह रत्नों में से तीन रत्न लक्ष्मी, अमृत और विष की पूर्व उल्लेखित पहेली है, जिसे समुद्र मंथन के संदर्भ को जाने बिना नहीं समझा जा सकता है।

लोक विश्वास पर आधारित पहेलियों की संरचना में, लोकविश्वास की अभिव्यक्ति में पहेलियों के पात्र लोकधर्मी हो जाते हैं और शब्दावली भी ठेठ लोक की। नदी पर एक मालवी पहेली है-

बाजो बजे बजाने वाला कोई नहीं
बाई चली सासरे मनाने वाला कोई नहीं

इस पहेली में समुद्र को नदी का सासरा मानने का लोक विश्वास अभिव्यक्त हुआ है। पर न नदी का संकेत है न समुद्र का। एक लड़की के ससुराल जाने की बात कही गई है।

तुलसी भगवान को सबसे अधिक प्रिय हरिप्रिया, विष्णुप्रिया, कृष्णा प्रिया है। भगवान की जब भी पूजा हो, पूजन सामग्री में तुलसी अवश्य रहती है। पर लोक में भगवान के लिए 'ठाकुर' शब्द आता है। जो जाति वाचक भी है। निम्न पहेली में 'ठाकुर' शब्द भगवान के लिए आया है, जो सालिग्राम हैं। विष्णु का पार्थिव रूप और 'ठकुरानी' शब्द तुलसी के लिए आया है। इस पहेली में दिन रात कभी भी भगवान की पूजा होने पर ठकुरानी तुलसी चढ़ाई गई। यह लोक विश्वास ठेठ लोक शब्दों में अभिव्यक्त हुआ है-

आठ पहर चौंसठ घड़ी
ठाकुर पै ठकुरानी चढ़ी

सर्प को कालजेबरी (मृत्यु की रस्सी) मानने का लोक विश्वास निम्न पहेली में प्रकट हुआ है-

सर्र सर्र सूतरी सरकाने वाला कौन
धरती माता निगल गई बचाने वाला कौन?

उत्तर- साँप

इन सभी प्रकार की पहेलियों की संरचना के अपने वैशिष्ट्य हैं, जो उन्हें दूसरे प्रकारों में भिन्न व्यक्तित्व देते हैं। जैसा कि मैं पहले कह चुकी हूँ मराठी का पहेली साहित्य बहुत समृद्ध है। अन्य भारतीय भाषाओं की तरह मराठी 'कोड' दैनिक जीवन की सजीव और मूर्त -अमूर्त वस्तुओं पर भी पहेलियाँ मिलती हैं। हवा पर पहेली है

*इथे च आहे पण दिसत नाहीं
यहीं तो है पर दिखाई नहीं देती*

उत्तर - हवा

उत्तरदाता चक्कर में पड़ जाता है, यह अदृश्य वस्तु है कौन-सी? जो यहीं है और दिखती नहीं? नक्शे पर बनी पहेली तो और भी मनोरंजन है- 'देखो', ये गाँव तो है पर यहाँ पर बस्ती नहीं है। ये नदियाँ तो हैं, पर इनमें पानी नहीं है। ऐसे बिना बस्ती के गाँव बिना पानी की नदियाँ जहाँ हैं, जिसमें वह है नक्शा-

*गाँव आहे पण बस्ती नाहीं
नदी आहे पण पाणी नाही*

उत्तर -नक्शा

भारतीय भाषाओं की शायद ही कोई बोली हो, जिसमें दीपक पर पहेली न हो। पर मराठी की इस दीपक पर बनी पहेली का सम्भवतः निर्माता भी बच्चा है और पूछने वाला तो बच्चा है ही। इस पहेली में दीपक की ज्योति को फूल का आकार साम्य मिला है और बत्ती को बेल का, दीपक को कुएँ का। बच्चा माँ का ध्यान आकर्षित करता हुआ कुएँ में उगी बेल के फूल को देखने को कहता है। पहेली में एक भी शब्द भरती का नहीं है-

'आई-आई (माँ ओ माँ) विहीर बघ (कुआँ देख) विहीरीत बेल वघ (कुएँ में बेल देख)° बेलीत फूल बघ (बेल पर फूल देख)।' यह पहेली आकार साम्य, रूप साम्य का सुन्दर मिश्रण है। अमीर खुसरो की दीपक पर बनी पहेली में श्लेष अलंकार का चमत्कार है और पहेली में ही निहित उत्तर लिए संरचना का विशेष प्रकार है यह पहेली -

*वाला था तो सबको भाया
बड़ा हुआ कुछ काम न आया*

*खुसरो कह दिया उसका नाम
अर्थ करो नहीं छोड़ो गाँव*

उत्तर -दिया

डॉ. सत्येन्द्र ने अपने शोध ग्रंथ में किसी व्यक्ति के निरीक्षण पर बनी एक ऐसी पहेली का उल्लेख किया है जो किसी भी संरचना पर आधारित नहीं। उसका उत्तर पहले वही व्यक्ति दे सकता है, जिसने देखकर बनाया है। उसके बाद जिसे पहेली और उत्तर दोनों ज्ञात हों। पहेली ऐसी है-

*चार पाम की चापड़ चुपो वापें बैठी लुप्पो
आई सप्पो ले गई लुप्पो रहि गई चापड़ चुप्पो*

यह पहेली एक विशेष दृश्य देख किसी व्यक्ति ने रची है कि भैंस पर मेंढकी बैठ गयी। मेंढकी को चील लेकर उड़ गई। भैंस रह गई। चापड़ चुप्पो भैंस के लिए, लुप्पो मेंढकी के लिए और 'सप्पो' चील के लिए संकेत करते हैं।

जैसा उन्होंने स्वयं कहा ऐसी पहेलियों की गिनती विशेष नहीं और न ये सामान्य जन समुदाय से सम्बन्ध रखती हैं। न इनकी संरचना लोक संरचना है। पहेली, लोक साहित्य की सबसे अधिक लोकप्रिय, जीवन्त और अत्याधुनिक विधा है।

किसी समय में जब मनोरंजन के इतने साधन नहीं थे और प्रकाश के स्रोत भी, पहेली बूझना बौद्धिक व्यायाम, विस्मय, उत्सुकता पूर्ण खुशनुमा वातावरण का निर्माण करता रहा होगा। पहेली बूझना द्विपक्षीय है, एक पहेली पूछने वाला दूसरा पक्ष पहेली का उत्तर देने वाला। इस मनोरंजन में 2-3 व्यक्तियों से लेकर 5-10 व्यक्ति तक कितने ही भागीदार हो सकते हैं। बहुत प्राचीन समय से वातावरण की बोरियत, एकरसता और ऊब मिटाने के लिए, मनोविनोद के लिए पहेलियाँ बूझी जाती हैं। साँझ ढले घर के आँगन, ओसारे में, चौपाल पर, सर्दियों में अलाव के आसपास तापते हुए, पहेली बुझाना मनोरंजन का साधन था। ऊख पेराई के समय कोल्हू से गन्ने का रस निकालते, गुड़ बनाते समय पहेली अनोखा समाँ बाँधती, पेराई में लगे लम्बे समय का भान नहीं होने देती थीं। गाड़ी में बैठे-बैठे रास्ता चलते हुए, वार्तालाप में किसी भी बिन्दु पर पहेलियाँ शुरू हो जाती। गर्मी की दोपहर में, फुरसत के वक्त शाला की छुट्टियों में बच्चे पहेली बूझते।

पहेली कहने वाला पहेली कह के चुप हो जाता। तब उसका अर्थ बताने वालों की दिमागी कसरत शुरू होती, अक्ल के घोड़े दौड़ने लगते। कोई कुछ बताता, कोई पहेली बूझने वाला अपनी तरह-तरह की भाव-भंगिमाओं से उन्हें रद्द करता जाता। कभी कोई उत्तर के निकट तक पहुँचता होता तो वह कहता 'नैक कसर रहि गई' 'बस्स बस्स आई ओ, नैक ओर जोर मारो' ऐसे संवाद दोनों पक्षों में चलते। जब अर्थ बताने वालों को पहेली का अर्थ नहीं सूझता तो वे पहेली बुझाने वाले से उसका 'अता पता' पूछते कि वह वस्तु कहाँ मिलती है- उसका रंग, रूप, आकार, उपयोगिता क्या है, किस काम में आती है। ऐसे वे कुछ उत्तर तक पहुँचने के संकेत चाहते। उत्तर तक पहुँचने के संकेत मिलने पर भी जब अर्थ नहीं बता पाते तो हार स्वीकार कराई जाती। तीन बार में 'हार गए'? 'हाँ भाई हार गए' कहलाया जाता। कभी उत्तर देने

वाले एक बार में ही हार गए-हार गए कह देते। जोर से कहते। कभी कोई पहेली पूछने वाला कड़क हुआ तो कहलवाया जाता- 'कहो', हार गए, झक मार गए, बिल्ली का गू चाट गए।

कभी-कभी पहेली बूझने वाला पहेली के साथ ही उसका 'अता-पता' भी बता देता था और कभी-कभी ऐसी भी स्थिति आती है कि पहेली पूछने वाले की पहेली पूरी भी नहीं हो पाती कि सुनने वालों में से कोई झट से उत्तर बता देता तो खूब जोर से तालियाँ पिटती। आज तो पहेलियाँ बच्चों के सामान्य ज्ञान, इतिहास, भूगोल, विज्ञान के विषयों की शिक्षा का माध्यम भी बनी हुई हैं। पिछले दो दशक में बाल साहित्य की पहेली विधा बहुत समृद्धि पा गई है। एक पहेली रूप इस जीवन में, संसार में, पहेलियाँ बनी और बन रही हैं, आगे भी वे बनती रहेंगी, बूझी जाती रहेंगी, माध्यम चाहे जो हों।

खेलों के रंग : ऊर्जा उमंग

डॉ. पूरन सहगल

खेल शब्द सहजता और सरलता का प्रतीक है। सृष्टिकर्ता ने सृष्टि की रचना खेल-खेल में ही कर दी।

‘एक समय की बात है। भगवान बैठे-बैठे उक्ता गए। तन में शिथिलता आने लगी। मन अकुलाने लगा। उन्होंने सोचा कुछ किए बिना आलस्य और अवसाद दूर नहीं होगा। कुछ कौतुक करना चाहिए। कोई क्रीड़ा करना चाहिए।

भगवान ने मिट्टी का एक ढेर इकट्ठा किया। उससे एक बड़ी गेंद बनाई। उस गेंद में आड़ी-तिरछी लकीरे खींची। कुछ उभार बनाए। कुछ खड़ी लकीरें भी खींची। इस प्रकार भगवान ने एक सुंदर भाँतदार गेंद तैयार कर ली। उन्होंने गेंद को अपने दाहिने हाथ की पाँचों अँगुलियों पर स्थापित किया और वहीं पर उसे घुमाने लगे। जब गेंद चक्कर घिन्नी हो गई, तब उन्होंने उस गेंद को हवा में उछाल दिया। गेंद जिस गति से घूमती हुई हवा में उछली थी, उसी गति से अधर में रहकर घूमती रही।

भगवान को अपने कौतुक में आनंद आने लगा। उन्होंने एक और बड़ी गेंद बनाई। उस गेंद में उन्होंने अपनी दाहिनी आँख से ज्योति भर दी। गेंद आग के गोले की तरह चमकने लगी। उन्होंने उस गेंद को भी उसी प्रकार अँगुलियों पर नचाकर आकाश में उछाल दिया। वह गेंद भी अधर में टिक गई। उस नई गेंद से पहले वाली गेंद पर ताप और प्रकाश फैल गया। भगवान को इस क्रीड़ा में आनंद आने लगा। उनका तन-मन पुलकने लगा। उन्होंने एक और गेंद बनाई। उसमें उन्होंने अपनी बायीं आँख से ज्योति भर दी। उस तीसरी गेंद में शीतलता थी। प्रकाश भी था। उस गेंद से सबसे पहले वाली गेंद पर शीतलता और प्रकाश का संचार हो गया। भगवान का ध्यान पहले वाली गेंद पर टिक गया। अब वह खूब चमकने लगी थी। भगवान ने सोचा, यदि इस गेंद पर हरियाली होती तो यह और भी सुंदर दिखती।

सोचना भगवान का और हो जाना हरियाली का भगवान का। सोचना हुआ और हरियाली छा गई। गेंद पर भाँति-भाँति के वृक्ष, लताएँ और दूब उग आई। मन और तन का क्या कहना। भगवान गद्गद् हो उठे। उन्होंने सोचा इन वृक्षों पर और तल पर कुछ जीव होना चाहिए। उन्होंने अपनी सृजन क्रीड़ा को फिर प्रारंभ किया। भाँति-भाँति के पशु-पक्षी बनाकर गेंद पर वृक्षों और तल पर उन्हें सजा दिया। उनमें प्राणों का संचार कर दिया। गेंद के नये रूप को देखकर वे पुलक उठे। उनके नेत्र पुलक जल से भर उठे। भगवान की दाहिनी आँख से एक आँसू गिरा और तल पर गिरकर मोती बन गया। बायीं आँख से आँसू गिरा, वह भी मोती बन गया। धरातल पर गिरते ही उन दोनों चमकीले आबदार मोतियों में परस्पर आकर्षण बढ़ा। दोनों मोती आपस में जुड़े। उनके आपस में जुड़ते ही चारों तरफ नीलाभ ज्योति फैल गई। उससे आकाश की रंगत नीली हो गई। पशु और पक्षियों में स्फूर्ति आ गई। वे चहचहाने लगे। क्रीड़ा-कौतुक करने लगे, वृक्षों पर सुंदर-मीठे फल-फूल उग आए। लताओं में सुगंधित फूल खिल उठे। हवा सुगंधित होकर बहने लगी। फूलों पर भँवरे-तितलियाँ गुंजार-क्रीड़ा करने लगे। गेंद की आड़ी रेखाओं में जल बहने लगा। खड़ी लकीरों में झरने बहने लगे।

भगवान उस सुंदर और मनमोहक दृश्य को देखकर अति प्रसन्न हो उठे। उनका मन हुआ कि वे वहीं जाकर रहें। भगवान ने पहले वाली गेंद को धरती कहकर पुकारा। उसे कालांतर में पृथ्वी आदि नामों से भी पुकारा गया। दूसरी गेंद को सूरज और तीसरी गेंद को चन्द्रमा कहा गया। सूर्य और चन्द्र धरती के पहरेदार बने। आधा-आधा समय दोनों को पहरा देने का आदेश भगवान ने दिया। उस आधे-आधे समय को भगवान ने दिन और रात कहा। भगवान ने उन दोनों मोतियों में प्राणों का संचार किया। दाहिनी आँख वाला मोती पुरुष और बायीं आँख वाला मोती स्त्री बना। उन्हीं आदि पुरुष-स्त्री के संयोग से मानव सृष्टि का विस्तार हुआ।'

ऐसी क्रीड़ा भगवान ने रचाई। खेल के इतिहास में भगवान का यह खेल प्रथम कहा जाएगा। खेल-खेलने से जब भगवान को नवस्फूर्ति प्राप्त हुई, तो मानव को अवश्य ही होगी।

मनुष्य ही क्यों पशु-पक्षी भी क्रीड़ा करने में आनंद का

अनुभव करते हैं। चिड़ियों का प्रभात में कलरव करना। मयूरी का नृत्यरत होना। श्वान आदि का परस्पर युद्ध जैसा प्रदर्शन करना, एक प्रकार की क्रीड़ा करना ही तो है।

खेल का अर्थ होता है किसी कार्य को सहज करने का प्रयास। ऊर्जा प्राप्त करने का उपक्रम है। खेल, लोक में सरलता का पर्याय बन गया। इसकी पुष्टि में मुझे बालकवि बैरागी के गीत की पंक्तियाँ याद आ रही हैं-

*खेल-खेल में माता के सब बंधन मैंने तोड़ दिए।
मेरे हौसलों ने आलस के भारी पंख मरोड़ दिए।
सच कहता हूँ इन हाथों से बीसों पर्वत फोड़ दिए।*

भारतमाता के गुलामी के बंधनों को तोड़कर मुक्त कराने के कठोरतम, संघर्ष को कवि ने 'खेल कहकर' खेल का महत्त्व प्रतिपादित कर दिया है। खेल से संघर्ष क्षमता, हौसला, उत्साह, उमंग, ऊर्जा और तन-मन में स्फूर्ति का संचार हो जाता है। इतनी हिम्मत और शक्ति प्राप्त हो जाती है कि आलस्य का प्रभाव समाप्त होकर पर्वतों जैसे कठोर और कठिन कार्य भी सहज-लगने लगते हैं। जीवन के संघर्षों से जूझने की क्षमता प्राप्त हो जाती है।

आज हमारे बच्चों के जीवन से खेल छूट रहे हैं। उनका बचपन खेल से वंचित होता जा रहा है। आधुनिक शिक्षा के व्यस्ततम गृहकार्यों ने उससे खेलने का समय छीन लिया है। पढ़ाई के समय चक्र में खेल का एक पीरियड दर्शाया तो जाता है। वह सबसे आखिरी पीरियड होता है, अर्थात् शिक्षक को एक घंटा पहले छुट्टी की वार्षिक व्यवस्था।

शिक्षा के नये प्रयोगों में खेल आधारित प्राथमिक स्तर की शिक्षा में कुछ खेल सम्मिलित किए गए हैं, किन्तु वे भी केवल समय-सारिणी तक ही सीमित रह पाते हैं। बढ़ती आबादी के भवन निर्माण शिल्प विधा में बहुमंजिले भवनों के तंग घरों में से आँगन नदारद हो गए हैं। जहाँ बच्चे या महिलाएँ थोड़ा समय निकालकर गपिया लें। सलाह मशिवरा जैसे या दूसरे मन बहलाव के खेल-खेल सकें। बालिकाएँ रस्सी कूद का खेल अभ्यास कर सकें।

खेलों की जब बात करते हैं, तब अनेक खेल हमारे मानस

पटल पर उभरने लगते हैं। प्रमुख रूप उसे हम पारंपरिक भारतीय खेलों को मुख्यतः दो वर्गों में बाँट सकते हैं- शारीरिक व्यायाम वाले खेल और मानसिक व्यायाम वाले खेल। इसी प्रकार लड़कों द्वारा खेले जाने वाले खेल तथा लड़कियों द्वारा खेले जाने वाले खेल। अधिकतर खेल तो लड़के और लड़कियों द्वारा समान रूप से खेले जाते हैं।

खेल केवल मनोरंजन या समय बिताने के लिए ही नहीं खेले जाते, अपितु उनसे शारीरिक एवं मानसिक ऊर्जा भी प्राप्त होती है। खेलों की परिगणना में, तब सबसे पहले हमारे सामने कबड्डी का खेल आता है।

कबड्डी - यह खेल आज विश्वस्तरीय लोकप्रियता प्राप्त कर चुका है। इसकी खेल प्रक्रिया तथा नियम बताना आवश्यक नहीं हैं। इस खेल से जहाँ शारीरिक क्षमता में वृद्धि होती है। वहीं प्रतिद्वंद्वी के प्रति सतर्कता बनाए रखने की क्षमता में भी वृद्धि होती है। पाले के प्रतिद्वंद्वी खिलाड़ियों के चक्रव्यूह में घुसकर उन्हें ललकार लगाकर पाले की सीमा रेखा से बाहर खदेड़ने का साहस तथा फिर नाबाद होकर तथा पाले के खिलाड़ियों को छूकर पुनः अपने पाले में लौट आने की साहसपूर्ण चतुराई देखते ही बनती है। केवल धावक (Runner) ही नहीं, उस पाले के खिलाड़ियों द्वारा किया गया धावक का घेराव। स्वयं की रक्षा करते हुए अनेक दौड़-पेंच लगाकर पकड़ में दबा लेना, दर्शकों तक की साँसों को ऊपर-नीचे करता रहता है। अद्भुत है यह कबड्डी खेल। बात यहीं नहीं थम जाती, धावक द्वारा 'कबड्डी-कबड्डी' की रट लगाते हुए साँस टूटने से पहले नाबाद अपने पाले में लौट आना और प्रतिद्वंद्वी पाले के एक-दो या अधिक खिलाड़ियों को आउट कर आना, धावक के लिए वाह-वाह का हर्षनाद गुँजा देने के लिए दर्शकों को विवश कर देता है। कबड्डी खेल में साँस को संयमित बनाए रखने की क्षमता भी बढ़ती है। यह कबड्डी-कबड्डी की रट एक प्रकार का प्राणायाम ही है। इस खेल को देखकर अनायास अभिमन्यु की याद आ जाती है।

यह खेल अब लड़कों और लड़कियों में समान रूप से लोकप्रिय हो चुका है।

खो-खो - इस खेल में एक दल लम्बी कतार में बैठ जाता है। दल में नौ खिलाड़ी होते हैं। प्रत्येक खिलाड़ी क्रम से

विपरीत दिशा में मुँह करके बैठते हैं। रनर और बाकी टीम के खिलाड़ी व एक-एक दोनों सिरों पर खड़े हो जाते हैं। फिर शुरू होता है सतर्कता और चतुराई का खेल। खिलाड़ी उद्घोष करते हैं- 'गूँजे आसमान, छू ले जवान।' पकड़ने-छूने की दौड़ शुरू हो जाती है। पकड़ने वाला खिलाड़ी एक दिशा में दोनों सिरों पर गड़े खम्बों के वृत्त में दौड़ सकता है, जबकि रनर अपनी दिशा बदल सकता है। पकड़ने वाला खिलाड़ी मौका देखकर बैठे खिलाड़ी को खो कहकर छूता है। बैठा खिलाड़ी रनर को छूने दौड़ता है। पहला खिलाड़ी उसके स्थान पर बैठ जाता है। यहीं पर दोनों खिलाड़ियों की सतर्कता परखी जाती है। छूने वाला खिलाड़ी लपक कर रनर को छूना चाहता है। वह गच्चा देकर बच निकलने का प्रयास करता है। खो प्राप्त खिलाड़ी उठते ही जिधर मुँह कर लेता है, उसे उधर ही दौड़ना होता है। इस नियम का लाभ उठाकर रनर भाग निकलता है। खो जैसे ही तत्परता, फुर्ती और सावधानी के खेल और भी हैं।

कुर्सी दौड़ - कुर्सियों के चारों ओर दौड़ते हुए अपनी कुर्सी सलामत रखने का यह खेल बालक-बालिकाओं में अत्यंत लोकप्रिय है। इसी प्रकार एक खेल बहुत पहले प्रचलित था- 'डंडा जीत राजा बन'। कुर्सियों के स्थान पर डंडे रखे जाते थे। सारी प्रक्रिया कुर्सी दौड़ जैसी होती थी। अंत में जिसके पाँव तले डंडा आ जाता था, उसे उस दिन खेल का राजा घोषित करते थे।

कोड़ा मार - इसे मैदान में गोल घेरे में खेला जाता है। खिलाड़ी एक घेरे में बैठ जाते हैं। पीछे देखना मना होता है। एक खिलाड़ी सावधानी से कोड़ा किसी खिलाड़ी के पीठ के पीछे डाल जाता है और उसी गति से दौड़ता रहता है। यदि बैठे खिलाड़ी को पता न चले, तब धावक खिलाड़ी के पीछे रखा कोड़ा उठाकर उसे कोड़े से मारता हुआ चक्राकार घुमाता हुआ उसे पूर्व स्थान तक लाता है। अगली बार भी कोड़ा उसी के पास रहता है। पकड़ा जाने पर बैठा खिलाड़ी उसके पीछे मारता हुआ दौड़ता है। तब कोड़ा उसके पास आ जाता है। इस खेल को बालक-बालिकाएँ दोनों खेलते हैं।

चील झपट्टा - यह खेल भी गोल घेरे में खेला जाता है। घेरे के अर्द्धवृत्त में एक दल तथा दूसरे अर्द्धवृत्त में दूसरा दल सम्मिलित रहता है। घेरे के मध्य एक छोटा घेरा बनाकर उसमें

एक रुमाल रख दिया जाता है। दोनों अर्द्धवृत्तों के खिलाड़ियों को क्रमांक देकर तैयार रखा जाता है। दोनों दलों के समान क्रमांक वाले खिलाड़ियों को रेफरी दौड़ाता है। दोनों रुमाल की ओर दौड़कर चील की तरह झपटकर उस रुमाल को उठाना चाहते हैं। जिस दल का खिलाड़ी सफल हो जाता है। उस दल के खाते में एक नम्बर जुड़ जाता है। अंत में अधिक नम्बर वाला दल विजेता घोषित हो जाता है।

बिल्ली-चूहा पकड़ - इस खेल को भी घेरे में ही खेला जाता है। बालक-बालिकाएँ हाथ पकड़कर गोल घेरा बनाते हैं। एक खिलाड़ी चूहा बनता है। वह घेरे के भीतर रहता है। दूसरा खिलाड़ी बिल्ली बनता है, वह घेरे के बाहर रहता है। घेरे वाले खिलाड़ी बिल्ली को भीतर नहीं आने देते और भीतर आ जाए तो बाहर नहीं निकालने देते। वह घेरा तोड़कर या दुबक कर भीतर घुस जाता है, तब चूहा निकल आता है। चूहे को रोक-टोक नहीं होती। इस होड़ा-होड़ में जब चूहा पकड़ा जाता है, तब बिल्ली वाला खिलाड़ी चूहे का स्थान ले लेता है। घेरे वाले खेलों में यह सर्वाधिक भागम-भाग और होड़ा-हाड़ी का खेल है।

कुकडूकूँ - यह भी घेरे का खेल है। घेरे में एक खिलाड़ी मुर्गा बनता है। वह एक साथी मुर्गा चुनता है। दोनों मुर्गों घेरे के खिलाड़ियों को खींचकर अपना दल बढ़ाते हैं। घेरे के खिलाड़ी भीतर के खिलाड़ियों को बाहर खींचकर अपना दल बढ़ाते हैं। जिनकी संख्या बढ़ जाती है, वह दल विजेता घोषित होता है। बाहर से घोष होता है- 'मुर्गा बोले कुकडूकूँ'। भीतर से उत्तर आता है- मुर्गा किसका? बाहर से आवाज आती है- मुर्गा राम का।' इसी घोष के साथ मुर्गों में खींचतान शुरू हो जाती है।

इसी क्रम में कुछ खेल ऐसे भी हैं जो पर्व-त्योहार पर खेले में अधिक दिखते हैं।

गुल्ली डंडा - भारतीय खेलों में गुल्ली डंडे का खेल बहुत प्राचीन एवं लोकप्रिय है। वैसे तो इसे वर्ष भर खेला जाता है, किन्तु मकर संक्रांति पर विशेष रूप से खेला जाता है। इसकी खेल प्रक्रिया सर्वविदित है। इसमें शारीरिक क्षमता, विशेषकर भुजबल एवं निशाना साधने की क्षमता सावधानी एवं दक्षता का महत्त्व होता है। इसे खेलने के लिए बड़ा मैदान चाहिए।

रस्सी कूद - यह खेल मुख्य रूप से बालिकाओं द्वारा खेला जाता है। इसके अनेक प्रकार हैं। एकतार संख्या होड़, अनेक लड़कियों द्वारा निरंतर रस्सी कूदना और अंत में नाबाद खिलाड़ी को विजेता घोषित करना। दो बालिकाओं द्वारा लम्बी रस्सी के दोनों छोर पकड़कर गोलाकार घुमाना और तीसरी खिलाड़ी द्वारा उसे उल्लाँघते रहना। यह खेल शारीरिक सौष्ठव तथा सुडौलता के लिए बहुत कारगर है। इसे घर के आँगन, छत अथवा कमरे के भीतर भी खेला जा सकता है। शारीरिक व्यायामों में यह सर्वोत्तम है। शरीर के समस्त अंगों का व्यायाम इससे हो जाता है।

सत्तौलिया - यह गेंद से खेला जाने वाला खेल है। बहुधा मटके की ठीकरियों को गोल पहियों की तरह घिसकर एक इंच सर्कल के सात पहिए बनाए जाते हैं। उन्हें एक पर एक जमा कर एक खिलाड़ी लगभग आठ-दस फुट दूरी से छोटी गेंद (कपड़े की बनी) से निशाना लगाकर सत्तौलिये को गिरा देता है। दूसरे खिलाड़ी गेंद को पकड़ने दौड़ते हैं। इस बीच निशानेबाज खिलाड़ी को वे सातों पहिये जमाकर सत्तौलिया तैयार करना होता है। तैयार होते ही वह चिल्लाकर कह उठता है- 'सित्तौलिया'। यह उसकी जीत का घोष होता है। यदि सत्तौलिया बनाने से पहले किसी खिलाड़ी ने गेंद उठाकर उसे मार दी तो वह हारा हुआ माना जाएगा। यह खेल तत्परता, फुर्ती और निशानेबाजी का करामाती खेल है।

दड़ीमार का हजारिया - एक बड़े मैदान में खिलाड़ी एकत्र हो जाते हैं। एक खिलाड़ी हवा में गेंद उछालता है। उसे जो भी खिलाड़ी झपट लेता है। एक प्रहारक होता है। सब खिलाड़ी उसके गेंद प्रहार को निष्प्रभावी करते हैं, इस बीच वह सबको गेंद से मारता है। गेंद की यह मार बहुत जोर की होती है। यदि कोई खिलाड़ी गेंद की मार से बचकर उसे झेल लेता है। तब गेंद के प्रहार का अधिकार उसे हो जाता है। इस प्रकार यह खेल चलता रहता है। यह खेल युद्ध अभ्यास जैसा माना जाता है।

अखाड़ा खेल - अखाड़ों में लट्ठ-तलवार, गदा इत्यादि का अभ्यास करवाया जाता है। इस अभ्यास का प्रदर्शन धार्मिक जुलूसों में अथवा मेलों में खूब होता है। यह प्रदर्शन आज भी लोकप्रिय है। पहले इसका उद्देश्य युद्ध अभ्यास था। आज मात्र मनोरंजन प्रदर्शन है।

फुँदी फटाका - यह खेल दो लड़कियों की जोड़ी से खेला जाता है। दो लड़कियाँ केंचीनुमा एक दूसरे के हाथ पकड़ लेती हैं। पाँवों के पंजों को पास-पास ले आती हैं। फिर पैरों के पंजों को जोड़कर पीछे झूल जाती हैं। तथा पैरों के ठस्के से चक्राकार घूमती है। ऐसे चक्राकार घूमने से उनकी वेणियाँ हवा में झूलती दिखती हैं। तब दूसरी लड़कियाँ गीत गाती हैं- 'फुँदी फटाको, जीवे म्हारो वीरो, जीवे म्हारो काको।' गीत लम्बा चलता है। इस गीत से ताल लय बनती है। इस खेल से लड़कियों में अद्भुत देह क्षमता तथा ऊर्जा संचरित होती है। इसे नृत्यों में भी शामिल किया जाता है। मैदान में इस खेल की एकाधिक जोड़ियाँ एकसाथ खेल रचाती हैं। बड़ा मनोरम दृश्य बनता है। जो जोड़ी अंत में नाबाद रह जाती है। उसे विजेता घोषित किया जाता है।

पौआ - इस खेल में चौखटे बनाए जाते हैं। एक लड़की कवेलू या किसी ठीकरी का गोल पासा पहले खाने में फैंकती है। वह लंगड़ी होकर पहले खाने में जाती है और बाहर आ जाती है। इसी प्रकार वह सभी खाने पर जाती है। पांसा या पौआ पाली या चौखट की पंक्तियों/रेखाओं को नहीं छूना चाहिए, यह उसके खेल का प्रथम चरण हुआ। दूसरी बार वह पौआ सिर पर रखकर क्रम से सभी चौखटे पार करेगी। तीसरी बार वह कोहनी में पौआ दबाकर उसी क्रम से सभी चौखटे पार करेगी। तीनों चरणों में नाबाद रहने पर वह विजयी मानी जाएगी। ऐसा सभी लड़कियाँ क्रम से खेलती हैं।

लंगड़ी - इस खेल को किसी चौड़ी गली, सड़क या मैदान में लड़कियाँ खेलती हैं। खेल की चौहद्दी तय कर ली जाती है। एक लड़की एक टाँग पर दौड़कर दूसरी लड़कियों को घेरकर दौड़ाकर छूने का प्रयत्न करती हैं। शेष लड़कियाँ स्वयं को बचाती हुई लंगड़ी लड़की को छूने हल्की चपत लगाने उसके निकट आते हैं, किंतु वह लंगड़ी लड़की उन्हें छू नहीं पाए इसका भी ध्यान रखती है। यदि वह लंगड़ी लड़की किसी लड़की को छू ले तो दाम उससे उतर कर जिसको उसने छू लिया है, उस पर आ जाता है। दाँव देने वाली लड़की का पाँव यदि जमीन पर टिक जाए, तब उसे हारा हुआ माना जाता है। वह टीम से बाहर हो जाती है। पाँव बदलने का अवसर उसे मिलता है। इसके लिए उसे अपने घर के आँगन में अथवा टीम द्वारा निर्धारित स्थान पर लौटना पड़ता है।

धूप लेके छैयाँ - नदी पहाड़, अंधी दाम, आँख मिचौनी, छुपा-छुपी ये सभी खेल एक जैसे हैं। पकड़ा-पकड़ी के दाँव हैं। धूप के छैयाँ में एक टोली धूप चुनती है, एक टोली छाँव। नदी-पहाड़ में एक टोली नदी अर्थात् तल चुनती है, दूसरी पहाड़ अर्थात् चबूतरे। अंधी दाम में आँखों पर पट्टी बाँधी जाती है। आँख मिचौनी में सब छुप जाते हैं। दाम वाले की आँखें उनके छुपने तक बंद रहती हैं। छुपा-छुपी में किंवाड़ों के पीछे या अलमारियों के पीछे छुपा जाता है। एक खिलाड़ी ढूँढता है या छूता है। यथा धूप-छैयाँ में यदि दाम वाला छैयाँ माँग लेता है, तब छाया में आने पर वह छू कर उसे आऊट कर देता है। बचाव के लिए पहाड़ अर्थात् चबूतरे पर चढ़ना पड़ता है। ऐसे ही अनेक खेल हैं, जो लड़कियों व लड़कों द्वारा सरलता से घर के भीतर, गली में, आँगन में या मैदान में खेले जा सकते हैं।

कलाम- डाली - यह खेल वृक्षों पर चढ़कर दाम देने का होता है। टोली के शेष खिलाड़ी वृक्ष पर चढ़ जाते हैं। दाम देने वाला वृक्ष की डालियों पर बैठे साथियों को पकड़ने के लिए उन्हें डालियों पर घेरता है। एक डाली से दूसरी डाली पर बंदरों की तरह कूद-फाँद होती है। वह जिसे पकड़ लेता है, उस पर दाम चढ़ जाता है। यह खेल जहाँ खिलाड़ियों में वृक्षों पर चढ़ने, उतरने, लटकने, कूदने की क्षमता उत्पन्न करता है, वहीं खतरों भी बनाए रखता है। आजकल इसका चलन कम हो गया है।

आती-पाती - यह खेल कहीं भी एक स्थान पर बैठकर भी खेला जा सकता है। सब लड़के मिलकर अनेक वृक्षों की पत्तियाँ एक टोकरे में एकत्र कर लेते हैं। फिर बारी-बारी से दाम देते हैं। दाम वाले लड़के को किसी विशेष वृक्ष की पत्ती खोजने के लिए कहा जाता है। वह टोकरे में एक अभीष्ट पत्ती खोजता है। तब उससे उस पत्ती के गुण दोष पूछे जाते हैं। यदि वह बता देता है, तब उससे यह पूछा जाता है कि फला वृक्ष गाँव में या गाँव की निर्धारित दिशा सीमा तक कहाँ-कहाँ है।

इस खेल से वृक्षों की पहचान व उनके उपयोग की जानकारी के साथ-साथ उनकी उपस्थिति भी पता रहती है। ऐसा एक खेल गाँव की फसलों को जानने का भी होता है।

साख पिछाणी - साख अर्थात् फसल, पिछाणी अर्थात् पहचान खिलाड़ी बालक-बालिकाएँ एक स्थान पर बैठ जाते हैं। बहुधा घेरे में, दाम देने वाला खिलाड़ी खड़ा होता है। उसे गाँव के

किसी किसान का नाम बताकर पूछा जाता है- 'कई-कई वायो' कतरो रकवो? दिसा निसाणी।' फला किसान ने खेत में कौन-कौन सी फसलें बोई हैं। उसके खेत का रकवा (लम्बाई-चौड़ाई-बीघा आदि) कितना है? खेत कहाँ स्थित है। जो नहीं बता पाता, उसे पास वाला सात घुम्में पीठ पर लगाता है।

बैल-बैल बक्कू आयो - यह खेल गाँव के पशुओं की पहचान से सम्बन्ध रखता है। रात को गाँव के सभी किशोर एक स्थान पर एकत्र होकर गाँव के पशु पहचानों का खेल खेलते हैं। बारी-बारी से किसी एक किशोर से किसी किसान का नाम कहकर उसके पशुओं की जानकारी पूछते हैं। नहीं बता पाने पर उसे प्रताड़ित कर अगले दिन जानकारी लाने का हुकुम सुनाते हैं।

इससे भी कठिन खेल तब होता है, जब गाँव के किसी पशु का हुलिया बताकर यह पूछा जाता है कि, यह किसका बैल है? इस खेल का अभिप्राय होता है कि प्रत्येक किशोर युवक गाँव के पशुओं को पहचाने। यदि कभी कोई पशु चोरी हो जाये तो गाँव का प्रत्येक व्यक्ति उसे पहचान सके। केवल बैल ही नहीं, गाय, भैंस, बकरा-बकरी, भेड़, घोड़ा आदि का हुलिया भी पूछा जाता है।

हमचो - हमचो का अर्थ है समाचार। खिलाड़ी प्रतिभागियों की एक लम्बी कतार बनाई जाती है। मुखिया नम्बर कह खिलाड़ी को कोई समाचार कान में कहता है। पहला प्रतिभागी दूसरे को इस प्रकार वह समाचार कानोकान अंतिम प्रतिभागी तक पहुँचाता है। अंतिम प्रतिभागी समाचार को मुखिया के पास आकर कहता है। यदि वह समाचार वैसा का वैसा नहीं होता, जैसा प्रथम प्रतिभागी को दिया गया था, तब मुखिया सबको एक क्रम से बुलाकर समाचार सुनाता है। जिस खिलाड़ी ने समाचार बदला था, उसे मैदान का चक्कर (जितने मुखिया कहे) लगाना होता है।

यह खेल स्मृति की प्रौढ़ता तय करता है। पूर्वकाल में इसका बहुत महत्त्व था। आज भी है। शारीरिक अभ्यास के अतिरिक्त मानसिक अभ्यास के भी अनेक खेल हैं।

चंगपौ/ सोला सार - दोनों खेल चौपड़ और शतरंज की शैली के सरल ग्रामीण खेल हैं। इन्हें घर, आँगन, चबूतरों पर कहीं भी खेला जा सकता है। इमली के बीजों को फोड़कर पाँसे

बना लिए जाते हैं। इसी को 'अंग-बंग चौक चंग' कहा जाता है। खेल की चौसर खड़िया या कोयले से बना ली जाती है। इस खेल की प्रक्रिया और नियम सर्वज्ञात है। चौसर मांडना भी सहज है। सब कोई जानता है।

कुशती - यह पहलवानी खेल है। भारत में यह अति प्राचीन खेल रहा है। रामायण काल और महाभारत काल में इसके प्रमाण मिल जाते हैं। इसे मल्ल विद्या भी कहा जाता है। इसका अभ्यास और दांव पेंच गुरु ज्ञान व निजी अभ्यास पर निर्भर करता है।

पतंगबाजी - पतंग उड़ाना फिर पतंग काटना। वो कटा SSS.....की उल्लास भरी आवाजों के साथ आकाश नापना और गुंजाना, पतंगबाजी लोकप्रिय खेल है। यह खेल भारत में मकर संक्रांति से सप्ताह भर पहले शुरू होकर एक सप्ताह बाद तक चलता रहता है। संक्रांति से पहले ही बाजारों में पतंगे सज जाती हैं। लड़के-लड़कियाँ, युवक-युवतियाँ सब इस खेल का आनंद खूब लेते हैं। जापान तो विश्व में पतंगबाजी का सर्व प्रसिद्ध देश माना जाता है। विभिन्न आकार की पतंगे विभिन्न रंगों की पतंगे आकाश छूती दिखती हैं।

पुराकाल में बैलों, श्वानों, कबूतरों और मुर्गों का मल्लयुद्ध भी मनोरंजन का माध्यम रहा है। इसे नृशंस खेल मानकर इसे बंद करने के प्रयास समय-समय पर होते रहे हैं। खेल मानव जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। बच्चे अपने खेलों के माध्यम से भावी जीवन की शिक्षा एवं प्रशिक्षा प्राप्त करते हैं। एक समय था जब गली-मोहल्लों में एक मीठी आवाज गूँजती थी- 'खिलौने वाला'। एक लम्बा बाँस, बाँस पर रंगबिरंगी चक्रियाँ, मिट्टू, बाँसुरियाँ और कई सुंदर खिलौने बच्चों को लुभाते थे। बालिकाओं द्वारा भाँति-भाँति की गुड़ियाँ बनाना, उन्हें अपनी सहेली बनाना। उनका विवाह रचाना। एक आनंद का विषय था। स्थानीय लोक-कलाकारों द्वारा मिट्टी के खिलौने, हथ चक्की, मिट्टू, हाथी, घोड़ा, राजा, मंत्री, गुड़िया, रानी और कई खिलौने बनते थे। जिन्हें रंगबिरंगे बनाकर गली-मोहल्ले में वह बेचने आते थे, वह लोक परम्परा क्षीण सी हो रही है। खेल और खिलौने दोनों लुप्त हो रहे हैं। बचपन से उमंग और उल्लास भी लुप्त हो रहा है। यह अत्यंत चिंता का विषय है। मनोवैज्ञानिकों और विशेषकर बाल-मनोवैज्ञानिकों को इस पर गम्भीरता से विचार करना होगा।

गोंड आदिवासियों के खेल

प्रो. शफीक मोहम्मद

भारत युगों से विभिन्न संस्कृतियों, आस्थाओं, मान्यताओं, खेलकूद आदि का देश रहा है। भारत देश विभिन्न संस्कृतियों का संगम है। भारत में अनेक ऐसे समुदाय एवं जातियाँ हैं, जो दूरस्थ वन प्रांतों एवं पहाड़ों की प्राकृतिक वादियों में सादा एवं सरल जीवन व्यतीत करते हैं। आधुनिक भौतिकवादी सभ्यता से दूर इनकी परम्परायें और रीति-रिवाज आदि अपने आप में ही अनूठी हैं। इनकी अपनी बोली-भाषा होती है। अपने पूर्वजों से विरासत में प्राप्त संस्कृति से इन्हें बेहद प्यार है। प्रकृति की स्वच्छन्द गोद में भीड़-भाड़ से दूर गिरि-कंदराओं, घने जंगलों के आसपास निवास करने वाली गोंड जनजाति अपनी कम से कम आवश्यकताओं के साथ प्राकृतिक जीवन-यापन करती है। प्रकृति के रूप में 'बड़ा देव' इष्ट एवं आराध्य हैं। जंगल के साजा वृक्ष में गोंड बड़ा देव का निवास मानते हैं। धरती की खुशबू और प्राकृतिक वातावरण से इनकी संस्कृति, खेलकूद आदि ढलकर निकलते हैं। गोंड जनजाति की संस्कृति एवं खेलकूद आदि अपने आपमें सम्पूर्ण एवं परिपूर्ण हैं। इन्होंने सांस्कृतिक सीमाओं में रहते हुये अपनी बहुमूल्य कला, परम्परा एवं खेलकूद आदि को संजोया-संवारा एवं समृद्ध किया है। इनके जीवन में सरलता, कर्मठता एवं ईमानदारी इनका विशेष गुण है। ये खुले आसमान की तरह ही उन्मुक्त हैं। रात-दिन प्राकृतिक वातावरण से संघर्ष करना इनके जीवन का लक्ष्य है। गोंडों का मुख्य पेशा खेती-बाड़ी करना है। वनोपज एकत्र करना भी इनकी आय का साधन है। पेज और भाजी इनका मुख्य भोजन है। इनका प्रिय पेय पदार्थ दारू है। इनके पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन के किसी भी साधारण या महत्वपूर्ण कार्य में दारू की अनिवार्यता होती है। गोंड महिलायें- पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करती हैं। गोदना इनका प्रिय शौक है। इसे वे अपना प्रिय श्रृंगार मानती हैं।

जिस तरह लोक संगीत या आदिम संगीत इनके स्वस्थ मनोरंजन का साधन है, ऐसे ही मनोरंजन के साधन इनके खेल हैं। खेल और जिंदगी दोनों का घना सम्बन्ध है। खेल का प्रभाव जिंदगी और जिंदगी की छाप खेल पर पड़ती है। इनके सीधे और सरल खेल समाज में विशेष स्थान रखते हैं। इनके खेलों में विशेष सामग्री की आवश्यकता नहीं होती है। कंकड़, पत्थर, धूल, लकड़ी, पत्ता आदि साधनों से ही खेल जम जाता है। खेल के लिये खास मैदान या चबूतरा भी नहीं चाहिये। घर का छोटा आँगन, गली-खोरी आदि कहीं भी खेल खेले जाते हैं। हार-जीत का निर्णय खिलाड़ी स्वयं कर लेते हैं। खेल में वेश-भूषा का कोई महत्त्व नहीं है और न ही खिलाड़ियों को शिक्षण-प्रशिक्षण देने की आवश्यकता होती है। सब कुछ परम्परानुसार होता है। कोई भी नवसिखा खिलाड़ी एक बार खेल देखकर उसे खेल सकता है। इसी तरह खिलाड़ियों की कोई संख्या निश्चित नहीं होती है। नियम इतने सादे-सरल और कम होते हैं कि उनका पालन अपने आप हो जाता है। खेलों में व्यायाम के साथ-साथ मनोरंजन भी खूब होता है। आपस में झगड़े-झांसे भी नहीं होते हैं। खेलों में समय की कोई पाबंदी नहीं होती है। जब जी में आया- शुरू कर दिया, जब जी में आया- बंद कर दिया। इन्हीं सब गुणों और विशेषताओं के कारण गोंड बंधुओं के खेल पुरातन होते हुये भी लोकप्रिय हैं।

खेलों का समय अधिकतर फुर्सत के दिनों का होता है। जब खेत-खलिहानों में काम रहता है, उन दिनों खेलों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है। गर्मी और ठंड के दिनों में जब भी खेती के काम से अवकाश मिलता है, खेलों का रंग जम जाता है। यहाँ गोंड जनजाति के लोगों द्वारा खेले जाने वाले कुछ मनोरंजक खेलों के सम्बन्ध में उल्लेख किया जा रहा है। गोंडों के प्रमुख खेल निम्नानुसार हैं- गढ़ा गेंद, बिस खपरी, डंडा चूमना, फुर्र-फुर्र, कूकी की हांक और लुखरी दांव।

गढ़ा गेंद

गेंद के खेलों में 'गढ़ा गेंद' का खेल बड़ी चतुराई और मेहनत का है। सभी खिलाड़ियों के हाथ में एक डंडा रहता है। मैदान में खिलाड़ी अपने-अपने लिये कुछ फासले पर एक-एक स्थान निश्चित कर लेते हैं, जिसे गढ़ा कहते हैं। ये पत्थर रखकर

भी बना लिये जाते हैं। खिलाड़ियों के पास कपड़े की बनी हुई एक गेंद होती है। आपसी सहमति से किसी एक टोली का मुखिया उस गेंद को डंडे से मारकर दूर फेंकता है। दांव देने वाला लड़का उसे पकड़ने को लपकता है। वह गेंद को पकड़कर खिलाड़ियों के बीच में फेंकता है। टोली के खिलाड़ी जिसके करीब वह गेंद है- डंडे की चोट से उसे दूर फेंकने का प्रयास करते हैं। अब दांव देने वाला लड़का जल्दी से झपटकर उस गेंद को वहीं पकड़ता है। तुरंत ही पास वाले खिलाड़ी पर गेंद से चोट करता है। खिलाड़ी लड़का चोट से अपने को बचाता है। चोट से बचाने के साथ-साथ वह अपने गढ़े को उस लड़के से छू जाने से बचाता है। यदि खिलाड़ी लड़का गेंद की मार खा गया अथवा उसका गढ़ा दांव देने वाले लड़के ने छू लिया- तो दांव देने वाला लड़का खिलाड़ी बन जाता है और वह खिलाड़ी लड़का दांव देने लगता है। खेल का यही क्रम घंटों चलता है। इस खेल में गेंद मारना, गेंद झेलना, गेंद की मार से बचना, गढ़े की रक्षा करना आदि का खूब अभ्यास होता है, जिसमें खिलाड़ी की चपलता देखते ही बनती है। गढ़ा गेंद खेल से सतर्कता एवं फुर्ती आदि गुणों का अच्छा विकास होता है। इस खेल में दौड़ खूब होती है।

बिस खपरी

इस खेल के नाम से ही ज्ञात होता है कि खपरे के बीस टुकड़ों से सम्बन्ध रखता है। घर के छप्पर में छाने वाले खपरों के चन्द टुकड़े आदिवासी बालकों के खेल में साधन बन जाते हैं। गाँव के लड़के गली-खोरी में इकट्ठे हुये, आपस में हँसते हुए सहमति बनी और बिस खपरी का खेल शुरू हो जाता है। आनन-फानन में खपरों के टुकड़े बीनकर इकट्ठे किये जाते हैं, उन्हें नीचे से घटते क्रम में आकार देकर बीस टुकड़े गोल, चौकोर या आयताकार बनाये जाते हैं। अर्थात् नीचे का टुकड़ा सबसे बड़ा और ऊपर की ओर घटते क्रम में सबसे ऊपर का बीसवां टुकड़ा सबसे छोटा होता है। खपरों के टुकड़ों के इस सेट को ही 'बिस खपरी' कहते हैं, जो गिनती में 20 की संख्या में होते हैं। इस खेल को लड़के एवं लड़कियाँ दोनों खेलते हैं, किन्तु लड़के और लड़कियाँ मिलकर नहीं खेलते हैं। लड़कों का समूह अलग और लड़कियों का समूह अलग होकर इस खेल को खेलते हैं। खेल शुरू करने के लिये गाँव के एकत्र खिलाड़ी सर्वसम्मति से दो

टोलियों में बँट जाते हैं। खेल कौन सी टोली शुरू करे, इसके लिये भी खिलाड़ियों का 'टॉस' करने का सरल तरीका है। बिसखपरी में से एक टुकड़ा लिया जाता है। उसमें एक ओर थूक दिया जाता है। अब टोली के दोनों मुखियों को बुलाकर यह तय किया जाता है कि टुकड़े का कौन सा भाग अमुक मुखिया पसंद करता है। अर्थात् थूक वाला या सूखा भाग। यह तय हो जाने के बाद टुकड़े को ऊपर आसमान में उछाला जाता है। जिस टोली का मुखिया जीतता है, वही खेल प्रारंभ करता है। इस तरह अब खेल प्रारम्भ होता है। एक टोली खेलने वाली और दूसरी टोली दांव देने वाली कहलाती है। इस खेल में खिलाड़ियों की कोई संख्या निश्चित नहीं होती है। खेल शुरू होने के बाद भी यदि कोई लड़का आकर खेलने की इच्छा जाहिर करता है, तो वह अपनी मर्जी से किसी भी टोली में शामिल हो सकता है।

सर्वसम्मति से बिस खपरी को एक निश्चित स्थान में रखा जाता है। रखी गई बिस खपरी के स्थान से 15-20 फुट की दूरी पर एक 'अड्डा' बनाया जाता है। इस निश्चित किये गये अड्डे से खेलने वाली टोली का एक खिलाड़ी गेंद से बिस खपरी पर चोट मारता है। चोट मारने का अवसर प्रत्येक खिलाड़ी को केवल तीन बार दिया जाता है। यदि वह तीनों अवसरों पर गेंद की चोट से बिस खपरी की ढेरी नहीं गिरा सका, तो चोट मारने वाला वह खिलाड़ी खेल से बाहर कर दिया जाता है। इस प्रकार खेलने वाली टोली का एक खिलाड़ी कम हो जाता है। फिर दूसरे खिलाड़ी को अवसर दिया जाता है। परन्तु यदि पहले ही खिलाड़ी ने चोट मारकर ढेरी गिरा दी तो दांव देने वाली टोली सामूहिक रूप से यह कोशिश करती है कि अब खेलने वाली टोली ढेरी पुनः न बना सके और इसी बीच वे खेलने वाले खिलाड़ियों को गेंद से चोट मारते हैं। यदि किसी खिलाड़ी को चोट लग गई तो उसे खेल से बाहर कर दिया जाता है, किन्तु यदि चोट नहीं लग पाती और गेंद दूर निकल जाती है, तो खेलने वाली टोली का यह प्रयास रहता है कि गेंद फिर से आने के पूर्व यह बिस खपरी की ढेरी को फिर ज्यों का त्यों बना दी जाये। चूँकि बिस खपरी के बीस टुकड़े होते हैं, अतः एक के ऊपर एक बनाने में समय लगता है और कभी-कभी बनी बनाई बिस खपरी जल्दी के कारण गिर जाती है और गेंद फिर से वापस खिलाड़ी तक आ जाती है। यदि ढेरी जमाने में टोली को सफलता मिल जाती है, तो

दांव देने वाला वही खिलाड़ी फिर से अड्डे पर खड़े होकर ढेरी में चोट मारकर गिराने का भरसक प्रयास करता है। ढेरी गिरते ही खेलने वाले सभी खिलाड़ी ताबड़-तोड़ भागकर गेंद की मार से बचने की कोशिश करते हैं। यही क्रम खेल के पूरे समय तक चलता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि बिस खपरी (ढेरी) पर चोट मारते समय यदि खेलने वाले किसी खिलाड़ी ने गेंद जमीन पर गिरने से पहले गेंद रोक ली (कैंच कर ली) तो वह खिलाड़ी खेल से बाहर कर दिया जाता है।

खेल का यह क्रम तब तक चलता है, जब तक खेलने वाली टोली के सभी खिलाड़ी खेल से बाहर नहीं हो जाते हैं। जब सभी खिलाड़ी खेल से बाहर हो जाते हैं, तब दांव देने वाली टोली को खेलने का अवसर मिलता है और खेलने वाली टोली दांव देने लगती है। इस तरह पारियाँ बदलती रहती हैं। खेल घंटों चलता है और तब तक चलता है, जब तक सभी एकमत से खेल बंद करने के लिए राजी होते हैं। यह खेल परिश्रम, चपलता, सफलता एवं एकता का प्रतीक है।

डंडा चूमना

डंडा चूमना गोंड जनजाति के बालकों का अत्यंत लोकप्रिय खेल है। वास्तव में गोंडों के लड़के पहाड़ी जीवन व्यतीत करने के कारण वृक्षों पर चढ़ने, डालों पर झूलने आदि का उन्हें अच्छा और भरपूर अभ्यास रहता है। जीवन के अधिकांश क्षण वे जंगलों, पहाड़ों और वृक्षों के साथ गुजारते हैं। डंडा चूमना वृक्षों और डालियों का खेल है। इस खेल में वही लड़का भाग लेता है, जो अत्यंत फुर्ती के साथ झाड़ों में चढ़ और उतर सके। क्योंकि थोड़ी सी चूक जीवनभर के लिये खतरनाक हो सकती है। वैसे इस खेल के लिये कोई निर्धारित समय नहीं है। वर्षाकाल के कुछ दिनों को छोड़कर यह खेल कभी भी खेला जाता है। ग्रीष्म काल की दोपहरी में इस खेल की सर्वाधिक चहल-पहल होती है। लड़कियाँ इस खेल में भाग नहीं लेती हैं।

चूँकि यह खेल झाड़ों और डगालों से सम्बन्ध रखता है, अतः ज्यादातर इस खेल के लिये इमली या शीशम के वृक्ष चुने जाते हैं। क्योंकि इन वृक्षों की डगालें अत्यंत मजबूत और लचीली होती हैं। गाँव के लड़के एकत्र होते हैं और जंगल को कूच करते हैं। झाड़ के नीचे पहुँचकर सर्वानुमति से किसी एक लड़के को

अगुवा चुन लिया जाता है। इस खेल में अन्य खेलों की भाँति दो दल नहीं बनाये जाते हैं। अगुवा चुना लड़का मुखिया कहलाता है। अब मुखिया दो फुट लम्बा एक डंडा लेकर झाड़ के नीचे से दूर फेंकता है। इसके पूर्व दांव देने वाले लड़के का निर्धारण एक सामूहिक प्रक्रिया के द्वारा किया जाता है। खेलने वाले सभी लड़के एक गोल घेरे में खड़े होते हैं। अगुवा खिलाड़ी लड़का सभी लड़कों की गिनती निम्नानुसार शब्दों के द्वारा करता है-

आंच-कांच पूरे पांच, नदी किनारे काला सांप, लाओ लाठी मारो सांप।

अगुवा लड़का गोले में खड़े हुये सभी लड़कों की छाती में एक बाद एक उंगली रखकर इन शब्दों को लय-ताल से बोलता है। गोले में खड़े हुए जिस लड़के पर 'साँप' शब्द का अंत होता है, वह गोले में से अलग कर दिया जाता है, तथा शब्दों का उच्चारण फिर प्रारम्भ होता है और दूसरा लड़का अलग किया जाता है। इस तरह बारी-बारी से सभी लड़के अलग होते जाते हैं तथा जो लड़का अंत में शेष बचता है, वह दांव देने वाला होता है। इस रोचक प्रक्रिया में सभी लड़के आनंद लेते हैं, हँसी के फव्वारे फूटते हैं।

इस प्रकार ज्यों ही दांव देने वाला खिलाड़ी तय हो जाता है, वह मुखिया द्वारा दूर फेंके गये डंडे को उठाने के लिये फुर्ती से दौड़ लगाता है। डंडा काफी दूर फेंका जाता है ताकि उसे उठाकर लाने में समय लगे और सभी खिलाड़ी वृक्ष के ऊपर उसकी डालियों में चढ़ जायें। लड़के डालियों में चढ़ जाते हैं और दांव देने वाला खिलाड़ी लड़का डंडा उठाकर वृक्ष के नीचे आता है। वह डंडे को 'चूमकर' वृक्ष के नीचे रख देता है। खेल की इसी पहल के कारण खेल का नाम 'डंडा चूमना' पड़ा है। अब खेल का असली भाग प्रारंभ होता है। दांव देने वाला लड़का भी वृक्ष पर चढ़ता है और यह प्रयास करता है कि वह चढ़े हुये लड़कों में से किसी को छू ले। इधर पूर्व से चढ़े लड़के यह प्रयास करते हैं कि वे दांव देने वाले लड़के से बचकर किसी तरह नीचे रखे डंडे छू ले। इसलिये वे झाड़ से नीचे उतरने की कोशिश करते हैं और दांव देने वाला लड़का नीचे रखे हुए डंडे को बचाने का प्रयास करता है। दोनों की चतुराई खेल को दिलचस्प बनाती है। यदि अपने चतुराई से वृक्ष पर चढ़े हुये किसी लड़के ने डंडा

छू लिया तो उस डंडे पर उसका कब्जा माना जाता है और वह डंडे को ऊपर चढ़े हुये अपने साथियों को देने का भरपूर प्रयास करता है। इस प्रकार जितने लड़के डंडा छू लेते हैं, वे मीर (विजयी) माने जाते हैं जो नहीं छू पाते और उनमें किसी को दांव देने वाला लड़का छू लेता है, तो उसे दांव देना पड़ता है। इस तरह यदि सभी लड़के नीचे रखे हुए डंडे को छूने में सफल होते हैं, तो वे सभी मीर हो जाते हैं और दांव देने वाले लड़के को फिर से दांव देना पड़ता है, अर्थात् फिर से डंडा फेंका जाता है, दांव देने वाला फिर उठाकर लाता है और खेल का पूरा क्रम पूर्ववत् चलता है। यह खेल अत्यंत होशियारी, साहस और जीवट प्रकृति का है। जरा सी चूक होने से खतरनाक साबित हो सकता है। अच्छे अभ्यासी लड़के जब बन्दरों की भाँति एक डाल से दूसरी डाल पर उछल-कूद करते हैं तथा छिपकली के समान झाड़ पर चिपकते हैं, तब उनकी छटा देखते ही बनती है।

फुर्र-फुर्र

यह खेल मूल रूप से लड़कियों का खेल है। इस खेल में गाँव की छोटी-बड़ी लड़कियाँ शामिल होती हैं, किन्तु किशोरी वय की लड़कियाँ ही ज्यादा इस खेल को खेलती हैं। फुर्र-फुर्र खेल का संकेत है। वास्तव में यह खेल लड़कियों की प्रकृति का ही है। खेल का कोई समय या ऋतु निश्चित नहीं है। जब भी मौका मिला, लड़कियाँ इकट्ठी हुईं और खेल जम जाता है। घर का आँगन ही खेल का स्थल होता है। खासकर वह आँगन जिसमें पिरमिटिया (पारें) बनी हुई होती हैं। गाँव के कई आँगनों में यह खेल चलता है। इस खेल में लड़कियों के मनोरंजन के साथ-साथ पैरों का खूब व्यायाम होता है। चित्त की एकाग्रता का अभ्यास ही इस खेल का मनोवैज्ञानिक तथ्य है। खेल की विधि इस प्रकार है कि आँगन में लड़कियाँ गोल घेरे में सामने की ओर पैर फैलाकर ऐसी बैठती हैं कि सामने वाली लड़की से एक-दूसरे की एड़ी और पंजे सट कर मिल जायें। इस तरह गोल घेरे में एक दूसरे के साथ मिल जाते हैं। उनका आकार ऐसा बनता है, मानो फूल खिला हो। अब सभी लड़कियाँ एक स्वर में कहती हैं- 'दादर के महुवा, गिर गये पतेरा' इतना कहकर दोनों हाथों से सामूहिक रूप से ताली बजाती हैं। एक बार ताली बजाती हैं और दूसरी बार अपने दोनों हाथों को जमीन पर रखकर सरकती हैं। इस प्रकार तीन क्रियायें एक साथ चलती हैं, यथा दादर के

महुवा...कहना, ताली बजाना और जमीन पर सरकना। यह क्रम चलता ही जाता है कि मुखिया लड़की बीच में अचानक फुर-फुर कह देती है। उसके फुर-फुर कहते ही सब लड़कियाँ आँगन की पिरमिटिया या ओंटा में चढ़ जाती हैं, जो लड़की इस दौड़ में पीछे रह जाती है, नहीं चढ़ पाती है- वह दांव देने वाली लड़की कहलाती है, उसे दांव देना पड़ता है। अब वह अछूत मानी जाती है। सब लड़कियाँ उससे बचती हैं और वह सबको छूने का प्रयास करती है। जो लड़की पिरमिटिया या ओंटा पर चढ़ी रहती है, उसे छूने पर कोई फरक नहीं पड़ता है। जो लड़की नीचे उतरती है और उसे दांव देने वाली लड़की छू लेती है, तो वह अछूत हो जाती है और उसे दांव देना पड़ता है। इस प्रकार काफी हँसी-ठिठोली के साथ यह खेल होता रहता है। खेल इसी क्रम में चलता रहता है और जब सामूहिक सहमति बनती है, तो खेल समाप्त हो जाता है।

मनोरंजन से भरपूर यह खेल गोंड जनजाति की लड़कियों का अत्यंत रोचक खेल है। टोला, मुहल्ला के सभी छोटे-बड़े जन इस खेल को देखने के लिये मौजूद रहते हैं। सभी जन खेल का आनंद तो लेते हैं, किन्तु किसी को भी खेल में दखल देने की इजाजत नहीं होती है।

कूकी की हांक

गोंड जनजाति के गाँवों में छोटे बच्चों के द्वारा 'कूकी की हांक' का एक मनोरंजन खेल खेला जाता है। गोंड जनजाति भौतिकवादी सुख-सुविधाओं और साज-सामानों से दूर अपना प्राकृतिक जीवन व्यतीत करती है। ऐसे में मनोरंजन के लिये उसके पास नृत्य, गीत और खेल आदि ही प्रमुख साधन होते हैं। गोंड जाति अपने इन साधनों का भरपूर उपयोग करती है। 'कूकी की हांक' खेल में खेलने वाले बच्चों की संख्या का कोई निर्धारण नहीं होता है। यह संख्या पाँच भी हो सकती है और बीस भी हो सकती है। खेल का नियम केवल यह होता है कि एक लड़का दांव देने वाला होता है और शेष सभी लड़के खेलने वाले होते हैं। दांव देने वाले लड़के की चुनाव प्रक्रिया भी अत्यंत रोचक और मनोरंजक होती है। इस चुनाव के पूर्व सर्वसम्मति से एक मुखिया बना लिया जाता है। अब मुखिया सभी खेलने वाले लड़कों को गोल घेरे में खड़ा करता है, फिर वह प्रत्येक लड़के की छाती में

बारी-बारी से हाथ की एक उंगली रखकर निम्नानुसार निरर्थक शब्दों का उच्चारण करता है-

'ताना रे हरी नाना रे साजन ताना रे हरी नाना' जिस लड़के पर अंतिम 'नाना' शब्द गिरता है, उसे घेरे से अलग कर दिया जाता है। वह मीर समझा जाता है तथा एक ओर हटकर बैठ जाता है। अब फिर से मीर बनाने की वही प्रक्रिया की जाती है और जिस पर 'नाना' शब्द आता है, वह लड़का एक-एक करके घेरे से अलग होता जाता है। इस प्रकार समस्त लड़कों में से जो अन्त में बच जाता है, वही दांव देने वाला होता है।

दांव देने वाला खिलाड़ी तय हो जाने के बाद खेल प्रारम्भ होता है। सभी खिलाड़ी मिलकर सर्वसम्मति से किसी एक स्थान को थान अर्थात् गोल निश्चित करते हैं। अब दांव देने वाला लड़का उस थान में आँख बंद करके खड़ा हो जाता है। खड़े होते ही सब लड़के यहाँ-वहाँ छुपने के लिये भाग जाते हैं। जब यह सुनिश्चित हो जाता है कि सभी खिलाड़ी लड़के छुप गये हैं, तब दल का मुखिया अपने छुपे हुए स्थान से 'कूकी की हांक' लगाता है। कूकी की हांक सुनकर दांव देने वाला लड़का छुपे हुये लड़कों को ढूँढता है और उन्हें छूने का प्रयास करता है। दूसरी ओर छुपे हुए लड़के दांव देने वाले लड़के से बचकर थान छूने की कोशिश करते हैं। इसी भाग दौड़ में जो लड़के थान छू लेते हैं, वे मीर समझे जाते हैं अर्थात् वे विजयी माने जाते हैं। इस प्रकार यदि सभी खिलाड़ी थान छू लेते हैं तो वे सभी मीर हो जाते हैं। इस स्थिति में उसी लड़के को फिर से दांव देना पड़ता है, किन्तु यदि दांव देने वाले लड़के ने किसी खिलाड़ी लड़के को छू लिया, तो वह मीर हो जाता है और छू जाने वाले लड़के को दांव देना पड़ता है। खेल की प्रक्रिया फिर से शुरू होती है। इस खेल में प्रत्येक खिलाड़ी लड़का दल के मुखिया के इशारे पर छुपता-भागता और थान छूता है। दांव देने वाला लड़का थान की रक्षा करते हुए अपने दुश्मन लड़के को छूता है। इस खेल का मुख्य उद्देश्य थान की रक्षा करना और थान को छूना होता है।

लुखरी दांव

मानव जाति में खेल का अत्याधिक महत्त्व है। खेल खेलने से मानव शरीर में ऊर्जा का विकास होता है। दैनिक कार्यों से थके-माँदे शरीर को खेलों से ताजगी और स्फूर्ति प्राप्त होती है।

गाँवों में प्रत्येक उम्र के व्यक्तियों के लिये पुरातन काल से खेलों का प्रचलन है। 'लुखरी दांव' भी ऐसा ही एक खेल है, जो आदिवासी गाँवों में बूढ़ी औरतों और छोटे-छोटे बच्चों द्वारा खेला जाता है। यह गोंड जनजाति का लोकप्रिय खेल है।

इस खेल का समय प्रायः रात्रिकालीन होता है, जब सभी कार्यों से फुर्सत मिलती है। इस खेल में वैसे तो नानी-दादी के साथ छोटे-छोटे बच्चे-बच्चियाँ भाग लेते हैं, किन्तु छोटी बच्चियों की तादात ही अधिक रहती है। रात्रि के समय ब्यारी करने के बाद छोटे बच्चों का दल अपनी नानी-दादी के साथ आँगन में जमा हो जाता है। नानी-दादी किसी एक बच्ची को दांव देने वाली बनाती है, जिसे 'लुखरी' कहते हैं। ग्रामीण बोली में लुखरी का अर्थ 'लोमड़ी' होता है। लुखरी बन जाने के बाद बाकी सभी बच्चे अपनी नानी या दादी के साथ आँगन में गोल घेरे में बैठ जाते हैं। अब नानी या दादी कोई ऐसी बात या चुटकुला बोलती है, जिससे सभी जोर से ठहाका लगाकर हँसते हैं। इसके साथ ही सभी बच्चे अपना एक घुटना मोड़कर उस पर दोनों हाथों को रखते हैं। हाथों को इस तरह रखा जाता है कि घुटने पर कटोरिनुमा आकार बन जाता है। अब नानी या दादी एक कंकड़ी उठाती है और उसे सभी खिलाड़ी बच्चों के घुटनों पर बनी कटोरी में रखने का उपक्रम करती है। इसी समय यह उच्चारण करती है-

'एक-दो-तीन खाओ बीन-बीन' यह कहते हुए किसी एक की कटोरी में कंकड़ी को छुपा देती है। जैसे ही उच्चारण बंद होता है, सभी बच्चे एक स्वर में बोलते हैं- 'आ लुखरी बेर खा जात'। यह सुनते ही दांव देने वाली लड़की छुपी हुई गोटी (कंकड़ी) को ढूँढने के लिये सबके बीच में आती है। दांव देने वाली लड़की सूझबूझ एवं सतर्कता के साथ प्रत्येक खिलाड़ी लड़की के सिर पर हाथ रखती हुई 'इसमें गोटी- इसमें गोटी' कहती है। सभी खिलाड़ी लड़कियाँ अपने घुटने पर बनी हाथ की कटोरी में गोटी छिपाने का अभिनय करती हैं, जिससे दांव देने वाली लड़की को यह शंका हो कि अमुक के पास गोटी छिपी है। दांव देने वाली लड़की को जब यह विश्वास हो जाता है कि अमुक लड़की की मुट्ठी में गोटी छिपी है तो वह उस लड़की के सिर पर हाथ रखकर 'पकड़ लुखरी' कहती है, उसे अपनी मुट्ठी खोलना पड़ता है। यदि उसकी मुट्ठी में गोटी निकल गई, तब उसे खेल से निकलकर लुखरी बनना पड़ता है और लुखरी

बनी हुई लड़की खेल में उसका स्थान लेती है। यदि मुट्ठी में गोटी नहीं निकली तो दांव देने वाली लड़की पर एक तरैया चढ़ जाती है और खेल पूर्ववत् आरंभ होता है।

इस तरह एक लड़की पर सात तरैया चढ़ जाने पर उसे बोदा (मूर्ख) बनना पड़ता है। यह उसके लिये एक प्रकार की सजा है। अब बोदा बनी हुई लड़की को अपनी एक टांग अंगोछे से बाँधकर लंगड़ी बनना पड़ता है। लंगड़ाती हुई दौड़-दौड़ कर अन्य खिलाड़ी लड़कियों को छूती है और सब लड़कियाँ यहाँ-वहाँ भागती हैं। चारों ओर हँसी के फव्वारे फूटते हैं। अपूर्व मनोरंजन के साथ यह खेल चलता है।

मानव जीवन का खेल एक महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक अंग है। यहाँ तक कि पशु-पक्षी तथा अन्य जीवधारी भी अपनी-अपनी शैली में खेल खेलते हैं। तात्पर्य यह कि खेल के बिना जीवन अधूरा है। आदिवासियों की प्रतिभा निस्संदेह अनोखी है। कला हो, खेल हो या लोक परम्परा, आदिवासी समाज इन सबका धनी है। आदिवासी जीवन अत्यंत समृद्ध एवं उल्लासपूर्ण है। कोई निर्भरता नहीं, किसी की प्रतीक्षा नहीं और कल की कोई चिंता नहीं। दिनभर परिश्रम के बाद संध्या और रात्रि के कुछ पल आमोद-प्रमोद के लिये सुरक्षित रहते हैं, जिनमें लोकसंगीत और खेलों का भरभूर मनोरंजन प्राप्त किया जाता है। आदिवासी अपनी ऊर्जा इन्हीं साधनों से प्राप्त करते हैं। गोंड आदिवासियों के खेलों की कुछ विशेषतायें हैं, इनके खेलों में खिलाड़ियों के लिए आवश्यक मापदण्ड-

खेलों में किसी विशेष सामग्री की आवश्यकता नहीं होती है। जहाँ खेल खेला जाता है, वहीं उपलब्ध सामग्री से खेल प्रारंभ हो जाता है- अन्य विकसित खेलों की भाँति किसी निश्चित नाप-तौल या लम्बे-चौड़े विशेष स्थान की आवश्यकता नहीं होती है। घर का आँगन और गली-खोरी ही पर्याप्त होती है। इन खेलों में कोई विशेष बंधन नहीं होते हैं, अतः किसी निर्णायक की आवश्यकता नहीं होती है। निर्णायक मुक्त ये खेल अपने आप में मिसाल है। खेल से सम्बन्धित सभी मसले आपस में मिलकर तय किये जाते हैं। इन खेलों के लिये न तो किसी गणवेश की आवश्यकता होती है और न ही कोई गणवेश निर्धारित होती है। इन खेलों के लिये अतीत से आज तक न कोई प्रशिक्षण

की व्यवस्था बनाई गई और न ही इसकी कोई जरूरत है। लोक परम्परा के अनुसार इन खेलों को आत्मसात कर लिया जाता है। खिलाड़ियों की कोई संख्या निर्धारित नहीं होती है। इच्छानुसार कोई भी खिलाड़ी इन खेलों में सम्मिलित होता है और चाहे जब अलग हो जाता है। इन खेलों से आदिवासियों को मनोरंजन और व्यायाम के लिये अन्यत्र जाने की जरूरत नहीं पड़ती है। इनका घर-आँगन, गली-खोरी और खिरखा डांड ही व्यायाम और मनोरंजन का प्रमुख स्थल है। गाँवों में जब अपने समयानुसार इन खेलों का आयोजन होता है, तो दर्शक भी उन्हीं खिलाड़ियों के अपने

आत्मीय जन एवं गाँव -मोहल्ले के पास-पड़ोसी होती हैं, जो इन खिलाड़ियों का उत्साह -वर्धन तो कहते ही हैं, स्वयं भी अत्याधिक आनंद एवं मनोरंजन प्राप्त करते हैं। इन खेलों में समय का कोई बंधन नहीं होता है। जब फुर्सत मिलती है, हृदय में उमंग उठती है, खेल प्रारंभ हो जाता है। दिन हो या रात, दोपहर या संध्या जब भी फुर्सत मिली, सलाह-मशविरा हुआ, खेल प्रारंभ हो जाता है। ये खेल इतने सादे और सरल होते हैं कि खतरा और जोखिम की कोई गुंजाइश नहीं होती है।

बाल-साहित्य की परम्परा

डॉ. विनय कुमार पाठक

बाल साहित्य-लेखन जितना क्लिष्ट है, उसकी समीक्षा और शोध उतना ही संश्लिष्ट। बाल-साहित्य को 'बालक का साहित्य' निर्दिष्ट कर समीक्षक और शोधक हाशिए पर करते रहे, परिणामतः इसके सर्जक जहाँ तिरस्कृत हुए, वहीं साहित्येतिहास के पृष्ठों पर बहिष्कृत भी हुए। बाल-साहित्य की गिनी-चुनी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होकर तथा साहित्यिक पृष्ठों के कम कलेवर वाले पृष्ठों या कोनों में छपकर आत्मविभोर होने के अतिरिक्त अन्य कोई अवसर ही न था कि इन्हें साहित्य की केन्द्रीय भूमिका निभानी पड़े। बाल-साहित्य पर पुस्तक प्रकाशन भी दुस्साहसपूर्ण चुनौती है। उपेक्षा के इस वातावरण में अपनी उपस्थिति दर्ज कराता हुआ बाल-साहित्य बालकों को शिक्षा और मनोरंजन प्रदान करता हुआ संवेदनापूर्ण संस्कार की धरती पर अवस्थित कर देता है। वह इसका श्रेय भी नहीं लेता, वरन् सृजन को धर्म मानकर पावन कर्म में ही आनंद का अनुभव कर कृतकृत्य होता है। समाज में जो संस्थिति प्राथमिक विद्यालय के शिक्षकों की है, साहित्य में कमोवेश वही स्थिति बाल-साहित्यकार की है।

बाल-साहित्य को लोग सरल व सतही समझ लेते हैं। वस्तुतः कठिन व गंभीर विषयों पर लेखन उतना कठिन व जटिल नहीं है, जितना कि सरल भाषा में बालकों की आवश्यकताओं को समझकर उनकी रूचि-प्रवृत्ति व मनोविज्ञान को परखकर लिखना। बाल-मन मिट्टी की तरह कच्चा, लचीला, निराकार और बेडौल होता है। उसे पक्का, सख्त, साकार और सुडौल बनाने का कार्य क्रमशः माँ, अभिभावक, गुरु और साहित्यकार का होता है। माँ, अभिभावक और गुरु की भूमिका प्रत्यक्ष होती है, जबकि साहित्य मध्यस्थ या माध्यम मात्र बनकर अपनी पीठिका प्रस्तुत करता है। वह न माँ की तरह मारता, न अभिभावक की तरह अभिमत देता और न ही गुरु

की तरह शिक्षा-दीक्षा ही शुरू करता है। वह तो सही-गलत के समीकरण की सीख देता है, न्याय-अन्याय को निर्दिष्ट करने की तमीज देता है और हृदयगत भावनाओं को बुद्धि से कसने की कसौटी का संसार देता है। इस दृष्टि से साहित्य सच्चे अर्थों में माँ की ममतामयी छाया, अभिभावक की अभिनिर्देशित काया और ज्ञान-प्रदाता गुरु की अलौकिक माया भी है। बाल-साहित्य के संदर्भ में यह सूत्र सटीक और सार्थक प्रतीत होता है।

बाल-साहित्य के बीज वेदों में विद्यमान हैं। सामवेद की गीत-संगीत परंपरा हो या उपनिषद्, रामायण, महाभारत और पुराणों की गाथा या कथा का क्रम हो, पंचतंत्र अथवा हितोपदेश का आख्यान हो या मौखिक परंपरा के लोकगीत हो या लोककथाएँ, सभी बाल-मन की जिज्ञासा का शमन करती और जीवन-संघर्षों से जूझने और नीति-अनीति से निपटने का निदान निर्दिष्ट करती हैं। संस्कृत से संस्कृति और लोक-साहित्य से लोकाचार लेकर हिंदी के बाल-साहित्य ने एक शताब्दी में ही कई युगों को जीना तथा ज्ञान-अनुभवों को पीना सीख लिया है। यही कारण है कि आधुनिक युग से आविर्भूत बाल-साहित्य ने विविध विधाओं में विभिन्न व विशद विश्व को वेष्टित कर लिया है।

हिंदी-साहित्य के पर्यवेक्षण से पता चलता है कि यह अलौकिक से लौकिक, लौकिक से मानव और मानव से उसके मन और अंतर्मन के अंतराल की विकास-यात्रा है। बाल-साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है। परिणामतः इसमें जहाँ कल्पना के पर लगाकर उड़ने वाली परी-कथाएँ बाल-मन को आकृष्ट करती हैं, वही दानव की दुर्गम और दुधर्ष दुनिया चमत्कार को समाविष्ट करती हैं। इसी तरह पशु-पक्षियों को पास से परखने और निकट से निरखने का अवसर तथा राजा-रानियों की राजसी ठाठ-बाट एवं सामंती सोच को समझने का सुअवसर भी मिलता है। प्राचीन दृष्टि का बाल-साहित्य सामान्य जन को प्रत्यक्षदर्शी या तमाशबीन समझकर ही साहित्य के ताने-बाने बुनता था। आधुनिक दृष्टि में आम आदमी आधार-बिंदु बना। तदनुरूप कल्पना के साथ वास्तविकता का वितान, परंपरा के साथ विज्ञान का योगदान तथा मातृभूमि के साथ राष्ट्र-भक्ति का अभियान तीव्रतर हुआ। अर्वाचीन दृष्टि ने आज के बालकों की रुचि और प्रवृत्ति के अनुरूप प्रयोगोन्मुखता को प्रश्रय दिया। परिणामतः कथा, कविता और निबंध के साथ प्रहेलिकाओं की प्रस्तुति और चुटकुलों को चटक

संसार दिया। विज्ञान के बालकों के लिए वैज्ञानिक तथ्यों और सामान्य बालकों की कोतूहलता को केन्द्रस्थ करके 'जोड़ियाँ मिलाओ', 'रंग भरो, 'आप खोजें-रास्ता बताएँ', 'बिंदु मिलाओ-चित्र बनाओ', 'चित्रकथा' और 'ज्ञान-विज्ञान' विषयक रोचक लेखों से बाल-साहित्य विविधता और व्यापकता का वृत्त विनिर्मित करने लगा। इस तरह बाल-साहित्य संस्कृति और सभ्यता का, नवीनता और प्राचीनता का तथा कल और आज का सुंदर समागम साबित हुआ। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'चुटकुला' शब्द भले रूढ़ है लेकिन यह 'चुटकी-ले' से ही समीकृत है।

बाल-साहित्य को क्या बालक ही पढ़ें, प्रबुद्ध पाठकों व किशोरों तक के लिए क्या यह वर्ज्य है? भले ये साहित्य बालकों के लिए सृजित-निर्मित है, लेकिन यह सबके लिए पठनीय और महीनय है। यदि बाल-साहित्य आपने नहीं पढ़ा तो आप संस्कारी पाठक के मूल क्रम से ही वंचित रह गये। यदि अपने को सत्साहित्य से संपृक्त करना है तो बाल-साहित्य पढ़ें। यदि क्रमिक विकास में गतिरोध नहीं लाना चाहते तो बाल-साहित्य पढ़ें। बाल-साहित्य पठन-संस्कार जागृत कर शब्द को साधने और उसके महत्त्व को अंगीकार कर जीवन-पर्यंत जिज्ञासु और अनुसंधित्सु अभिप्रमाणित होने का अभिनव आयोजन है।

बाल-लोकसाहित्य ऋषि-परंपरा के समानांतर और उसके पूर्व से मौखिक परंपरा के रूप में प्रचलित गद्य-पद्य-समन्वित वह लोकविधा है, जो बालकों की रुचि-प्रवृत्ति, परिवेश और मानसिकता को केन्द्रस्थ करके शिक्षा और मनोरंजन का दायित्व-वहन करता है। बदलते युगीन संदर्भों के अनुरूप यह शाश्वत सत्य को संजोते हुए भी समसामयिकता से संपृक्त होता है। इस तरह विकास और परिष्कार का क्रम इसे जीवंत और कालजयी बनाये रखता है। इससे बालकों का न केवल सहज मानसिक और आत्मिक विकास होता है, वरन् क्रीड़ा-व्यायाम और योग-संयोग जुड़कर शारीरिक विकास का भी उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस तरह बच्चों में जो पूर्ण व्यक्तित्व की संकल्पना की जाती है, उसका परिपालन इस बाल-लोक साहित्य में ही संभव है। यह बाल-लोकसाहित्य बालकों को मातृभाषा और मातृभूमि के माध्यम से परिवेश से तो परिचित कराता ही है, उसके विस्तार का आभास दिलाकर व देश-विदेश से जोड़कर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' से भी तन्मय-तदाकार कराता है। यदि बालसाहित्य की परिक्रमा की जाए तो स्पष्ट आभासित

होता है कि इसकी आत्मा एक है- अर्थात् सार्वदेशिकता तो विद्यमान है ही, आंचलिकता के आधार पर यह अंचल या क्षेत्र-विशेष का भी प्रतिनिधित्व करता है।

छत्तीसगढ़ी बाल-लोकसाहित्य छत्तीसगढ़ी भाषा में छत्तीसगढ़ के वातावरण व संस्कृति के अनुरूप बालकों की अवस्था व रूचि-प्रवृत्ति के प्रश्रय से संपूर्ण विकास की आधारशिला है। इस तरह यह अनुभूति और आख्यान के आश्रय से क्रीड़ा, जनरंजन और शिक्षा की त्रिवेणी का पावन अवगाहन सिद्ध होता है। पद्य और गद्य के आधार पर इस बाल-लोकसाहित्य को छत्तीसगढ़ी बाल-लोकगीत और बाल-लोककथा के रूप में यहाँ विवेचना की जा रही है -

लोकगीत

अवस्था के आधार पर छत्तीसगढ़ी बाल-लोकगीत में शिशुगीत के अंतर्गत लोरी तथा अन्य बाल-लोकगीतों को बालकों एवं बालिकाओं के आधार पर वर्गीकृत कर विवेचित किया जा सकता है - लोरीगीत, बाल-लोकगीत और बाल-लोकगीत (केवल बालिकाओं के लिए)।

लोककथा

छत्तीसगढ़ी बाल-लोककथाओं में कल्पना, रोमांच और उत्सुकता को उपस्थित करके दादा-दादी और नाना-नानी, नाती-पोतों को ऐसी संस्कारजन्य शिक्षा संप्रेषित करते थे, जो उनके व्यक्ति-विकास का पथ प्रशस्त कर सके। प्राकृतिक परिवेश से परिचित कराते हुए उनके साथ भावनात्मक सम्बन्धों को सुदृढ़ करने में सहायक ये लोककथाएँ बालकों की जिज्ञासा को तृप्त करने, कल्पना को विस्तार देने और ज्ञान को प्रसारित करने का महत्त्वपूर्ण दायित्व निभाते हैं। ये चंदा को मामा और सूर्य को दादा कहकर जहाँ हार्दिक सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, वहीं पशु-पक्षियों में मानवीय संवेदना को माप कर उनके आचरण, खान-पान, रहन-सहन आदि की जानकारियाँ प्राप्त कर उनके साथ मित्रवत् व्यवहार करना सीख ही नहीं जाते, वरन् प्रकृति-प्रेम और प्राणी-संरक्षण के लिए मानसिक पृष्ठभूमि भी सहेज लेते हैं। 'पंचतंत्र' और 'हितोपदेश' की परंपरा से प्रवाहित ऐसी अनेक छत्तीसगढ़ी लोक-कथाएँ हैं, जो बालकों को मनोरंजन के साथ ज्ञान-अनुभव का

अकूत कोश भी सौंप जाती हैं। डॉ. अभिनेष जैन लिखते हैं- 'बच्चे स्वाभाविक रूप से जिज्ञासु प्रवृत्ति के होने के साथ-साथ अपने संसार में रहने वाले प्राणियों के बारे में सब-कुछ जानने को उत्सुक रहते हैं। यही प्रवृत्ति उनमें जीव-मात्र के प्रति प्रेम और आस्था जगाती है। भावी जीवन में उन जीवों के बारे में बाल-मन का सकारात्मक नजरिया जुड़ जाता है।' श्री प्रसाद के अनुसार - 'बालक जितना पशु और पक्षी-जगत से जुड़ता है, उतना बड़ों के मानव-समाज से नहीं।' गति में मनोरंजन खोजने वाले बालकों के लिए पशु और पक्षी-जगत के सहज तथा निश्छल जीवन में सबसे अधिक गति है, फिर पशु और पक्षी-जगत का दैहिक और व्यवहारगत सौंदर्य भी बच्चों को आकर्षित करता है।

परी

परियाँ कल्पनाशीलता को उद्दीप्त कर बाल-मन के सौंदर्य और आकर्षण को रचनात्मकता प्रदान करती हैं। कल्पना के पर लगाकर बालको पर लगाने वाली अनिंद्य सुंदरी, दीप्तिमयी, दयालु और प्रत्येक समस्या के निदान करने वाली सम्मोहक और जादुई व्यक्तित्व वाली परी से नाता जोड़ लेता है। उसके लिए परी-लोक या परीस्तान स्वर्ग की अलौकिक माया से कम नहीं। वहाँ पैसों के फल लगते हैं और सभी परियाँ नाचती-गाती, वीणा के स्वर की तरह मधुर संभाषण करती, पक्षियों की तरह चहचहाती, फुदकती-इठलाती और बालकों को मदद करने के लिये सदैव तैयार रहती हैं। होठों पर थिरकती परियों की हँसी उसके चंचल मन को एकाग्र करके आनंद-लोक में जहाँ विचरण कराती हैं, वहीं उसे आत्मीय बनाकर सम्मोहिनी करतब से वशीभूत भी कर लेती हैं। डॉ. नामवर सिंह निर्दिष्ट करते हैं- 'क्या परियों की कहानियाँ सिर्फ इसलिए अच्छी लगती हैं कि परियाँ अब नहीं होती? क्या वे कभी होती भी थी? क्या उनके होने में कभी आदमी का विश्वास था? जिन्होंने शुरु-शुरु में परियों की कहानियाँ गढ़ी थीं, वे क्या उनके होने में सचमुच विश्वास करते थे? कौन जानता है और कौन कह सकता है? क्या सचमुच ऐसा जमाना था, जब आदमियों के पंख थे और वे उड़ा करते थे? क्या पंख वाले घोड़े सचमुच कभी होते थे? वह दुनिया कहाँ थी? और कब थी जब देखते-देखते आदमी पेड़ हो जाता था या तोता और तोता भी आदमी का रूप धारण करने में समर्थ था? कम से कम जिस समय से आदमी की दुनिया में ये कहानियाँ बनी और चल रही हैं, तब से तो इस तरह की अजीबो-

गरीब किसी दुनिया का वजूद नहीं मिलता। फिर भी ये कहानियाँ बनी और निश्चित है कि सिर्फ बच्चों के लिए ही नहीं बनी थीं।’

इतिहास के इतिवृत्त और पुराण के प्रसंगों से परिचित बालक गर्व और गौरव का अनुभव-आस्वाद्य करता हुआ मानवीयता को मान देना सीखता है। उसमें साहस और पराक्रम के साथ आंतरिक गुणों यथा- सरलता, सहजता, ईमानदारी, निष्ठा, परोपकार, दया, आतिथ्य, करुणा, प्रेम, स्नेह, श्रद्धा, धैर्य, क्षमा आदि का स्थापन होता है। वह राम, कृष्ण, गौतम, बुद्ध और गाँधी आदि चरित्रों से अनुप्राणित होकर राजा-रानी की कथाओं से उनकी रीति-नीति, प्रकृति, संस्कृति व मानवोचित गुणों से अनुरंजित भी होता है। राक्षस, भूत, प्रेत आदि को खलनायक निर्दिष्ट कर अनीति और नीति, अन्याय और न्याय, असत्य और सत्य तथा अधर्म और धर्म का संघर्ष प्रकट करके अंततः नीति, न्याय, सत्य और धर्म

की विजय-पताका फहरायी जाती है। प्रारंभ में असत्य की जीत बतलाकर सत्य के साथ उसके द्वंद्व को उजागर किया जाता है, फिर क्रमशः उसका पराभव दिखाकर सात्विक गुणों के प्रति आस्था का संचार किया जाता है। इस तरह शाश्वत मूल्यों और उदात्त गुणों की प्रस्थापना इन लोककथाओं की विशिष्टता होती है। डॉ. यादवेंद्र शर्मा ‘चंद्र’ के मतानुसार- ‘भूत-प्रेम, राक्षस-दानव, परियाँ-अप्सराएँ, यक्ष-किन्नर, देवी- देवता ये सब मानव-मन और जीवन की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता के प्रतीक हैं। आवश्यकता है कि हम अपने बच्चों को समझाएँ कि भूत-प्रेत, राक्षस-दानव बुराई के प्रतीक हैं। ये बुरे लोग हर अच्छे कार्य में बाधा पहुँचाते हैं। ये चेष्टा करते हैं कि इस शस्य-श्यामला धरा पर सुंदरता न रहे। ये मानव को सताने वाले प्रतीक चरित्र हैं। इसकी शक्ल और विराटता-विरूपता भी आनंद देने के लिए सृजित की गयी है। तभी तो अखण्ड सत्य की विजय दिखायी जाती है।’

जनजातीय शिल्प परम्पराएँ

निरंजन महावर

प्रस्तर शिल्प

प्राचीन काल से ही प्रस्तर शिल्प देव प्रतिमाओं के निर्माण का एक प्रमुख माध्यम रहा है। बस्तर के आदिवासी स्फटिक की पूजा करते हैं, क्योंकि उनकी मान्यता है कि अग्नि के देवता उसमें निवास करते हैं। स्फटिक के क्रिस्टल हिन्दुओं द्वारा श्रीयंत्र के रूप में धन की देवी लक्ष्मी के प्रतीक स्वरूप में पूजे जाते हैं तथा रत्नों के रूप में भी आभूषणों में जड़ा जाता है और वे शुभ कारक माने जाते हैं। ये हीरे के विकल्प भी माने जाते हैं, सौभाग्य प्रदान करने वाले हैं। भारतीय ज्योतिष शास्त्र के अनुसार हीरे तथा स्फटिक क्रिस्टल शुक्र ग्रह का प्रतिनिधित्व करते हैं 7 शुक्र ग्रह सौभाग्य प्रदान करने वाला ग्रह है, अतः इनकी पूजा की जाती है।

सम्पूर्ण भारत में प्रस्तर सभी रूपाकारों में आराध्य माने जाते हैं। बस्तर के आदिवासियों की मान्यता है कि पर्वतों में 'जीव' (प्राण) है, और आराधना नहीं किये जाने पर वे कुपित हो जाते हैं और संकट पैदा करते हैं। 'राऊ' पर्वतों के देवता (आत्मा या जीव) हैं। प्रस्तर चाहे वह तराशा हुआ हो या अनघड़, वह पूज्यनीय है। ग्रामीण भारत में कोई भी साधारण पत्थर पर सिंदूर लगाकर उसे हनुमान या भैरव के रूप में स्थापित कर दिया जाता है। राजस्थान के भील क्षेत्र में किसी भी कुएँ, बावड़ी, तालाब के किनारे या ग्राम की सीमा पर ऐसे सिंदूर लगे पत्थरों को एक चबूतरा बनाकर भैरव बाबा के रूप में स्थापित कर दिया जाता है। हनुमान तथा भैरव सम्पूर्ण उत्तर भारत में लोकदेवता के रूप में मान्य हैं। गाँवों के अंदर उनकी स्थापना किसी वृक्ष के नीचे चबूतरा बनाकर उन पर सिंदूर तथा तेल का लेप करके की जाती है।

मध्यवर्ती भारत की जनजातियों में पत्थर को तराशने की शिल्पकला विद्यमान है। बस्तर में प्रस्तर शिल्प व्यापक रूप में प्रचलित है। तराशने का कार्य यहाँ के लुहार शिल्पी करते हैं। बस्तर के ये लुहार मूलतः गोंड जनजाति से ही उद्भूत हैं। उन्होंने लौह कर्म में कुशलता प्राप्त कर ली और कालान्तर में उनकी एक पृथक जाति बन गयी। बस्तर के मुरिया तथा माड़िया आदिवासी सभी दस्तकार जातियों को अपने से नीचा मानते हैं। इन गोण्ड लोहारों की अब स्वतंत्र अंतर विवाही जाति बन गयी है और उनके मुरियों और माड़ियों से वैवाहिक सम्बन्ध नहीं रह गये हैं। ये लुहार बस्तर के आदिवासियों की मातागुड़ियों (देवस्थल) हेतु पिटवा लोहे से देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ बनाते हैं। ऐसी बड़े आकार की प्रतिमाएँ माता गुड़ियों में पीछे की भित्ति से सटाकर एक-डेढ़-दो फीट ऊँचे चबूतरे या आसन पर स्थायी रूप से स्थापित की जाती है। इन प्रतिमाओं को 'स्टीटाइट' पत्थर से बनाया जाता है, जो एक प्रकार का कठोर सेलखड़ी (Soap Stone या Pot Stone) है। बस्तर के प्राचीन बारसूर के मंदिरों में भी इसी प्रजाति के प्रस्तर की प्रतिमाएँ लगी हुई हैं।

यह पत्थर स्थानीय रूप से उपलब्ध है और बस्तर में अनेक स्थानों पर पाया जाता है। इस प्रकार के पत्थरों की खदाने भाटपाल, एकटागुड़ा, देवगाँव, गोलावंड तथा बहारा में स्थित हैं और स्थानीय लुहार स्वयं ही इनका खनन करते हैं। दक्षिण बस्तर में भी कुछ स्थानों पर 'स्टीटाइट' उपलब्ध है। बस्तर के कुछ प्राचीन मंदिरों की प्रतिमाएँ भी इसी प्रस्तर से निर्मित हैं। बस्तर के शिल्पियों को इस प्रस्तर के स्रोतों की जानकारी थी, और उनके पूर्वज 10 वीं इस्वी शताब्दी से 14 वीं शताब्दी तक इन प्रस्तरों से प्रतिमाएँ बनाने के कार्य में संलग्न थे। झिटकू-मितको, भंगाराम, राऊ अथवा राव, परदेसिन माता, तेलगिन माता, खाँड़ा कंकालिन तथा बूढ़ीमाई की प्रतिमाएँ सभी मातागुड़ियों में, विशेष रूप से मध्य बस्तर में देखने को मिलती हैं। इन प्रतिमाओं के अतिरिक्त शिल्पी आदिवासियों के टोटेम अभिप्रायों की कृतियाँ भी बनाते हैं, जैसे मछली, कछुआ, बाघ नाग/ सर्प आदि। ये लोग हाथी, नंदी, शिवा तथा कुछ अन्य पशुओं की आकृतियाँ भी बनाते हैं।

मध्यवर्ती भारत में प्रस्तर शिल्प मंदसौर, बुन्देलखण्ड, महाकोसल तथा मध्यभारत क्षेत्र में भी प्रचलित है। ग्वालियर के समीप घोसीपुर, बामौर, श्योपुर (मुरैना), मंदसौर, कैलावन,

टीकमगढ़, रतलाम, नरसिंहपुर, झाबुआ, आलीराजपुर, भेड़ाघाट प्रस्तर शिल्प के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण केन्द्र हैं।

मंदसौर के समीप नर्म 'शैल' तथा स्लेट प्रस्तर पाया जाता है, जिसका बड़े पैमाने पर खनन किया जाता है। इस पत्थर से देव प्रतिमाएँ बनायी जाती हैं। मंदसौर के इर्दगिर्द स्लेट-पेंसिल बनाने के अनेक कारखाने लगे हुए हैं, जिनमें शैल का उपयोग होता है। मंदसौर की देव प्रतिमाओं को स्वेत रंग में रंगा जाता है।

भील क्षेत्र के भील, भिलाला, राठवा मृतकों की स्मृति में दीर्घाश्म स्तंभ स्थापित करते हैं। ये स्तंभ स्टीटाइट पत्थर के बने होते हैं, जो 'गात' अथवा 'गातला' कहलाते हैं। इस जनजाति में सती स्तंभ स्थापित करने की भी परम्परा है। इन सती स्तंभों पर उभरे हुए हाथ, सूर्य-चन्द्रमा की आकृतियाँ उकेरी जाती हैं। घड़ाई के उपरान्त इन्हें आकर्षक ढंग से रंगा जाता है। सती स्तंभ पर एक नारी की आकृति भी उकेरी जाती है। किसी-किसी स्तंभ पर मृतक की विधवा तथा उसके बच्चों की आकृतियाँ भी उकेरी जाती हैं। गातला की स्थापना समारोहपूर्वक की जाती है, जिसमें मृतक के रिश्तेदार तथा गाँव के सभी लोग शामिल होते हैं। गातला के चारों ओर टेराकोटा के अश्व तथा ढाबे चढ़ाये जाते हैं। कभी-कभी मृतक व्यक्तियों के नाम भी लिखे जाते हैं, जिनके सम्मान में वे स्थापित किये गये हैं। मेरे विचार से गातला स्थापित करने की प्रथा पाषाणकालीन मृतक स्तंभ स्थापित किये जाने का अवशेष है। कोरकू जनजाति में भी मृतक व्यक्ति के लिए दीर्घाश्म स्थापित करने की प्रथा विद्यमान है। उनके द्वारा प्रस्तर तथा काष्ठ दोनों में ही स्तंभ स्थापित किये जाते हैं। परन्तु ये लोग गाँव के श्मशान स्थल पर ही इन्हें स्थापित करते हैं। ये मंडो कहलाते हैं। मैंने पचमढ़ी में एक वृक्ष के नीचे ऐसे मंडो का ढेर लगा हुआ देखा है। कोरकू भी मंडो की स्थापना समारोह पूर्वक करते हैं।

बस्तर में पाषाण कालीन दीर्घाश्म (Menhir) स्थापित करने की प्रथा अभी भी प्रचलित है। मैंने ऐसे कुछ श्मशान देखे हैं जो ढाई हजार वर्ष पुराने हैं और वर्तमान समय में भी उन गाँवों के लोग उन्हीं स्थानों पर शवदाह सम्पन्न कर रहे हैं। शव स्मारक स्थापित करने की तीन विधियाँ प्रचलित हैं। कुछ स्थानों पर दीर्घाश्म एक सीधी कतार में स्थापित किये जाते हैं। यदि किसी गाँव में एक से अधिक गोत्र के लोग रहते हैं तो वहाँ प्रत्येक गोत्र के मृतकों के लिए दीर्घाश्मों की पृथक-पृथक कतारें होती हैं।

दूसरी विधि में छोटे-छोटे आकार के (आठ दस इंच से एक फुट) पत्थर रख दिया जाता है। ये मृतक स्मृति वाले ढेर 'माठ' कहलाते हैं। तीसरे प्रकार के मृतक स्मारक वे हैं, जिनमें मृतक के दाह स्थल पर एक पक्का चबूतरा बना दिया जाता है।

प्रस्तर के दीर्घाश्म जिन्हें गोंडी भाषा में 'कोटोकलल्क' कहा जाता है। उनका स्थान काष्ठ स्तंभ लेते जा रहे हैं, परन्तु ऐसे काष्ठ स्तंभ किसी विशिष्ट व्यक्ति की स्मृति में ही स्थापित करते हैं। यह प्रक्रिया कब आरम्भ हुई- बताना कठिन है। हमारे पास इसके कोई प्रामाण्य उपलब्ध नहीं हैं। आज भी कुछ ऐसे काष्ठ स्तंभ बचे हुए हैं, जो मौसम की मार से तथा दीमक के कारण जर्जर हो चुके हैं। ये पुरो दीर्घाश्म काष्ठ स्तंभ सौ वर्ष से अधिक पुराने नहीं लगते।

इन काष्ठ दीर्घाश्मों पर अनेक अभिप्राय उभरी हुई शैली में उकेरे जाते हैं। यहाँ तक कि अभी कुछ वर्षों के दरम्यान भी ऐसे कुछ काष्ठ मृतक की स्थापना हुई है, जिन पर अभिप्राय उकेरे गये हैं। इन अभिप्रायों पर रंग भी चढ़ाया गया है। आजकल वनविभाग की सख्ती के कारण स्तंभों के लिए काष्ठ प्राप्त करने में कठिनाई होने लगी है। किसी पुराने पूर्ण विकसित वृक्ष के पूरे तने में से ऐसे स्तंभ बनते हैं, अर्थात् एक स्तंभ हेतु एक सम्पूर्ण वृक्ष को काटना पड़ता है। आजकल ऐसे स्तंभों के विकल्प के रूप में प्रस्तर की पट्टियों का उपयोग किया जाने लगा है। बस्तर में अनेक स्थानों पर ये पट्टियाँ उपलब्ध हैं। ये पट्टियाँ गुलाबी तथा सलेटी रंग की स्लेट ही हैं, जिनकी मोटाई 4 से 8 इंच के बीच होती है। ये पत्थर नर्म तथा आसानी से टूट जाते हैं, अतः इन पर अभिप्रायों की खुदाई का कार्य सम्भव नहीं है। इस कारण इन पर अभिप्रायों का चित्रण किया जाता है। डंडामी माड़िया तथा दोरला क्षेत्र में इस प्रकार के दीर्घाश्म अधिक प्रचलित हुए हैं।

यद्यपि मुरियों तथा अबूझमाड़ियों में भी दीर्घाश्म स्थापित करने की प्रथा प्रचलित है, परन्तु मुझे इनमें काष्ठ के माड़ियों जैसे स्तंभ देखने को नहीं मिले। मुरियाजन भी दीर्घाश्म स्थापित करते हैं, परन्तु वे ग्रेनाइट शीट या स्लेट की पट्टियों के होते हैं। ये शिलाएँ स्थानीय रूप से उपलब्ध हैं। इन्हें खनन स्थल से शमशानों तक ले जाया जाता है, जहाँ उन्हें स्थापित किया जाता है। मुरिया भी इन पट्टियों पर चित्रांकन करते हैं, परन्तु उनका अलंकरण

अनगढ़ होता है। मुरिया मृतकों की स्मृति में पक्के 'माठ' भी बनाते हैं। इन माठों पर भी चित्रकारी करते हैं। इन माठों पर प्लास्टर के माध्यम से ही उभरी हुए (Relief) कलाकृतियाँ बनाते हैं। दीर्घाश्म स्थापना बहुत अधिक खर्चीली है तथा उससे सम्बन्धित नियम-कायदे तथा अनुष्ठान बहुत खर्चीले हैं।

छत्तीसगढ़ के मैदानी क्षेत्र में प्रस्तर शिल्प बहुत सीमित है। बस्तर के लोहार ही लौहकर्म के साथ-साथ प्रस्तर से कलाकृतियाँ तथा देव प्रतिमाएँ बनाते हैं। स्टीटाइट या कठोर सोप स्टोन पर कार्य करना आसान है। ये शिल्पी मातृ प्रतिमाएँ या अन्य अनुष्ठानिक कलाकृतियाँ बनाते हैं। मातागुड़ियों में इन्हें स्थापित कर उनकी पूजा की जाती है तथा वर्ष में एक बार इनकी जात्रा आयोजित की जाती है। यात्रा के अवसर पर ही मड़ई (मेला) लगता है। प्रस्तर से देव-देवी को ही चढ़ाई जाने वाली पशुओं की कलाकृतियाँ भी बनायी जाती हैं, जिनमें हाथी, बाघ, कछुआ, मछली, सिंह, नाग प्रमुख हैं। इसी प्रस्तर से पूजा के दीपक भी बनाये जाते हैं। शिवलिंगम तथा नंदी भी बनाये जाते हैं। हिन्दुओं और आदिवासियों हेतु हनुमान और गणेश की प्रतिमाएँ भी बनाई जाने लगी हैं। आदिवासी अपने घरों में देव प्रतिमाएँ नहीं रखते, परन्तु कुछ शिव, नंदी, गणेश, हनुमान की प्रतिमाएँ अपने घरों में स्थापित करते हैं।

यदि बाघ तथा अश्व की कलाकृतियाँ स्वतन्त्र रूप से स्थापित की जाती हैं, तब उस स्थिति में वे देवता मानी जाती हैं। बाघ की प्रतिमा बाघदेव तथा अश्व की प्रतिमा 'कोड़ादेव' अथवा 'घोड़ादेव' के रूप में पूजी जाती है। तेल से जलने वाले दीपक कमल तथा नागदेव के अभिप्राय में बनाये जाते हैं। कमल अभिप्राय अवश्य ही हिन्दुओं के प्रभाव से अपनाया गया होगा।

गत पाँच-छः शताब्दियों में झिटकू-मिटको की पूजा और भक्ति का प्रसार बढ़ता जा रहा है और उनकी प्रस्तर प्रतिमाएँ माता गुड़ियों में स्थापित की जा रही हैं। कोंडागाँव-केशकाल क्षेत्र में तो कुछ गुड़ियाँ उन्हीं के नये नाम 'गोंडिन दाई' के नाम से भी स्थापित हो गई हैं। कहीं-कहीं उनकी पूजा गोंडिन माता या पेंडरावनिन के नाम से भी होने लगी है। उनकी मूर्ति का स्वरूप एक मुरिया गोंड सदृश्य है, जिनके एक हाथ में गप्पा (टोकरी) है और दूसरे हाथ में साबल जो वन में कंद खोदने के काम आती है।

बस्तर के प्रस्तर शिल्पियों के औजार बहुत ही साधारण स्तर के हैं। यदि उन्हें कुछ प्रशिक्षण तथा अच्छे औजार उपलब्ध करवा दिये जायें तो वे अच्छी शिल्प कृतियाँ बना सकते हैं, जैसे फूलदान, डब्बे, प्याले और अन्य अनेक वस्तुएँ। एक अभिकल्पी केन्द्र (डिजाइन सेंटर) अच्छे प्रशिक्षक या मार्गदर्शक की देखरेख में स्थापित किया जाना चाहिए। ऐसा होने पर बस्तर के शिल्प में क्रांतिकारी निखार आ जायेगा और उन्हें नगरीय समर्थन भी मिलने लगेगा। अभी उन्हें अत्यंत सीमित केवल स्थानीय बाजार ही उपलब्ध है।

दुर्ग जिले के बालोद के समीप झरनदल्ली मार्ग पर एक गाँव के समीप स्टीटाइट का उत्खनन होता है। वहाँ के कुछ शिल्पी इस प्रस्तर से कुंडिया, धूपदान, ढिबरी तथा दीपक आदि बनाते हैं। यह कार्य गत 70-80 वर्षों से चल रहा है, लेकिन इनके औजार भी बारीक काम के लिये उपयुक्त नहीं हैं। प्रस्तर आकर्षक रंगों में उपलब्ध हैं और यदि इसका उपयोग भी कलात्मक वस्तुएँ बनाने हेतु किया जाये तो उसकी व्यवसायिक संभावनायें बहुत अधिक हैं।

छत्तीसगढ़ में पत्थर की घड़ाई का शिल्प अधिक व्यापक नहीं है। सोपस्टोन (स्टीटाइट) खनिज बस्तर के कुछ स्थानों पर जैसे कोंडागाँव, बस्तर (भाटपाट) तथा बारसूर के समीप प्राप्त होता है। इस पत्थर पर तराशने का कार्य तुलनात्मक रूप से आसान है। बस्तर के लोहार जाति के शिल्प मातागुड़ियों के लिये मातामूर्तियाँ बनाते हैं। अधिकांश गुड़ियों में स्थायी तौर पर प्रतिष्ठित प्रतिमाएँ इसी पत्थर द्वारा निर्मित हैं। इन प्रतिमाओं में खांडा-कंकालिन, मावली माता, परदेसिन माता, बनजारिन माता, काली तेलगिन, दंतेश्वरी और झिटकू-मिटकू प्रमुख हैं।

जब बाघ या घोड़े की प्रतिमाएँ एकाकी रूप में किसी स्थल विशेष पर स्थापित की जाती हैं तो उन्हें देवताओं के समान दिव्य शक्ति सम्पन्न माना जाता है। बाघ उस स्थिति में 'बाघदेव' और 'घोड़ा', घोड़ा देव के रूप में अराध्य माने जाते हैं। नाग और कमल पुष्प अभिप्रायों का प्रयोग दीपक के लिये प्रचलित है। कमल का अभिप्राय सम्भवतः हिन्दू प्रभाव से आया होगा। कुछ गुड़ियों में अकेली मिटकू की प्रतिमा स्थापित की जाती है और उसे गोंडिन माता के रूप में पूजा जाता है।

काष्ठ शिल्प

सम्पूर्ण मध्यवर्ती भारत में काष्ठ शिल्प प्रचलित है। देश के इस भाग के समस्त सांस्कृतिक जनपदों में आदिवासी निवास करते हैं। सभी आदिवासी काष्ठ का काम कर लेते हैं। वे वनांचलों में रहते हैं और काष्ठ से सम्बन्धित कार्य से उनका आत्मीय और घनिष्ठ सम्बन्ध है। वे काष्ठ से अपने उपयोग के सभी कार्य कर लेते हैं और उससे अपने उपयोग की वस्तुएँ बना लेते हैं। उनके घरों का निर्माण काष्ठ तथा बाँस द्वारा होता है। उनके हल-बक्खर और खेती के अन्य उपकरण काष्ठ के ही होते हैं। कृषि के काम में उपयोग किये जाने वाले लोहे के उपकरणों के हथ्ये भी काठ के ही होते हैं। लोहे वाला कार्य स्थानीय या आसपास निवास करने वाले लोहार करते हैं। बस्तर के सुंदर कलात्मक घोटुल घरों का निर्माण भी काठ से ही होता है। घरों के दरवाजे, चौखट सब कुछ काष्ठ से ही बनते हैं। उनके धनुष-बाण बाँस से ही बनते हैं। विविध प्रकार के मछली पकड़ने के फंदे, टोकरियाँ तथा चिड़िया पकड़ने के फंदे, वन्य प्राणियों को पकड़ने के फंदे आदि सभी सामग्रियाँ बाँस तथा सियाड़ी लता से बनायी जाती हैं। काष्ठ और बाँस को आदिवासियों के जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। धातु के बर्तन महंगे होने के कारण उनका प्रचलन आदिवासियों में लगभग नगण्य है। उनके विकल्प स्वरूप काष्ठ और बाँस के उपकरण काम में लिये जाते हैं। काठ के उपकरणों का आदिवासी जीवन में अत्याधिक महत्त्व है। बैलगाड़ी जो आज भी आवागमन और वस्तुओं को लाने ले जाने का एक मात्र सबसे सुलभ साधन है, उसके निर्माण में सर्वाधिक उपयोग काठ का ही होता है। बैलगाड़ी का एक्सल आजकल यद्यपि स्पात से बनता है, परन्तु लगभग पचास-साठ वर्ष पूर्व तक वह भी कठोर काष्ठ से ही बनता था और ऐसी प्रजाति के काठ को 'एक्सल' तथा औजारों के हथ्यों के लिए किया जाता था। औजारों के हथ्ये आज भी इन्हीं वृक्षों के काठ से बनते हैं। मध्यवर्ती भारत वनसम्पदा की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध और यहाँ अनेक प्रकार के वृक्ष एवं वनस्पति उपलब्ध हैं- जैसे साल, टीक, खम्मर, हल्दू, महुआ, शीशम, आम, इमली, मोदे, बीजा, अर्जुन, धवड़ा आदि।

यद्यपि आदिवासी कांसा-पीतल, लोहारी, वस्त्र बुनाई जैसे कार्य नहीं करते, परन्तु वे काष्ठ कर्म में कुशल हैं। वे अपने सभी काष्ठ के कार्य कर लेते हैं, जिनकी उन्हें अपने जीवन में आवश्यकता

पड़ती है। वे गृह निर्माण से सम्बन्धित कार्य, कृषि के औजार, हल-बकखर, बैलगाड़ियाँ तथा काष्ठ की अन्य कोई भी सामग्री जिनकी उन्हें आवश्यकता पड़ती है, बना लेते हैं। यहाँ तक कि बस्तर के त्योहारों हेतु विशाल रथों का निर्माण भी वे कर लेते हैं। गृह निर्माण सामग्री के अतिरिक्त आदिवासी कलात्मक वस्तुएँ भी बनाते हैं। वे दरवाजों के कलात्मक कपाट तथा चौखटे बनाते हैं, जिन पर गोत्र अभिप्राय उकेरते हैं। मण्डला और डिण्डोरी के गोंड तथा बैगा आदिवासी भी काष्ठ कला में कुशल हैं और वे काष्ठ पर नक्काशी का कार्य भी कर लेते हैं। बस्तर के मुरिया, धुरवा, भतरा नक्काशी के कार्य में अन्य आदिवासियों की अपेक्षा बेहतर हैं। मण्डला के गोंड और बैगा अपनी देवधामी के दरवाजों तथा चौखटों पर सुन्दर नक्काशी करते हैं। बस्तर के मुरिया भी देवगुडियों के दरवाजों पर आकर्षक नक्काशी के साथ ही घोटुल के खम्बों तथा दरवाजों पर सुन्दर नक्काशी करते हैं। बिलासपुर, रागगढ़ तथा सरगुजा के पण्डो, कंवर तथा रजवार भी काष्ठ शिल्प में दक्ष हैं। यद्यपि रजवार आदिवासी नहीं हैं, परन्तु वे उनके साथ घुलमिल कर रहते हैं।

बस्तर के मुरिया मण्डला-डिण्डोरी के गोंड तथा बैगा, बैतूल और बालाघाट के गोंड छेरता पर्व के लिए आकर्षक मुखौटे बनाते हैं। मध्यवर्ती भारत की जनजातियों में देवी-देवताओं के मुखौटों की परंपरा नहीं है, परन्तु कुछ नागर बुद्धिजीवियों के आग्रह तथा सुझावों पर इन्होंने इन्हें देवी-देवताओं के नाम देना शुरू कर दिया है। ऐसे कुछ मुखौटे देश के कुछ प्रतिष्ठित संग्रहालयों में दैवी मुखौटों (Masks of Gods) के रूप में भी पहुँच गये हैं। वेरियन एल्विन ने इस क्षेत्र में काफी भ्रमण किया था और बहुत से मुखौटों का संग्रह किया था, जिसमें से अनेक चित्रों को उन्होंने अपनी पुस्तक 'दी आर्ट ऑफ मिडिल इण्डिया' में प्रकाशित किया था। उनका भी यह मत था कि इस क्षेत्र में देवी-देवताओं के मुखौटों की परम्परा विद्यमान नहीं है। मैंने भी इस जनजातीय क्षेत्र में गत चालीस वर्षों में अनेक यात्राएँ की हैं और कुछ मुखौटों का भी संग्रह किया है। वे सभी छेरता या छेरछेरा मुखौटे हैं। आजकल अधिकाधिक मुखौटे नागरजनों की माँग पर बनाये जा रहे हैं। इन मुखौटों को देवी-देवताओं के नाम आदिवासी समाज के बाहर के नागरजनों द्वारा प्रदान किये जा रहे हैं और लोग इन्हें इसी प्रकार से क्रय भी कर रहे हैं। ये मुखौटे निश्चित रूप से कलात्मक हैं, परन्तु ये धार्मिक नहीं हैं।

काष्ठ के खिलौने नरसिंहपुर, ग्वालियर, श्योपुरकलाँ में बनते हैं और उनमें पहिये वाले तथा बिना पहिये वाले दोनों ही शामिल हैं। श्योपुरकलाँ में काष्ठ के खिलौने खराद पर बनाये जाते हैं। पहले खराद पर बेलनाकार में किसी भी खिलौने के अलग-अलग हिस्से बनाये जाते हैं और फिर उन्हें जोड़कर अंतिम रूप प्रदान किया जाता है। इसके पश्चात् उन पर लाख मिश्रित रंग चढ़ाने का काम भी खराद पर ही किया जाता है। खराद पर रंग चढ़ाने से रंग कम लगाना पड़ता है और खिलौने पर समान रूप से रंग लगता है। ये रंग अत्यंत चटख होते हैं और देखने वाले मोहित रहते हैं। बच्चों को ये खिलौने बेहद पसन्द आते हैं।

कोरकू अपने घरों के दरवाजों की चौखट और कपाटों (किवाड़ों) पर आकर्षक आकृतियाँ उकेरते हैं। ये लोग विवाह मण्डप में जो काष्ठ स्तंभ स्थापित करते हैं, वह मंगरोहण कहलाता है। ये मंगरोहण अत्यंत कलात्मक होते हैं जिन पर शीशे के छोटे-छोटे टुकड़े भी जड़े जाते हैं, जो रात्रि के प्रकाश में और भी आभामय लगते हैं।

सम्पूर्ण मध्यवर्ती भारत में मांदर या मृदंग (तालवाद्य) स्वयं आदिवासियों द्वारा ही बनाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त काष्ठ से बनने वाले अन्य वाद्ययंत्र भी आदिवासी स्वयं बनाते हैं। छत्तीसगढ़ तथा मण्डला क्षेत्र का मांदर जो करमा नृत्य के संग बजाया जाता है, उसे कुम्हार बनाते हैं। मांदर का खोल जो मिट्टी (टेराकोटा) का होता है, उसे कुम्हार बनाते हैं और उसके दोनों छोरों पर चमड़ा मढ़ने का कार्य दलित करते हैं। बस्तर के मुरिया तथा डंडामी माड़िया (गौर सींग माड़िया) जनों का कार्य दलित करते हैं। जिन्हें वे स्वयं तथा डंडामी में मांदरी नामक एक अन्य ताल वाद्य भी प्रचलित है, जो मिट्टी का बना होता है। ये मांदरियाँ डमरू के आकार की होती हैं, परन्तु आकार में डमरू से पाँच छः गुना बड़ी होती हैं। इनका खोल कुम्हार बनाते हैं तथा चमड़ा ये लोग स्वयं चढ़ा लेते हैं।

बस्तर के मुरिया तथा धुरवा काष्ठ की आकर्षक कंधियाँ तथा तम्बाकू रखने की चुनौटियाँ बनाते हैं। बनजारा, गरासिया तथा भील भी काठ की सुन्दर कंधियाँ बनाते हैं। मुरियों की कंधियाँ अत्यंत कलात्मक होती हैं। बनजारों द्वारा बनायी गयी कंधियों पर भी गोत्र अभिप्राय तथा पशु के अभिप्रायों को उकेरा

जाता है। भील एवं गरसियों द्वारा बनायी जाने वाली कंधियाँ सादी होती हैं।

बस्तर, मण्डला, रायगढ़, सरगुजा, सिवनी, बालाघाट, छिंदवाड़ा के बैगा तथा गोंड, अश्व तथा बाघ को देवता मानते हैं। ये लोग काष्ठ के घोड़े और बाघ बनाकर कच्चे झोपड़ों में किसी वृक्ष के नीचे जंगल में चबूतरा बनाकर उस पर स्थापित करते हैं। काठ के चक्के वाले बच्चों के खिलौने भी अनेक स्थानों पर बनाये जाते हैं।

मंदसौर में काष्ठ के कलात्मक डिब्बे बनते हैं और उन पर खचित और जड़ाऊ (Inlay work) का काम किया जाता है। ये डिब्बे शीशम के काठ से बनाये जाते हैं, जिन पर खुदाई करके पीतल की फूल-पत्तियाँ भरी जाती हैं। इस भरत के कार्य में फारसी शैली के अभिप्रायों का उपयोग किया जाता है। भरत के इस कार्य में फूल-पत्तियों के साथ ही पशु-पक्षी तथा मानव अभिप्राय भी प्रयोग में लाये जाते हैं। यह परसियन कला मुगल काल में आरम्भ हुई। फारस (इरान) के शिल्पी इरानियों तथा मुगलों के साथ भारत आये और उनके शासन काल में उनके सम्पूर्ण साम्राज्य में फैल गये। उनके शिल्प का प्रचार-प्रसार उत्तर में कश्मीर से दक्षिण में बीदर तक हो गया।

काष्ठ कला की परम्परा भारत में अत्यन्त प्राचीन है। शिल्पशास्त्र के मतानुसार कलाकर्म हेतु काष्ठ प्राचीनतम माध्यम है। भगवत पुराण में उल्लेख है-

*शैला दारूमयी लोही लेप्या लेख्या च सैकति।
मृण्यमयी मणीमयी प्रतिमास्त विद्या स्मृता।।*

सर्वप्रथम मूर्तिशिल्प काष्ठ में आरंभ हुआ, उसके पश्चात् मृण्य में (टेराकोटा), उसके पश्चात् पत्थर में, फिर रत्नों उपरत्नों में (क्रिस्टल में) और अंत में धातु में। काष्ठ सड़ने गलने वाली वस्तु है। यह मौसम के प्रभाव से, दीमक आदि कीड़ों से एवं अग्नि से नष्ट हो जाती है। इस कारण से हमें बहुत प्राचीन काल की काष्ठ की बनी हुई कलाकृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। छत्तीसगढ़ में काष्ठ शिल्प की परम्परा अत्यंत प्राचीन है। किरारनी का प्रसिद्ध काष्ठ स्तम्भ ईसा की दूसरी शताब्दी का बना हुआ है, जो वहाँ के एक तालाब में स्थापित था। जब तक तालाब में स्थित था तब तक

वह पूर्ण था, परन्तु जैसे ही उसे तालाब से निकाला गया तो वह धूप में तड़क-तड़क कर तीव्रता से टूटने लगा। उस पर ब्राह्मी लिपि में अभिलेख खुदा हुआ था। एक सजग ग्रामीण शिक्षक ने जल्दी-जल्दी उस अभिलेख की नकल कर ली, जिसे बाद में स्वर्गीय लोचन प्रसाद पाण्डेय के द्वारा पढ़ा गया। उसके काष्ठ स्तंभ का एक टुकड़ा रायपुर के महंत घासीदास संग्रहालय में सुरक्षित है।

कुछ समय पूर्व श्रीपुर के उत्खनन में एक विशाल भवन के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिसमें जले हुए अनेक काष्ठ स्तंभों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। भवन के विशाल आकार से ज्ञात होता है कि यह किसी राजप्रसाद का अंग है। इसका निर्माण काल छठवीं-सातवीं शताब्दी माना जाता है। ये कुछ उदाहरण छत्तीसगढ़ में काष्ठशिल्प की प्राचीन परम्परा के साक्ष्य हैं।

छत्तीसगढ़ में तालाबों के निर्माण की एक निरंतर परम्परा है। तालाब निर्माण के पश्चात् उसके केन्द्र में काष्ठ का एक स्तंभ स्थापित करने की परम्परा है। यह स्तंभ मंगरोहन (विवाह) स्तंभ का प्रतीक है। तालाब का विवाह आकाश के साथ सम्पन्न करने की प्रथा है। जब तक ऐसा विवाह सम्पन्न नहीं होगा, तब तक तालाब में वर्षा जल नहीं रूकेगा और वह रिस-रिसकर बह जायेगा, ऐसा लोक विश्वास प्रचलित है। यह विवाह स्तंभ वर्षा को आकर्षित करने वाला है। किरारनी काष्ठ स्तंभ इस गूढ़ प्रथा का एक उदाहरण है। मंगरोहन जो ग्रामीणजनों में मांडा भी कहलाता है, वह काष्ठ के एक मोटे तने से बनाया गया स्तंभ होता है जो सैकड़ों वर्षों तक नहीं सड़ता। कभी-कभी मंगरोहन को तराश कर उसे मनुष्य की आकृति का रूप भी प्रदान किया जाता है।

काष्ठ शिल्पकला के अनेक आयाम विद्यमान हैं। बस्तर के डंडामी माड़िया किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त उसकी स्मृति में काष्ठ स्तंभ स्थापित करते हैं। जगदलपुर से दंतेवाड़ा जाने वाले मार्ग के दोनों ओर बीच में पड़ने वाले गाँवों में से कई एक स्थानों पर विशाल काष्ठ स्तंभ दिखाई पड़ते हैं। वे काष्ठ स्तंभ किसी भारी वृक्ष के एक तने को काट कर बनाये जाते हैं। जिन ग्रामों में ऐसे स्तंभ स्थापित हैं, उनमें बाघमोली, डिलमिली, बस्तानार एवं किलेपाल प्रमुख हैं। ये स्तंभ 12 से 15 फीट ऊँचे हैं और सात से नौ फीट मोटे हैं। ये सभी स्तंभ एक विशाल वृक्ष के

तने से बनाये गये हैं और सभी ऊपर से नीचे तक आकर्षक ढंग से उत्कीर्ण हैं और जनजातीय अभिप्रायों की उन पर नक्काशी की गई है। इन अभिप्रायों में कच्छिम, बोधमीन, बाघ, नाग, कुत्ते, मुर्गे आदि अभिप्राय प्रमुख हैं। किसी-किसी स्तंभ पर मृतक की पत्नी को नग्न अवस्था में बैठा हुआ दर्शाया गया है। उसकी टांगे फैली हुई हैं। बैठने का यह आसन लज्जागोरी की मूर्ति शैली से मिलता-जुलता है, परन्तु इनमें सीधा कोई सम्बन्ध हो ऐसा नहीं लगता। उकेरी गई आकृतियों में युवक-युवतियों को गौरसींग माड़िया शैली में ही नृत्य करते दिखाया जाता है। उसके पीछे आशय संभवतः यह है कि परलोक में भी मृतक को इसी प्रकार का आनंद एवं वैभव प्राप्त हो। मृतक के कुछ मित्र एवं परिवारजन एक कावड़ में लांदा (चावल की शराब) ले जाते हुए दर्शाये जाते हैं। मृतक को हाथी पर बैठकर परलोक (देवलोक) जाते हुए उकेरा जाता है। एक स्तंभ पर मृतक की दोनों पत्नियों को भी उसके साथ हाथी पर बैठकर परलोक जाते हुए दर्शाया गया है। उसके हाथ में महुवे की मदिरा की एक तुंबी है। डिलमिली ग्राम के एक काष्ठ स्तंभ पर मृतक को हल से खेत जोतते हुए दिखाया गया है। हल में दो बैल जुते हुए हैं।

इन स्तंभों पर कुछ मिथुन आकृतियाँ भी उकेरी गई हैं। पशु आकृतियों में कुत्ता और कुतिया, मुर्गा-मुर्गी, बन्दर-बंदरिया मैथुनरत उकेरे गये हैं। इन अभिप्रायों का सम्बन्ध अभिचार से हो सकता है। अन्य अभिप्राय जो इन स्तंभों पर उकेरे गए हैं, उनमें मयूर एवं कुछ अन्य मिथकीय पक्षी हैं। एक नये स्तंभ में मृतक को मोटरकार में बैठकर परलोक जाते हुए दर्शाया गया है। इन स्तंभों के ऊपर कौए या मोर अभिप्राय बनाये जाते हैं। आजकल काष्ठ स्तंभों के स्थान पर पत्थर की सपाट सिल्लियाँ उपयोग में लाई जा रही हैं। इन पर पत्थरों पर शिल्प और अभिप्राय को उत्कीर्ण करना तो सम्भव नहीं है, अतः उन्हें तैलरंगों से रंगकर बनाया जाता है।

झोरिया मुरिया क्षेत्र में जहाँ घोटुल प्रथा विद्यमान है, वहाँ अनेक प्रकार के काष्ठ शिल्प प्रचलन में हैं। घोटुल गुड़ी का निर्माण ही कलात्मक ढंग से किया जाता है। प्रथम घोटुल का निर्माण लिंगो पेन किया था और उसे मुरिया लिंगो द्वारा प्रदत्त श्रेष्ठतम उपहार मानते हैं। मानव समाज को यह उनकी (लिंगों की) देन का महानतम खजाना है। इसकी तुलना लिंगो द्वारा प्रदत्त

न तो अग्नि से, न ही महुवे की मदिरा से और न ही संगीत से की जा सकती है।

घोटुल को डिंडामहल कहते हैं (कुमार या अविवाहित गृह)। मुरिया मिथक में लिंगोपेन द्वारा निर्मित प्रथम घोटुल का वर्णन इस रूप में मिलता है, ¹¹- घोटुल के केन्द्र में स्थित प्रमुख स्तंभ अजगर का था, छप्पर की ऊपरी मयालों महामंडल सर्पों से निर्मित थी, ऊपरी शहतीर (कड़ी) धामन सर्प से निर्मित थी, आड़ी कर्डियाँ नाग सर्पों से बनी थी। छप्पर के ढाँचे को करायत सर्पों से बनाया था, जिन्हें वाइपर सर्पों से आपस में बाँधा गया था। घोटुल का बारामदा बुलबुल के सुंदर पंखों द्वारा बनाया था। बोधमीन मछली की हड्डियों से उस घोटुल की दीवारें बनाई गई थीं। घोटुल का दरवाजा सियाड़ी लता के लाल फूलों से बनाये गये थे, चौखटें राक्षस की हड्डियों से निर्मित की गई। चौखटों को उलरम लोम सर्प से बाँधकर खड़ा किया गया। घोटुल की दीवारों को उड़द के आटे से लीपपोत कर तैयार किया गया। बैठने के आसन के लिये मगरमच्छों का प्रयोग किया गया। उस घोटुल में एक आंगा छत से फिटफिटी सर्पों के सहारे से लटका हुआ था।

घोटुल निर्माण से सम्बन्धित यह मिथक सचमुच बहुत ही विलक्षण है, क्योंकि निर्माण कार्य में विभिन्न प्रकार के सर्पों का उपयोग एक अत्यंत कलात्मक कल्पना है। घोटुल किशारों और युवकों का साम्राज्य है। इसी कारण से वे इतनी सुन्दरता से इसका निर्माण करते हैं। घोटुल के निर्माण में अधिकतर मिट्टी, बाँस तथा काष्ठ का उपयोग होता है। घोटुल के स्तंभ, चौखट और दरवाजे काठ के ही होते हैं और उनपर खुदाई का सुन्दर कार्य किया जाता है। घोटुल गुड़ी के बाहर एक बड़ा-सा खुला हुआ प्रांगण होता है, जिसमें युवक-युवतियाँ नृत्य करती हैं। इस प्रांगण के बीचों-बीच एक तराशा हुआ काष्ठ का स्तंभ स्थापित किया जाता है, जो लिंगोपेन का प्रतीक है। इस स्तंभ पर आकर्षक अभिप्राय तराशे जाते हैं।

मुरिया लोग काठ से एक आंगा का निर्माण भी करते हैं जो उनके कुल के देवता हैं। यह आंगा काठ के दो समानान्तर दो गोल लट्ठों से जोड़कर बनाते हैं। इस पालकी पर आंगा एक सर्प के फण (एल्विन ने इसे घोड़ा माना है) के रूप में विराजमान होते हैं। मुरिया बस्तर की सर्वाधिक कलाप्रिय जनजाति है। ये लोग

काष्ठ को तराशने के कार्य में कुशल होते हैं। इनकी मातागुड़ी के दरवाजे और चौखट अत्यंत कलात्मक होते हैं। ये लोग श्रृंगार प्रिय होते हैं और इस जनजाति के युवक और युवतियाँ दोनों ही खूब बन-संवर कर रहना पसंद करते हैं। मुरिया युवक काठ की बहुत सुंदर तम्बाकू की डिब्बियाँ और कंधियाँ बनाते हैं। ये सभी चीजे अपने स्वयं के उपयोग के लिये ही बनाते हैं।

अविवाहित मुरिया युवक चेलिक कहलाते हैं और युवतियाँ मोटियारी। चेलिक अपनी प्रिया मोटियारियों के लिये कलात्मक कंधियाँ बनाकर उन्हें भेंट में देते हैं। इन कंधियों पर वे कई प्रकार के अभिप्राय उकेरते हैं जिनमें कुछ अभिप्राय गोत्रों से सम्बन्धित हैं और कुछ गूढ़ जादुई अभिप्राय हैं। कुछ प्रतीक यौनांगों के भी उकेरे जाते हैं, जो ज्यामितीय प्रतीकों में बनाए जाते हैं।

मुरिया, धुरवा एवं भतरा लोग तम्बाकू रखने की काठ की सुन्दर डिब्बियाँ भी बनाते हैं। इन डिब्बियों में भी जननांगों के अभिप्रायों को उकेरा जाता है। तम्बाकू को चूने के साथ मलकर इन डिब्बियों में भर लिया जाता है। इन डिब्बियों को स्थानीय भाषा में चुनौटी या गोटा कहते हैं और आदिवासी इन्हें अपनी अंटी में बाँधकर हमेशा अपने साथ रखते हैं।

मुरिया काठ की मूर्तियाँ और मुखौटे भी बनाते हैं। काष्ठ की कलाकृतियों के प्रमुख विषय माँ और बच्चा, बाजार जाती हुई स्त्री, तालाब या नदी से पानी लेकर आती हुई स्त्री आदि हैं। आजकल झूले पर बैठी हुई मातामूर्ति जिसे झूलादेवी कहते हैं, वह भी कुछ लोग बनाने लगे हैं। ऐसे बड़े आकार के झूले अनेक माता गुड़ियों के सामने स्थापित होते हैं और जब किसी सिरहा के अंग में भाव (ट्रान्स) आता है तो वह झूले में लगी कीलों पर बैठ जाता है। काठ या ताँबे से बने हुए मुखौटों का प्रयोग छेरता या छेरछेरा त्योहार के अवसर पर युवक आनंद एवं मनोरंजन के लिये करते हैं। खरीफ की फसल कटने के बाद युवक मुखौटे लगाकर आस-पास के गाँवों में घर-घर जाते हैं और तरह-तरह के भावों का प्रदर्शन करके लोगों का मनोरंजन करते हैं। छेरछेरा में लड़कियाँ भाग नहीं लेती। युवक गृहस्वामी से कहते हैं- 'छेर छेरा रे छेर छेरा! माई कोठी के धान ला हेरहेरा' इस प्रकार वे प्रत्येक घर से चावल एकत्र करते हैं और उससे सामूहिक भोज का आयोजन करते हैं। छत्तीसगढ़ के आदिवासियों में देवी-

देवताओं के मुखौटों की कोई परम्परा नहीं है। ये मुखौटे मनोरंजन के उद्देश्य से ही केवल छेरछेरा पर्व पर देखने को मिलते हैं। यहाँ तक कि डिंडोरी और मंडला क्षेत्र के आदिवासियों में भी धार्मिक मुखौटों की कोई परम्परा विद्यमान नहीं है और वहाँ भी छेरछेरा त्योहार वाले मुखौटे ही प्रचलित हैं।

गोंड जनजाति का काष्ठ शिल्प के साथ एक विशिष्ट रिश्ता है। उनके सबसे बड़े देवता बूढ़ापेन का निवास साजा वृक्ष में है, इसलिये साजा वृक्ष उनके लिये आराध्य हैं। उनके कुलदेवता आंगा को भी या तो साजा की लकड़ी से बनाया जाता है या महुआ की लकड़ी से।

बिलासपुर और कवरधा की बैगा जनजाति भी काष्ठ शिल्प में बहुत कुशल है। गोंड और परधान भी काष्ठ के अच्छे शिल्पी हैं। बैगा लोग काठ के सुन्दर मुखौटे बनाते हैं। ये लोग अपने घरों के दरवाजे और चौखटें सुरुचिपूर्ण एवं कलात्मक बनाते हैं। दरवाजों के पल्लों पर बैगाजन फूल, सूर्य, घोड़ा, हाथी, कुत्ते, नृत्य करते हुए युवक-युवतियाँ जैसे अभिप्रायों को उकेरते हैं। वेरियर एल्विन ने 'ट्राइबल आर्ट मिडिल इण्डिया' के पृष्ठ 150, 151, 159, 160, 161, 162 और 163 पर बैगा तथा गोंडो द्वारा निर्मित मुखौटों के चित्र प्रकाशित किये हैं। इसी ग्रंथ में उन्होंने पृष्ठ 106 और 107 पर बैगाओं तथा गोंडो के दरवाजों के चित्र भी प्रकाशित किये हैं। मैंने भी अपने व्यक्तिगत संग्रह हेतु कुछ बैगा तथा गोंड मुखौटों का संग्रह किया है। ये सभी मुखौटे नकल उतारने तथा मनोरंजन हेतु बनाये गए हैं।

बैगा एक आदिवासी जनजाति है और आज भी ये लोग अनेक स्थानों पर 'खेती' करते हैं। ये लोग अभी भी आंशिक रूप से कृषि पर एवं आरंभिक रूप से आखेट एवं वनोपज संग्रह पर आश्रित हैं। इनका बाह्य जगत से सम्पर्क अत्यंत सीमित है। यदि इन्हें थोड़ा-सा प्रशिक्षण एवं अच्छे औजार प्रदान किये जाये, तो इनमें से अनेक कुशल शिल्पी निकल सकते हैं। बैगा बाँस कार्य में भी कुशल हैं। ये लोग अनेक प्रकार के फंदे बनाते हैं, जिनमें तेदुए, जंगली सूअर, खरगोश, हिरण, चूहे, मछलियाँ आदि सरलतापूर्वक पकड़ी जा सकती है। इन फंदों के अतिरिक्त ये लोग बाँस से अनेक प्रकार की टोकरियाँ भी बनाते हैं।

सरगुजा के रजवार तथा पंडोजन भी काष्ठ शिल्प में कुशल हैं। ये लोग अपने घरों के दरवाजों की चौखटों और पल्लों पर फूलों और पशुओं के सुंदर अभिप्राय उकेरते हैं। आजकल इन लोगों ने नगरजनों के लिये काठ के पटियों पर उकेर कर रिलीफ शैली में कलाकृतियाँ बनाना शुरू किया है, जिनकी अच्छी माँग है।

गत पच्चीस-तीस वर्षों में बस्तर की काष्ठ कला में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है। पूर्वी बंगाल से आये हुए बंगाली शरणार्थियों को दण्डकारण्य प्रोजेक्ट के एक प्रशिक्षक श्री गुहा ने काष्ठ कर्म प्रशिक्षण प्रदान किया। इसके परिणाम स्वरूप कुछ बंगाली युवक प्रशिक्षित होकर काष्ठ शिल्प कार्य करने लगे। सेवानिवृत्त होने के उपरान्त गुहा ने जगदलपुर में ही डांसिंग कैक्टर्स के नाम से एक एम्पोरिया खोल लिया। इसमें वे बंगाली युवकों के साथ ही कुछ आदिवासियों को भी प्रशिक्षित करने लगे। इस कार्य हेतु उन्हें कुछ अनुदान शासन से तथा कुछ अनुदान आक्सफॉम नामक संस्था से प्राप्त होता था। इस प्रकार से बस्तर में एक सौ से अधिक युवक काष्ठ शिल्प में प्रशिक्षित हो गये और उन सभी ने इस कार्य को अपनी आजीविका के रूप में अपना लिया। उन्होंने आदिवासियों के रोजमर्रा की जिन्दगी के अभिप्रायों को काष्ठ शिल्प में अपना लिया। गुहा पटियों पर आकृतियों को उकेरने के साथ ही त्रिआयामी शिल्प भी बनाते थे, और उसका प्रशिक्षण उन्होंने सभी प्रशिक्षार्थियों को भी प्रदान किया।

पटियों पर उकेरने की शैली एवं अभिप्रायों का शीघ्र ही साज-सज्जा एवं उपयोगी वस्तुओं में प्रयोग किया जाने लगा। पलंग, दीवान, टेबल, कुर्सी, दीवार पर लटकाये जाने वाली चित्र कृतियाँ बस्तर कला के नाम से प्रसिद्ध हो गई। इन उकेरे गये अभिप्रायों में बस्तर के दशहरे, मड़ई, हाट बाजार, मुर्गा लड़ाई, सल्फी उतारते और पीते युवक-युवातियों आदि के दृश्य प्रमुखता से अपनाए गये। वर्तमान समय में बस्तर में पाँच-छः सौ काष्ठ शिल्पी नियमित इस कार्य में लगे हुए हैं, जिसमें आदिवासी और गैर आदिवासी दोनों शामिल हैं। इन शिल्पियों में से लगभग एक दर्जन शिल्पियों को राष्ट्रीय स्तर पर एवं प्रदेश स्तर पर सम्मानित किया जा चुका है। काष्ठ शिल्प में विकास की और अधिक संभावना है। वर्तमान में जगदलपुर, कोंडागाँव, नारायणपुर और परचनपाल में दो दर्जन एम्पोरिया काष्ठ शिल्प के व्यवसाय में लगे

हुए हैं। इनके अतिरिक्त बस्तर के काष्ठ शिल्प के व्यवसाय में रायपुर में भी आधा दर्जन एम्पोरिया सक्रिय हैं।

आदिवासी अभिप्रायों वाले बस्तर के तराशे हुए सजावटी सामान एवं फर्नीचर के शिल्प में रोजगार की काफी संभवनाएँ हैं। शासन इस दिशा में यदि कल्पनाशील नीतियाँ बनाए तो इन वस्तुओं का भारी मात्र में निर्यात भी किया जा सकता है। इस दिशा में कुछ आरंभिक कार्य-योजना बनाने की आवश्यकता है। कुछ सुविधाएँ भी देनी होंगी। बस्तर एवं छत्तीसगढ़ के वनों में उच्चकोटि की काफी इमारती लकड़ी शिल्प कार्य के लिये उपलब्ध है। आधुनिक तकनीक एवं उन्नत औजार और मशीनों पर प्रशिक्षण हेतु बड़े पैमाने पर आदिवासी क्षेत्र के युवकों को वजीफे देकर इस कार्य की ओर आकर्षित करना चाहिये।

मूर्तिशिल्प

भारत में मोमक्षय विधि से मूर्ति निर्माण की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। इस विधि से ठोस एवं खोखली दोनों ही प्रकार की मूर्तियों की ढलाई की जाती है। विश्व में सर्वत्र ही मोमक्षय तकनीक एक जैसी समान रूप से प्रचलित रही है। सम्पूर्ण विश्व में जहाँ-जहाँ भी इस प्रकार के मूर्ति शिल्प के केन्द्र रहे हैं, उन सभी में इस विधि से शिल्प निर्माण की परंपरा रही है। वर्तमान समय में कांस्य की ठोस प्रतिमाएँ दक्षिण भारत में बनती हैं। तमिलनाडु का तन्जाउर नगर इस शैली के कांस्य शिल्प का प्रमुख केन्द्र है। खोखली शैली के कांस्य एवं पीतल के शिल्प की परंपरा छत्तीसगढ़ के आदिवासी क्षेत्रों में झारखण्ड और उड़ीसा तथा पश्चिम बंगाल में विद्यमान हैं। इन प्रदेशों के कांस्य शिल्पी आदिवासियों की देव प्रतिमाएँ तथा उनके धार्मिक अनुष्ठानों आदि में उपयोग में आने वाली वस्तुएँ ही अधिकांश रूप में बनाते हैं। इनके अतिरिक्त ये शिल्पी आदिवासियों के दैनिक उपयोग में आने वाली वस्तुएँ बर्तन, आभूषण और दीपक आदि भी बनाते हैं। मंदिरों की घंटियाँ, अन्न नापने के मान, विभिन्न प्रकार के मान तथा बैठा दीपक, सिंदूर-कुमकुम, हल्दी-तेल आदि के कलात्मक पात्र भी बनाते हैं। बस्तर के घड़वा कांस्य की ठोस प्रतिमाएँ भी बनाने लगे हैं। धातु विज्ञान में ताम्र एवं कांस्य के आविर्भाव के परिणामस्वरूप कांस्य युग में ढलाई के क्षेत्र का विकास सम्भव हो सका।

कांस्य के ठोस उपकरण बनाने हेतु जो प्रक्रिया अपनाई जाती है, वह इस प्रकार है- जो भी आकृति बनानी हो, सर्वप्रथम उस आकृति को मधुमक्खी के मोम से उसका निर्माण करते हैं। मोम की एकदम ऐसी यथार्थ प्रतीत होने वाली आकृति बना ली जाती है, जैसी वह बनने के पश्चात् दिखाई दे। इस मोम द्वारा निर्मित आकृति को गीली मिट्टी का लेप करने पर मिट्टी की एक मोटी परत मोम की आकृति पर चढ़ जाती है। प्रत्येक मिट्टी के लेप के बाद उसे धूप में रखकर सुखाया जाता है। खुले प्रांगण में एक खुली हुई भट्टी बनाते हैं, जिसकी गहराई दस से बारह इंच होती है। फिर उस भट्टी को ईंटों से गोलाकार में घेर दिया जाता है। गड्ढे से ईंटों के ऊपरी हिस्से तक की ऊँचाई कलाकृति के आकार के अनुसार निर्धारित की जाती है।

ईधन हेतु कच्ची लकड़ी का उपयोग किया जाता है। मिट्टी से ढके मोल्ड में एक या दो छिद्र लगभग एक तिहाई मोटे छोड़े जाते हैं। जिन्हें उतने ही मोटे गोलाकार रस्सी सदृश्य दो से चार इंच लम्बे मोम से सम्बद्ध किया जाता है। मोल्ड को गर्म करने पर यह मोम पिघल कर नष्ट हो जाता है और उस स्थान पर एक नली या रास्ता बन जाता है, जहाँ से पिघली हुई धातु खाली स्थान में प्रविष्ट होकर उसे भर देती है। मोल्ड को भट्टी में रखकर उसे लम्बे समय तक तेज आँच में गर्म किया जाता है। गर्म होने पर मोम पिघल कर जल जाता है। लम्बे समय तक गर्म करने पर मिट्टी पक जाती है और वह स्थिर हो जाती है। मोम के जलने पर खाली हुए स्थान में पिघला हुआ धातु भर दिया जाता है। ठंडा होने पर मिट्टी को तोड़कर पृथक कर दिया जाता है और मोम की आकृति के स्थान पर हुबहू धातु की प्रतिकृति प्राप्त हो जाती है। इस विधि से शिल्प निर्माण में मोम नष्ट हो जाता है, इसीलिये इसे मोमक्षय विधि कहा जाता है।

थोथी या खोखली कलाकृतियों की ढलाई की विधि काफी पेचीदा एवं जटिल है, साथ ही कठिन भी। जो कलाकृति धातु में बनानी है उसे पहले मिट्टी से बनाते हैं, यह मिट्टी भी विशेष की प्रकार होती है। इस कार्य के लिए नदी की एक विशिष्ट प्रकार की मिट्टी या दीमक की बांबी की मिट्टी ही उपयुक्त मानी जाती है। इस मिट्टी का चुनाव सतर्कतापूर्वक किया जाता है। इस मिट्टी को भिगाकर इसमें धान का पुवाल मिलाकर उसे अच्छी तरह से कूट-कूटकर मिलाया जाता है। इस पुवाल मिश्रित

मिट्टी से कलाकृति का निर्माण किया जाता है। कलाकृति तैयार हो जाने पर सूखने के लिये धूप में रख देते हैं। जब यह कलाकृति सूख जाती है, तब उसे एक के बाद एक बारीक कपड़े से छनी हुई काँप मिट्टी का तीन-चार बार लेप चढ़ाया जाता है। प्रत्येक लेप के बाद उसे धूप में सुखाते हैं। मिट्टी के अंतिम लेप के सूख जाने के उपरान्त उसे लकड़ी के एक टुकड़े से घिसकर ऊपरी सतह को चिकनी बनाते हैं।

मधुमक्खी के छत्ते से प्राप्त मोम को एक बर्तन में गर्म करते हैं तथा गर्म करते समय उसमें थोड़ा तेल मिला देते हैं। तेल मिलाने पर मोम नर्म हो जाता है। इस मोम को एक चलनी में भर देते हैं। फिर उस चलनी के आकार में ठीक बैठने वाली दाब देने वाली काष्ठ की गोल मूठ से दबाते हैं। उसे दबाने के लिये लकड़ी के दो डंडे होते हैं, जिनमें दबाई जाने वाली गोल लकड़ी को फँसाने के लिए उसी के आकार का एक खाँचा बना होता है। दोनों डंडों को ताकत के साथ दबाने पर चलनी से मोम के तार बनकर निकलते हैं। चलनी में भिन्न-भिन्न आकार के छिद्र बने होते हैं, अतः मोम के तार भी उन छिद्रों के आकार के अनुसार ही बनते हैं। मिट्टी की प्रतिमा के सूख जाने पर उसे मोम के तारों से लपेटकर पूरी तरह ढँक दिया जाता है। इन तारों को लकड़ी की एक मोटी नुकीली सींक से रगड़ कर आपस में मिलाया जाता है, जिससे मोम के तारों की मिलकर एक सतह निर्मित हो जाती है। इसके पश्चात् मोम के ही बारीक तारों से कलाकृति पर अलंकरण का कार्य किया जाता है। अलंकरण पूर्ण हो जाने पर उसे काँप मिट्टी को कपड़े से छान करके उसको गीला करके कलाकृति पर लेप करते हैं। यह लेप एक के बाद एक करके तीन चार बार चढ़ाते हैं। प्रत्येक लेप के बाद कलाकृति को धूप में अच्छी तरह सुखाते हैं। इस कलाकृति के साथ मोम के दो तार मोम की आकृति के साथ जोड़ दिये जाते हैं। उन पर भी मिट्टी चढ़ा दी जाती है।

मिट्टी का ही एक धरिया बनाया जाता है, जिसे कलाकृति के साथ मोटे मोम वाले तारों के साथ जोड़ दिया जाता है। इन्हीं तारों के जल जाने पर पिघली हुई धातु के जाने का मार्ग बनता है। कलाकृति को भट्टी में सीधा खड़ा कर दिया जाता है और उसके चारों ओर लकड़ियाँ जमा दी जाती हैं। धरिया वाला भाग नीचे की ओर होता है फिर आग जलाई जाती है धौंकनी से हवा देकर उसे

प्रज्वलित किया जाता है। कुछ घण्टों तक धौंकनी पर कलाकृति की ऊपरी सतह वाली मिट्टी पक कर लाल हो जाती है और मोम जलकर नष्ट हो जाता है। धरिये से जब नीली-पीली लौ निकलने लगती है तो पता चलता है कि धातु पिघल गई है। धातु के अच्छी तरह पिघल जाने पर इस पूरे शिल्प को उलट दिया जाता है। तब धरिया ऊपर होता है और कलाकृति नीचे की ओर पिघलती हुई धातु सेंट्रीफ्युगल फोर्स से मोम के रिक्त स्थान में भर जाती है। जब यह कलाकृति ठंडी हो जाती है, तब ऊपर की मिट्टी को तोड़कर हटा दिया जाता है और भीतर से कलाकृति प्रकट हो जाती है। मूर्ति हुबहू उसी प्रकार की होती है जिस प्रकार वह मोम चढ़ाने के उपरांत दिखाई पड़ती है। आरंभ में जिस मिट्टी से कलाकृति का मोल्ड तैयार किया गया था, वह मिट्टी कलाकृति के भीतर ही रह जाती है। चूँकि उसके साथ पर्याप्त मात्रा में धान के पुआल का कुटा हुआ चूरा मिला हुआ होता है, इसलिये वह पुआल और मिट्टी कोयला बन जाती है। इस जली हुई मिट्टी का वजन सम्पूर्ण कलाकृति के वजन का दस-पन्द्रह प्रतिशत होता है। इन थोथी कलाकृतियों में धातु का उपयोग अत्यंत किफायती होता है। कलाकृतियों में धातु की परत 1/16 के अनुपात में होती है। कलाकृति के अंदर की मिट्टी कलाकृति के आकार को मजबूती प्रदान करती है।

शिल्प की मोमक्षय विधि का महत्त्व इसलिये भी है कि इसका उद्भव कांस्य युग के आरंभिक काल में हुआ था। जहाँ इस विधि का विश्व के बहुत से क्षेत्रों में लोप हो गया है, वहीं यह परम्परा मध्यवर्ती भारत के जनजातीय क्षेत्रों में आज भी सुरक्षित है। एशिया में भारत, नेपाल, वर्मा और मलय जैसे कुछ ही देशों में धातु शिल्प की यह परंपरा बची हुई है।

प्राचीन विश्व के किस पूर्वी भू-भाग में धातु की ढलाई का कार्य सर्वप्रथम आरंभ हुआ था, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता है। सर मार्टिनर व्हीलर के मतानुसार कांस्ययुग कांस्य की तकनीक की खोज के साथ ही यह विद्या अनेक क्षेत्रों में लगभग एक ही साथ विकसित हुई होगी जो उत्तर पश्चिम में ग्रीस से आरंभ होकर मेसापोटेमिया तक फैल गई। मिग्रेल के रूबिचस के मतानुसार पूर्व कोलंबियन इंडियन कला या मैक्सिकन धातु विज्ञान लगभग एक समान है, चाहे वह सोने को पीट-पीट कर उसके महीन पतरे बनाकर उनसे चित्रांकन करना हो या फिर

मोमक्षय विधि द्वारा ढलाई करके शिल्प निर्माण हो, जिस विधि में पहले मोम के द्वारा शिल्प की रचना कर उसे धूना या गोंद से कठोर बनाकर ढलाई करना हो। चूँकि ये शिल्प कृतियाँ भीतर से खोखली होती हैं, अतः सर्वप्रथम लकड़ी के कोयले को बारीक पीसकर उस चूरे को मिट्टी में मिलाकर शिल्प कृति का आरंभिक रूप तैयार किया जाता है, उसके पश्चात् उस पर मकड़ी के जाले के सदृश्य मोम की महीन परत सीधी समानान्तर रेखा में चढ़ाई जाती है। मोम की इस परत का स्थान पिघली हुई धातु ग्रहण कर लेती है। ऊपर की मिट्टी की परत तोड़कर हटा दी जाती है और स्वर्ण की कलाकृति प्रकट हो जाती है। इस विधि से बनाई गई कलाकृति हुबहू मोम की आकृति की सदृश्य होती है और वे सूक्ष्म फिलिगरी कार्य का मुकाबला करने योग्य होती हैं।

प्राचीनकाल में सम्पूर्ण विश्व के भिन्न-भिन्न व्यापक भौगोलिक क्षेत्रों में तकनीकी विकास भिन्न-भिन्न समय में हुआ, जैसे ही मानव समाज ने घुमंतू जीवन शैली से स्थाई जीवन शैली को अपनाया और ग्राम एवं नगर बसाकर रहने लगा, तबसे हल, करघे और पहिये का उपयोग और धातु की ढलाई की तकनीक सीख ली। सिंधु घाटी में भी एक विकसित सभ्यता का आरंभ हुआ, जिसमें दो बड़े नगरों का उद्भव हुआ जो मोहनजोदाड़ो और हड़प्पा के नाम से जाने जाते थे। ये सभ्यता के प्राचीन केन्द्र थे। धातु की खोज और उनकी ढलाई तथा मिश्र धातु के विधि के विज्ञान ने मानव समाज को नई समस्याओं का मुकाबला करने हेतु क्षमता प्रदान की। धातुओं की खोज तथा उनका उपयोग कर सकने के ज्ञान के विकास के कारण सैंधव सभ्यता के लोग कृषि औजार तथा अन्य उपकरण, धातु के हल, कुल्हाड़े, बक्खर, धातु के शीर्ष वाले बाण बनाने लगे। इसके परिणाम स्वरूप कृषि, भवन निर्माण, काष्ठ कर्म, धातु कर्म आदि सम्भव हो सके। धातु के हथियार भी बनने लगे, जो मानव सभ्यता के विकास में सहायक हुए।

भारतीय समाज और यहाँ के शिल्पियों को इस बात का श्रेय देना होगा कि उन्होंने पाँच हजार वर्ष पूर्व आरंभ हुई कांस्य युग की इस कला परम्परा को वर्तमान समय तक न केवल जीवित रखा, वरन् उस विधि से निरंतर उसमें कार्य करते रहे। आरंभ में जो वस्तुएँ बेंत, बाँस तथा काष्ठ द्वारा बनाई जाती थी, उन्हें कालान्तर में धातु में बनाया जाने लगा। जब धातु खनिजों की

खोज हुई और उन्हें गलाकर धातु प्राप्त करने की विधि और मिश्र धातु तकनीक आदि का विकास हुआ, तब लोग बाँस, कावड़ बेंत आदि का परित्याग करके उनके स्थान पर अधिक कठोर और मजबूत माध्यम धातु का प्रयोग करने लगे। यह प्रक्रिया ताम्र-कांस्य युग में ही आरंभ हो गई थी। ठोस उपकरणों के निर्माण हेतु मोम का प्रयोग करने की विधि भारतीय शिल्पियों के कौशल की एक महान उपलब्धि थी। खोखली कला-कृतियों के निर्माण हेतु मोम के बारीक तार बनाकर उन्हें कलाकृति के मोल्ड पर लपेटकर उसे ढकने और इस विधि से ढलाई करके शिल्प निर्माण की कला इन शिल्पियों का तकनीक के क्षेत्र में श्रेष्ठ योगदान माना जाएगा। शिल्पी किसी भी प्रकार का त्रियामी शिल्प कुशलतापूर्वक मोम की सहायता से बनाने में सक्षम हैं। प्रत्येक शिल्प के लिये मोम के एक नये मोल्ड को बनाना पड़ता है और वह उस शिल्प की ढलाई के समय नष्ट हो जाता है। इस विधि में मोम नष्ट हो जाता है। मोम की कोई भी अनुकृति नहीं बचती है और प्रत्येक शिल्प या वस्तु के लिये मोम का नया मोल्ड बनाना होता है, अतः प्रत्येक ढली हुई वस्तु या कलाकृति मौलिक होती है, वह किसी की अनुकृति नहीं होती। इस विधि में कोई स्थाई सांचें का प्रयोग नहीं होता। अतः मोमक्षय विधि से निर्मित सभी शिल्प कृतियाँ मौलिक होती हैं। इस विधि की दूसरी विशेषता यह है कि प्रत्येक शिल्पी अपना-अपना मोल्ड स्वयं बनाते हैं तथा उस पर मोम का आवरण स्वयं चढ़ाते हैं, इसलिये वे अपनी-अपनी स्वतंत्र शैली का विकास कर लेते हैं और इसके कारण उनकी अपनी स्वतंत्र पहचान बन जाती है। इसी के फलस्वरूप प्रत्येक शिल्पी अपनी-अपनी पृथक विशिष्ट शैली विकसित कर लेता है।

दक्षिण भारत में चोल शासन काल में कांस्य शिल्प अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुका था। उस काल में मोमक्षय विधि से निर्मित मूर्तियाँ भारतीय कला की महान उपलब्धि हैं। ये मूर्तियाँ विज्ञान के आधार पर निर्मित हैं ताकि उनके अंगों के आकार शास्त्रोक्त अनुपात में बने तथा उनकी भाव भंगिमा, अनुशांगिकता एवं प्रतीकात्मकता शिल्पशास्त्र के अनुसार निर्मित है। नियमों के अनुसार बनने पर भी कोई मूर्तियाँ एक समान नहीं हैं। बस्तर के घड़वा शिल्प आदिवासियों की देव प्रतिमाएँ बनाते हैं, परन्तु किसी भी शिल्पी द्वारा निर्मित एक ही देवी या देवता की प्रतिमा

किसी भी अन्य शिल्पी द्वारा निर्मित उसी देवी या देवता की प्रतिमा के सदृश्य नहीं होती। यहाँ तक कि एक ही शिल्प द्वारा बनाई गई एक ही देवता की दो प्रतिमाएँ भी एक जैसी नहीं होती है।

डॉ. आनंद के. कुमारस्वामी के मतानुसार ताम्र-कांस्य एवं पीतल की मोमक्षय शिल्प परम्परा कला की दृष्टि से अत्यंत श्रेष्ठ तथा प्राचीन है। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, राधा कमल मुखर्जी एवं डॉ. बी. लाल जैसे सभी विद्वानों ने मोमक्षय विधि से निर्मित कलाकृतियों को तकनीक दृष्टि से अत्यन्त श्रेष्ठ माना है। मोहनजोदड़ो की नर्तकी की कलाकृति जो मोमक्षय तकनीक द्वारा निर्मित है, वह एक शानदार कलाकृति है। डॉ. स्टेला क्रेमरिश की राय में भी नर्तकी की यह कलाकृति मोमक्षय तकनीक द्वारा ही निर्मित है। इस कलाकृति का निर्माण काल तीन सहस्राब्दी ईसापूर्व माना जाता है। मोहनजोदड़ो से इस मूर्ति के साथ ही कांस्य की ग्यारह कलाकृतियाँ और मिली थी, इनमें से भैंसे और भेड़ की दोनों प्रतिमाएँ अत्यंत कलात्मक हैं। नर्तकी की प्रतिमा संग्रहालय दिल्ली में सुरक्षित है तथा अन्य ग्यारह कांस्य कलाकृतियाँ इंग्लैंड के संग्रहालय में रखी हैं।

इन प्रतिमाओं में ताम्र, टिन और आर्सेनिक धातु के मिश्रण का प्रयोग किया गया है। टिन का अनुपात अत्यंत सूक्ष्म मात्रा से लगाकर 10-13 प्रतिशत तक पाया गया है। उस काल में टिन धातु की अल्प उपलब्धता के कारण इन कलाकृतियों में सामान्यतः 6-7 प्रतिशत टिन का ही प्रयोग किया गया है। इतनी कम मात्रा में ताँबे में टिन को मिलाने पर जो धातु बनती है, वह भी उच्चकोटि की होती है और उसके कारण वह कठोर और मजबूत बन जाती है। आर्सेनिक की सूक्ष्म मात्रा ताँबे में अशुद्धि के रूप में आ गई होगी। वर्तमान समय में भी शिल्पी शिल्प निर्माण में ताँबे, पीतल, जस्ते एवं कांस्य के भंगार का प्रयोग करते हैं।

राष्ट्रीय संग्रहालय के भूतपूर्व निदेशक डॉ. अजित मुखर्जी ने मोहनजोदड़ो से प्राप्त नर्तकी की प्रतिमा के विषय में लिखा है- मोमक्षय विधि से निर्मित इस कलाकृति की शैली निरंतर आगे भी भारत में जारी रही, उसमें आदिम युग के अनगढ़तापूर्ण गुण विद्यमान हैं, जो धारण की हुई चूड़ियों और कलाकृति की खुरदरी सतह के कारण और भी कलात्मक बन गये हैं। उसमें व्याप्त

लयात्मकता के कारण यह एक सुन्दर त्रिआयामी कलाकृति बन गई है। नर्तकी का सम्पूर्ण हाथ कलाई से ऊपर तक चूड़ियों से भरा हुआ है जो पूर्णरूप से एक भारतीय अलंकरण है और वह आजकल भी प्रचलित है।

ये सभी कांस्य प्रतिमाएँ अमरावती समूह की बौद्ध कलाकृतियाँ हैं। गुप्तकाल जिसे भारत का स्वर्णयुग कहा जाता है, उस काल की मोमक्षय से ढलाई की गई कांस्य प्रतिमायें हमें उपलब्ध हैं। सुल्तानपुर से प्राप्त बुद्ध की सुप्रसिद्ध प्रतिमा मोमक्षय विधि से निर्मित खोखली कलाकृति है। इस प्रतिमा का निर्माण चौथी सदी ईसवी में हुआ था, जो बर्मिघम (इंग्लैंड) के सिटी म्युजियम की कला दीर्घा में रखी हुई है। इसी काल में रचित शिल्पशास्त्र ग्रंथों में मोमक्षय विधि का उल्लेख भी मिलता है, जिनमें इस शिल्प निर्माण की विधि एवं तकनीक का वर्णन किया गया है।^१

सुल्तानपुर की बौद्ध प्रतिमा सन् 1862 में गंगावट पर स्थित एक बौद्ध बिहार के उत्खनन से प्राप्त हुई थी। यह प्रतिमा साढ़े सात फीट ऊँची है और इसकी ढलाई कई भागों में की गई है। यह प्रतिमा खोखली और उसका निर्माण मोमक्षय विधि से हुआ है। इस प्रतिमा का निर्माण शुद्ध ताँबे से हुआ है। इस स्थान से कुछ अन्य प्रतिमाएँ भी प्राप्त हुई हैं, जिससे यह प्रमाणित होता है कि इन मूर्तियों की मोल्ड मिट्टी-लकड़ी के कोयले और धान के पुवाल को मिलाकर तैयार किया गया था। वर्तमान समय में भी इस विधि से निर्मित कलाकृतियों का मोल्ड इसी प्रकार से तैयार किया जाता है।

सातवाहन काल में मंदिर को अत्याधिक प्रोत्साहन मिला, जिसके कारण धातु शिल्प को भी प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। उस काल की कुछ कांस्य प्रतिमाएँ मद्रास के संग्रहालय में संरक्षित हैं। इतिहासकार आश्चर्य प्रकट करते हैं कि ऐसी समृद्ध कला परम्परा कैसे लुप्त हो गई। सर जॉन मार्शल बेत्र सिरकप के उत्खनन में मोमक्षय विधि से ढालकर बनाये गये ताम्र एवं स्वर्ण आभूषण प्राप्त हुए थे (327-325 ईसापूर्व), परन्तु वे सब हेलोनिस्टिक शैली के थे।

नालंदा (बिहार) से उत्खनन में प्राप्त हुई कांस्य प्रतिमाएँ कलात्मक मानदण्डों पर अत्यंत श्रेष्ठ कोटि की हैं। इन प्रतिमाओं

का निर्माण काल आठवीं-नौवीं शताब्दी माना जाता है। ये प्रतिमाएँ ताम्र और कांस्य धातु की बनी हैं। बुद्ध की प्रतिमाएँ अत्यंत कलात्मक प्रभावली से घिरी हुई हैं और सम्पूर्ण प्रतिमा इस प्रभावली से आवृत हैं। रायपुर जिले के सिरपुर उत्खनन से अनेक सुन्दर कांस्य प्रतिमाएँ प्राप्त हुई थी। सिरपुर में इस पुरातात्विक स्थल का उत्खनन डॉ. एम.एस. दीक्षित के निर्देशन में हुआ था। यह पुरातात्विक स्थल महानदी के तट पर स्थित है। मूर्तिशिल्प निर्माण की मोमक्षय शैली का विस्तार दसवीं शताब्दी तक सम्पूर्ण बंगाल, बिहार, नेपाल और तिब्बत तक हो चुका था। वर्तमान समय में भी कांस्य मूर्ति शिल्प की यह परम्परा नेपाल एवं तिब्बत में प्रचलित है।

दक्षिण भारत की कांस्य प्रतिमाएँ कलात्मक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ कही जा सकती हैं। दक्षिण भारत में कांस्य शिल्प निर्माण की परम्परा पाँचवीं शताब्दी तक पल्लव काल में भी प्रचलित थी, परन्तु उस काल में निर्मित प्रतिमाएँ संख्या की दृष्टि से कम ही मिली हैं। यह बात निश्चय पूर्वक कहना कठिन है कि उस काल में ऐसी प्रतिमाएँ कम संख्या में ही बनी थीं या वे कम संख्या में उपलब्ध हो सकी। इसी पल्लव काल में चट्टानों को काटकर महाबलिपुरम् के मंदिरों का निर्माण किया गया था। यहाँ जो कांस्य प्रतिमाएँ प्राप्त हुईं वे सब मोमक्षय विधि से निर्मित हैं। परन्तु दक्षिण भारत की चोलकाल में निर्मित प्रतिमाएँ कालत्मक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हैं। इन प्रतिमाओं का निर्माण काल नवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी है और ये सभी मोमक्षय विधि से ढलाई करके बनाई गई हैं। इस काल में मंदिर निर्माण का कार्य चरम पर था और उसी मात्रा में मूर्तियों का निर्माण भी हो रहा था। इस काल को दक्षिण भारत के मूर्तिशिल्प का सर्वाधिक सृजनात्मक समय माना जा सकता है। ये सभी प्रतिमाएँ मोमक्षय विधि से ठोस रूप में बनाई गई हैं। नटराज शिव की सुप्रसिद्ध प्रतिमा, पार्वती, राम, कृष्ण, लक्ष्मी, मणिकन सागर एवं अलवार संतों की सभी वैष्णव प्रतिमाएँ भी इस युग में बनाई गई हैं। डॉ. शिवराम मूर्ति ने चोला कांस्य प्रतिमाओं पर एक सुंदर मोनोग्राफ प्रकाशित किया है।

तमिल प्रदेश में कांस्य प्रतिमाएँ बनाने का कार्य स्थपति जाति के लोग करते हैं। गुरु या प्रमुख शिल्पी स्थपति कहलाता है। चोल काल में अनेक शिल्प शास्त्र प्रचलित थे। इनमें सर्वाधिक

प्राचीन शास्त्र मानसार है, जिसके 68 वें अध्याय में मोमक्षय विधि हेतु मधुच्छिष्ट विधानम् का वर्णन किया गया है। शास्त्रों का विश्वकर्मा जो भारतीय मान्यतानुसार शिल्प कर्म के देवता हैं, उन्होंने प्रकट किया है। भारत की सभी शिल्पी जातियाँ उन्हें अपना आदिदेव मानती हैं और उनसे ही अपनी उत्पत्ति स्वीकार करती हैं। अतः सर्वाधिक कुशल शिल्पी (स्थपति) जो उस परंपरागत शिल्प विधि का अनुसरण करते हैं, जिनका उल्लेख शिल्पशास्त्रों में किया गया है, उन्हें ही मंदिरों हेतु प्रतिमाओं के निर्माण हेतु चुना जाता है।

गुप्तकाल में संकलित शिल्पशास्त्र में ठोस-खोखली दोनों मूर्ति निर्माण की विधियों का स-विस्तार वर्णन किया गया है। मोल्ड हेतु मिट्टी का चुनाव, मिट्टी प्राप्त होने के श्रोत, धरिया निर्माण हेतु विशेष प्रकार की मिट्टी, भीतरी भाग का निर्माण, भट्टी का निर्माण तथा मोल्ड को पकाने का कार्य जिससे कि मोम बाहर निकल जाए, धातु को गलाना और अंत में शिल्प की ढलाई आदि सम्पूर्ण विधि का उक्त शिल्प शास्त्र के मूर्ति निर्माण की विधि वाले अध्याय में सविस्तार वर्णन प्रस्तुत किया गया है। सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी के मध्य रचित अन्य अनेक ग्रन्थों में भी मोमक्षय विधि से शिल्प निर्माण की विधि का उल्लेख किया गया है। भारत में मोमक्षय से शिल्प निर्माण की विधि के विषय में टी.ए. गोपीनाथ राव ने अपने ग्रंथ में लिखा है- कांस्य प्रतिमाओं के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों की ऐसी धारणा है कि भारतीयों को दसवीं शताब्दी के पूर्व मोमक्षय विधि का ज्ञान नहीं था, और भारतीयों ने इस ज्ञान को यूरोप से प्राप्त किया होगा। मोम के सांचे के माध्यम से धातु की ढलाई की कला उनके अनुमान से भी बहुत प्राचीन है, जिसके एक से कहीं अधिक प्रमाण दिये जा सकते हैं।

बारहवीं शताब्दी में सोमेश्वर भूलोकमल्ल द्वारा रचित ग्रंथ में मोमक्षय विधि द्वारा धातु की ढलाई का सविस्तार वर्णन ब्यौरेवार प्रस्तुत किया गया है। प्रोफेसर एस.के. सरस्वती ने ग्रंथ का अनुवाद किया है। बस्तर और रायगढ़ तथा मध्यवर्ती भारत में वर्तमान समय में भी लगभग इसी विधि से कांस्य या कसकूट की ढलाई की विधि का प्रयोग प्रचलित है। यहाँ तक कि धातु की ढलाई के साथ ही साथ उपयोग में लाने वाली वस्तुएँ भी वैसी ही हैं, जैसी कि मानसोल्लास में उल्लेखित है, जैसे कि भिन्न-भिन्न प्रकार

की मिट्टियाँ, धान का भूसा, लकड़ी का कोयला, मधुमक्खी का मोम आदि। छत्तीसगढ़ के इन परंपरागत शिल्पियों ने औजार भी उसी परंपरा से विरासत में ग्रहण किये हैं। यद्यपि ग्रंथ में उस काल में उपयोग में लाये जाने वाले सभी औजारों का ठीक-ठीक वर्णन उपलब्ध नहीं है।

मध्यवर्ती एवं पूर्ववर्ती भारत में मोमक्षय विधि से कांस्य ढलाई करके प्रतिमाएँ एवं अन्य उपयोगी सामग्री बनाने वाली ढलाई करके प्रतिमाएँ एवं अन्य उपयोगी सामग्री बनाने वाली सभी जातियाँ परिगणित जातियों में आती हैं। बस्तर में घसिया जाति के लोग इस शिल्प कार्य में संलग्न हैं। गत लगभग चालीस वर्षों से ये लोग अपने को घड़ना कहने लगे हैं। पूर्व में बस्तर पर जो महत्वपूर्ण कार्य हुए हैं, जैसे चालीसवें दशक के बस्तर के कलेक्टर सर डब्ल्यू. व्ही. ग्रिग्सन द्वारा लिखित (द माडिया गोंडस ऑफ बस्तर) में और वेरियर एल्विन द्वारा लिखित (द मुरिया एण्ड देयर घोटुल) में भी इस जाति का उल्लेख घसिया नाम से ही किया गया है। जनगणना रपट में भी इन्हें घसिया नाम से ही दर्शाया गया है। यहाँ तक कि घड़वा नाम की किसी भी जाति का कोई उल्लेख जनगणना अभिलेखों में नहीं किया गया है। घसिया शब्द की व्युत्पत्ति कांस्य शब्द से हुई है। कांस्य धातु में कार्य करने वाली यह एक प्राचीन शिल्पी जाति है। भाषा शास्त्र के अनुसार क और घ अक्षर एक ही वर्ण हैं और वे आपस में एक दूसरे का स्थान ले सकते हैं, अर्थात् 'क' का उच्चारण 'घ' के रूप में हो सकता है और 'घ' का उच्चारण 'क' के रूप में। क ख ग घ ये चारों ही अक्षर एक ही वर्ग के हैं और आपस में एक दूसरे का स्थान ले सकते हैं। इस प्रकार के कांस्य शब्द 'क' के स्थान पर 'घ' के प्रयोग के कारण घसिया शब्द बना।

छत्तीसगढ़ के पड़ोसी राज्य उड़ीसा के कोरापुट, नौरंगपुर और मलकानगिरी जिलों में भी इस शिल्पी जाति को घासी कहते हैं जो कि घसिया शब्द का अपभ्रंश रूप है। पश्चिमी उड़ीसा के अन्य कुछ जिलों में इस शिल्पी जाति को चितरिया नाम से सम्बोधित करते हैं। चितरिया का अर्थ है मूर्ति बनाने वाला, उड़ीसा में मोमक्षय विधि से कार्य करने वाली झारा नामक एक अन्य जाति भी है। रायपुर, रायगढ़ में भी इस शिल्पी जाति को झारा कहते हैं। मध्यप्रदेश के बैतूल, बालाघाट, नरसिंहपुर आदि जिलों में इस शिल्पी जाति का नाम भरेवा है। झारखण्ड में इस

शिल्पी जाति का नाम मलार है तथा बंगाल में ढोकरा है। बंगाल के ढोकरा उड़ीसा से बंगाल में जाकर बसने वाले झारा ही हैं। धातु की ढलाई में गाय के चमड़े की धोंकनी का प्रयोग करने के कारण वहाँ उनका नाम ढोकरा पड़ गया। बैतूल और बालाघाट हमें इस शिल्पी जाति का नामकरण भरेवा इसलिये है, क्योंकि इनके शिल्प के भीतर मिट्टी-कोयला और धान का जला हुआ भूसा भरा होता है, अतः ये भरेवा कहलाने लगे।

इन सभी जातियों की सामाजिक स्थिति लगभग एक समान है और सभी परिगणित जातियों में गिनी जाती हैं। बस्तर के घड़वा शिल्पी यद्यपि स्थानीय जनजातियों के लिये उनकी देवी की प्रतिमाएँ तथा अन्य अनुष्ठानिक सामग्री बनाते हैं, परन्तु फिर भी वे इन शिल्पियों को हीन समझते हैं। वेरियर एल्वन ने अपने ग्रंथ 'द मुरिया एण्ड देयर घोटल' में लिखा है, घसिया जिनकी जनसंख्या केवल 1704 है, वे आदिवासियों द्वारा अत्यंत हीन माने जाते हैं... जो कि मोमक्षय विधि से उनकी देव प्रतिमाएँ, तोड़ी एवं नृत्य में प्रयुक्त कमरपट्टों की घंटियाँ एवं मदिरा बाँटने की ओड़की बनाते हैं। 'डब्ल्यू.व्ही. ग्रिगसन ने जो 1930 के दशक में बस्तर के कलेक्टर थे, ने घसियाओं के सम्बन्ध में अपने ग्रंथ 'माड़िया गोंड्स ऑफ बस्तर' में लिखा है- यहाँ तक की बस्तर में इनमें से बहुत से लोग कुशल शिल्पी हैं, माड़िया उन्हें घड़वा कहते हैं'- आगे चलकर वे उनके धंधे के विषय में लिखते हैं- 'घड़वा बाजार या बिचौलियों से पीतल या कांसा क्रय करते हैं। वे उस धातु से पीतल के आभूषण, चम्मच, कड़छुल, घंटियाँ, तोड़ी (तुरही) आदि मोमक्षय विधि से आदिवासियों के लिये बनाते हैं'-

इस शिल्पी जाति को उनके पड़ोसी हिन्दुओं ने उन्हें नया नाम घड़वा प्रदान किया है और अब वे घड़वा कहलाना ही पसंद करते हैं। सन् 1941 की जनगणना के अनुसार बस्तर में उनकी जनसंख्या 1704 थी, जो सम्पूर्ण बस्तर में फैली हुई है। जयपुर (कोरापुट) की घासी जाति बस्तर की घसिया जाति का ही विस्तार है और इनमें आपस में रोटी-बेटी के सम्बन्ध बने हुए हैं।

झारा शिल्पी जाति छत्तीसगढ़ के रायपुर, सरायपाली, सारंगढ़ तथा रायगढ़ में निवास करती है। यह जाति द्विभाषी जाति है तथा इस जाति के लोग छत्तीसगढ़ी एवं उड़िया दोनों भाषाएँ बोलते हैं।

इनकी रिश्तेदारियाँ छत्तीसगढ़ एवं उड़ीसा दोनों प्रदेशों में है। मेरी राय में घसिया, झारा, सोनझारा, भरेवा, मलार ये सभी जातियाँ मूलरूप में एक ही प्राचीन जाति से उद्भूत हैं। जो कांस्य कर्म में संलग्न थी। कालान्तर में अलग-अलग क्षेत्रों में बसने के कारण उन्होंने स्थानीय प्रभाव से अलग-अलग जाति व नाम अपना लिये हैं। ऐसे जातीय नामकरण या तो इन्हें इनके साथ रहने वाले लोगों ने उनके पेशे के आधार पर दिये होंगे या स्थानीय लोगों ने उनकी धातु ढलाई की विधि के अनुसार प्रदान किये होंगे। पश्चिम बंगाल के ढोकरा शिल्पियों के पूर्वज उड़ीसा से वहाँ गये हुए झारा ही थे, परन्तु भट्टी में धातु गलाने के लिये धोंकनी का प्रयोग करने के कारण उनकी जाति का नाम ढोकरा पड़ गया।

जब घसिया या चितरियों के लिये कांस्य कर्म की कमी होने लगी तो उनमें से कुछ लोग महानदी एवं उसकी सहायक नदियों की रेत में से सोना निकालने लगे और इस जाति की एक पृथक 'एन्डोगेमस' पहचान बन गई। नदियों की रेत से पर्याप्त मात्रा में सोना मिलना कम हो गया, तब पुनः कुछ लोग वापस लौटकर अपना परंपरागत व्यवसाय कांस्य कर्म करने लगे। परन्तु उन्होंने अपने आपको घसिया न कहकर झारा कहना उचित समझा। कालान्तर में झारा भी एक पृथक एन्डोगेमस जाति बन गई। रूथ रीब्स ने अपनी पुस्तक में झारा और सोनझारा की उत्पत्ति एक ही मूल जाति से होना स्वीकार किया है। भारतीय समाज विशेष रूप से हिन्दू समाज जाति आधारित श्रेणियों में विभक्त है, अतः नई जातियाँ श्रेणी के आधार पर ऊपर की श्रेणी में जाना प्रवृत्त होती हैं और इन्हीं जातियों में से निकलकर नई जातियाँ बनती हैं। कालान्तर में अपनी पूर्व जाति से रोटी-बेटी का व्यवहार तोड़ देती हैं।

सरगुजा और झारखण्ड में कांस्य एवं पीतल या कसकुट धातुओं का कार्य मलार जाति के लोग करते हैं। ये शिल्पी भी मोमक्षय विधि से ही कार्य करते हैं। इनकी सामाजिक स्थिति भी आदिवासी समाज में घड़वा अथवा झारा सदृश्य ही है और यह जाति भी परिगणित जाति में ही आती है। सरगुजा में इनके थोड़े से ही परिवार हैं, जिनके पूर्वज झारखण्ड से यहाँ आकर बस गये हैं। रामपुर (बांकुड़ा) पश्चिम बंगाल के शिल्पी भी द्विभाषी है तथा ये लोग बंगाली तथा उड़िया दोनों भाषाएँ बोलते हैं। मूलरूप से ये लोग झारा जाति के ही हैं, परन्तु यहाँ इनका पृथक जातीय

नाम ढोकरा पड़ गया है। इनके पूर्वज भी उड़ीसा से आकर पश्चिम बंगाल में बस गये हैं।

इन सभी शिल्पी जातियों में अनेक समानताएँ देखी जा सकती हैं। ये सभी जातियाँ मोमक्षय विधि से आदिवासियों की प्रतिमाएँ, अनुष्ठानिक उपकरण तथा उनके दैनिक उपयोग की वस्तुएँ, बर्तन तथा आभूषण बनाते हैं। ये शिल्पी जातियाँ ठोस तथा खोखली दोनों प्रकार की कलाकृतियाँ बनाती हैं। इनके द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली सामग्री जैसे मिट्टी, धान की भूसी, लकड़ी का कोयला तथा मोम आदि सभी शिल्पियों में समान हैं। ये सभी शिल्पी पीतल, कांस्य या कसकुट धातुओं का प्रयोग करते हैं। उड़ीसा के झारा तथा बंगाल के ढोकरा मोम के अतिरिक्त साल वृक्ष के गोंद जिसे धूना कहते हैं- का भी मोम के स्थान पर प्रयोग करते हैं। चूना का प्रयोग मोम के साथ मिलाकर या धूना में तेल मिलाकर भी करते हैं। ये सभी शिल्पी जातियाँ मिट्टी का घरिया (क्रासिबल) बनाकर प्रयोग में लाती हैं। इन सभी में घरिया बनाने की विधि समान है। धातु की ढलाई की सम्पूर्ण विधि इन सभी जातियों में समान रूप में पाई जाती है। जनजातियों की धातु निर्मित वस्तुओं की आवश्यकता की आपूर्ति ये जनजातियाँ दीर्घकाल से करती आ रही हैं। ये शिल्पी जातियाँ मध्यवर्ती भारत के जनजातीय क्षेत्र में कब आकर बस गईं, यह निश्चय पूर्वक कहना कठिन है। यह भी कह सकना कठिन है कि ये किस काल में यहाँ आकर बसी होंगी। ये सभी जातियाँ द्रविड़ मूल की हैं और अभिप्राय आधारित हैं। परन्तु यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि ये लोग दक्षिण भारत से नहीं आये हैं और दक्षिण भारत के स्थपतियों से पूर्णतः भिन्न हैं। स्थपति जाति का सामाजिक स्तर इन जातियों की अपेक्षा काफी ऊँचा है तथा समाज में उन्हें सम्मानजनक स्थान प्राप्त है।

उत्तर भारत में एक और जाति भी कांस्य कर्म में संलग्न जो कसार या कसेरा कहलाती है। इस शब्द की व्युत्पत्ति भी कांस्य शब्द से ही उद्भूत है। इस जाति की सामाजिक प्रतिष्ठा घसिया अथवा झारा जातियों से काफी ऊँची है। कसेरा जाति न केवल कांस्य एवं पीतल के बर्तन आदि सामान बनाने का कार्य करती है, वरन् उसका व्यवसाय भी करती है। एक अन्य कांस्य कर्म करने वाली जाति बुन्देलखण्ड क्षेत्र में है जो अपने आपको अवधिया कसेर एव अवधिया सोनी कहती है। पूर्व में ये जातियाँ

भी नीची श्रेणी में गिनी जाती रही होंगी, परन्तु वर्तमान में इनका सामाजिक स्तर भी ऊँचा माना जाने लगा है। धातु कर्म में संलग्न जातियाँ तमेर, ठठेर, कसेरा आदि सभी आजकल धातु शिल्प कर्म के अलावा अपने द्वारा निर्मित वस्तुओं का व्यापार भी करने लगी हैं। ये सभी जातियाँ अपनी उत्पत्ति शिल्पकर्म के देवता विश्वकर्मा को मानती हैं, जिन्होंने विश्व का निर्माण किया। विश्वकर्मा पाँच शिल्पों के प्रधान मिथकीय देवता हैं। घसिया, झारा या घड़वा न तो विश्वकर्मा की पूजा करते हैं और न ही उनमें अपनी जाति की उत्पत्ति की ऐसी कोई मिथ कथा विद्यमान है।

बुन्देलखण्ड में दतिया नगर कांस्य तथा पीतल के शिल्प का एक प्रमुख केन्द्र है। दतिया के ये धातु शिल्पी अपने आपको अवधिया कहते हैं और वे टीकमगढ़ के कांस्य शिल्पियों के स्वजातीय हैं। ये शिल्पी अनेक प्रकार के कलात्मक डिब्बे-डिब्बियाँ बनाते हैं, जो विभिन्न उपयोगों में प्रयुक्त होते हैं। जैसे पान के डिब्बे, अनुष्ठानिक सामग्री रखने के छोटे-बड़े आकार के डिब्बे, सिंदूर-कुमकुम के तीन-पाँच या सात खानों वाले डिब्बे तथा डिब्बियाँ जिन्हें स्थानीय भाषा में करंड कहते हैं तथा उत्तर भारत में सीपड़ा। करंड के इन खानों में कुमकुम, अक्षत, हल्दी, सिंदूर आदि सामग्री रखी जाती है। इनके अतिरिक्त आभूषण रखने के डिब्बे भी ये लोग बनाते हैं, जिनमें कुंदे सांकल लगी होती है और उनमें ताले डाले जा सकते हैं। मुझे टीकमगढ़ के शिल्पियों ने बताया कि पहले ये लोग कांस्य पीतल तथा चाँदी-आभूषण भी ढलाई करके बनाते थे। ढलाई की इनकी मधुछिष्ट विधि में धातु का अत्यधिक क्षय होने के कारण अब चाँदी का काम समाप्त हो गया है। कांस्य तथा पीतल के आभूषण भी चलन में नहीं रह गये, इसलिए यह कार्य भी समाप्त हो गया है, परन्तु किसी-किसी की माँग पर अभी भी बना लेते हैं।

पश्चिम बंगाल में कसकुट (बेटलमेटल) में एक अन्य जाति भी संलग्न है जो कांस्य बनिक कहलाती है। मीरा मुखर्जी ने धातु कर्मियों के अपने सर्वेक्षण में उनका उल्लेख इस प्रकार से किया है- 'धातु व्यवसाय में संलग्न कांस बनिक जाति का महत्वपूर्ण स्थान है। कांस अर्थात् बेलमैटल जो एक मिश्र धातु है, जिसमें सात भाग ताँबे का होता है और दो भाग टिन का। बनिक का अर्थ है- व्यवसायी कांस बनिक का अर्थ स्पष्ट रूप से उस व्यक्ति से है जो कांस के खरीदने-बेचने के कार्य में संलग्न होगा,

अर्थात् यही उसका व्यवसाय होगा। मैंने बैलमेटल के छः केन्द्रों को अपने सर्वेक्षण के दौरान देखा और पाया कि कांस बनिक न केवल कांसे से बनी हुई वस्तुओं का व्यवसाय करते हैं, वरन वे उसके निर्माण का कार्य भी करते हैं। ये छः केन्द्र थे- खगड़ा, नवद्वीप, नतुन बाजार- कोलकाता, शिमला स्ट्रीट- कोलकाता, क्योरातला- कोलकाता। कांस बनिकों यह नाम भी कांस्य से उद्भूत है, परन्तु यह जाति मध्यवर्ती भारत में कार्यरत उन जातियों से भिन्न हैं, जो ग्रामीणों एवं आदिवासियों के बीच रहकर धातु कर्म करते हैं।'

मध्यवर्ती भारत में जो गंगा के मैदानी भाग से पृथक एक निरंतर वन्य प्रदेश है, जिसमें भारत के अधिकांश आदिवासी निवास करते हैं। इन्हीं के बीच ग्रामीण शिल्पी भी रहते हैं, जो इस क्षेत्र में सर्वत्र फैले हुए हैं। इसी वन्य प्रदेश के सीमान्त में वे शिल्पी भी बसे हुए हैं, जिन्हें हम लोक-कलाकार या दस्तकार कहते हैं। इनके ग्राहक या प्रश्रयदाता इसी वन्य प्रदेश में बसने वाले आदिवासी एवं ग्रामीणजन हैं। परन्तु वे इस समुदाय के नहीं हैं, ये शिल्पी मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, उड़ीसा, बिहार, पश्चिम बंगाल के वन्य प्रदेश के सीमांत में बसे हुए हैं, जहाँ इनके ग्राहक आदिवासी हैं। ये शिल्पी उन क्लासिकी मूर्ति शिल्पियों में से नहीं हैं जैसे दक्षिण भारत के स्थपति जो जातीय स्तर पर ब्राह्मण या ब्राह्मण के समकक्ष स्वीकार किये जाते हैं। ये लोक-कलाकार या ग्रामीण शिल्पी जातीय प्रतिमान में समाज के सबसे निचले स्तर पर माने जाते हैं।

बस्तर की यह शिल्पी जाति घसिया या घड़वा कहलाती है, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। मेरे मत में यह शिल्पी जाति एक प्राचीन जाति है, जिसकी जड़ें किसी प्राचीन सभ्यता में निहित हैं। ये शिल्पी एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते रहते थे। इनमें से बहुत से लोग तो धुमंतू जीवन

बिताते थे और एक समूह से दूसरे समूह में भ्रमण करते हुए जीवन यापन करते थे। परन्तु इनमें से अधिकांश लोग अब स्थायी आवास बनाकर रहने लगे हैं। स्थायी आवासों में रहने के बावजूद भी ये शिल्पी कलाकृतियाँ बेचने के लिये एक गाँव से दूसरे गाँव या तीसरे गाँव भ्रमणशील रहते हैं। कुछ शिल्पी तो किसी गाँव या कस्बे के बाहर फूस की एक झौपड़ी बनाकर तब तक वहाँ रहते हैं। जब तक कि उन्हें काम मिलता रहता है। उसके पश्चात् वे किसी अन्य कस्बे या गाँव की ओर पलायन कर जाते हैं। इन शिल्पियों को अपने इतिहास के विषय में कोई जानकारी नहीं है और इनकी स्मृति अपने से पूर्व की एक या दो पीढ़ियों से पीछे नहीं जाती। बस्तर के घड़वा शिल्पी आदिवासियों की देव प्रतिमाएँ एवं अन्य अनुष्ठानिक सामग्री मोमक्षय विधि से बनाते हैं। उनके ग्राहक आदिवासी हैं और वे ही उनके प्रश्रयदाता हैं। घड़वा यहाँ के मुरिया-माड़िया आदिवासियों के लिये देव प्रतिमाएँ बनाते आ रहे हैं और आदिवासियों ने भी देवी-देवताओं के स्वरूपों को अपना लिया है। यद्यपि आदिवासियों का धर्म जड़ाल्मवादी (एनिमिस्टिक) है, परन्तु घड़वा शिल्पियों ने उसका काफी सीमा तक मूर्तिकरण कर दिया है। आदिवासी इन शिल्पियों को आमंत्रित करते हैं और उनसे अपनी देव प्रतिमाएँ बनवाते हैं, जिन्हें वे देवस्थल पर रखते हैं। बस्तर के आदिवासी इन स्थानों को मातागुड़ी कहते हैं, जिसका अर्थ है माता का गृह या माता का मंदिर। ऐसे निमंत्रण पर ये शिल्पी सपरिवार कुछ महिनों के लिये उस गाँव में चले जाते हैं और देव प्रतिमाएँ, तोड़ी, नृत्य का घंटियों वाला पट्ट तथा अनुष्ठानिक या अन्य दैनिक उपयोग में आने वाली सामग्री बनाते हैं। वे वहाँ कार्य पूर्ण होने पर पारिश्रमिक के रूप में ग्रामीण आदिवासी उन्हें कुछ नकद रूपयों के अतिरिक्त दो-तीन क्विंटल चावल, एक दो बकरे या एक जोड़ी बैल आदि प्रदान करते हैं। आजकल इस प्रकार का सामाजिक प्रश्रय कम होता जा रहा है।

छत्तीसगढ़ी कलाओं के स्वरूप

डुमन लाल धुव

लोक का अर्थ है संसार में रहने वाले प्राणी और यहाँ दृश्यमान पदार्थ, विशेष रूप से सचेत प्राणी जिन्हें हम लोग कहते हैं। यह लोक व्यवहार का नियंत्रक होता है। सबसे पहले भाषा व्यवहार को ही लें। पतंजलि ने कहा कि- लोक विशेष अर्थ में किसी शब्द या वाक्य का प्रयोग करता है, व्याकरण अर्थ नहीं देता वह केवल शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का नियंत्रण करता है। वाक्य पदीयकार भर्तृहरि ने यह सिद्धांत दिया कि-

धर्मस्यानवच्छिन्ना पन्थानो ये व्यवस्थिताः।

न तान लोक प्रसिद्धत्वात् कश्चित तर्केणबाधते।।

व्यवहार मात्र के जितने भी पंथ व्यवस्थित हैं, निरंतर चले आ रहे हैं और लोक में मान्यता प्राप्त हैं, वे स्वीकार्य हैं, वहाँ तक के आधार पर खंडन नहीं किया जा सकता। यह श्लोक परम्परा की सटीक परिभाषा है, परम्परा की निरंतरता है, व्यवस्था है और लोक-स्वीकृति है। इसका अर्थ यह नहीं कि इसमें परिवर्तन नहीं होता। इसका अर्थ प्रत्युत यह है कि दूसरी व्यवस्था से विस्थापित होकर नई व्यवस्था बनती रहती है। निरंतरता का अर्थ है कि पहले के अर्थ नए-नए अर्थों में समान तथा उसे और पूर्ण बनाते जाते हैं। लोक स्वीकृति का अर्थ है- लोक के दैनंदिन व्यवहार में आकर वे जीवित होते रहते हैं।

लेकिन दुनिया में कहीं ठौर नहीं है, चैन नहीं है। यही कारण है कि लोक में दुःख का शमन करने वाली जिज्ञासा है, दूसरे के दुःख

को वरण करने वाली करुणा है। छोटे-छोटे लोक-सुख, बड़े सुख का आभास देने के लिए आते हैं, चले जाते हैं। 'चरक संहिता' में पुरुष को लोक सम्मत कहा गया है- अर्थात् पुरुष लोक के बराबर होने पर ही प्रमाण पुरुष है। इसका अर्थ यह है कि जितने भाव लोक में होते हैं, उतने पुरुष में होते हैं।

लोक पुरुष में भीतर-भीतर भिना रहता है। (चरक- 5/3)

लोक एक ओर क्रिया का आश्रय होने के कारण स्थित है तो दूसरी ओर साक्षात् क्रिया है। लोक में प्रचलित मान्यताओं के बारे में प्रश्न करने वाले अपने भीतर से उत्तर पाने वाले संत इस लोक व्यापार को नया मोड़ देते हैं, जहाँ स्थिति कुछ जड़ता की ओर ले जा रही हो, वहाँ उसे नई गति देते हैं। इस प्रकार इस चिंतनधारा में लोक-शास्त्र एक-दूसरे के पूरक बने रहते हैं।

साथ ही इसी लोक में रहते हुए जो लोग लोक के हित के लिए लोक से बाहर अपने को करके दूरगामी दृष्टि से कुछ सोचते हैं और उसे अपने जीवन में उतारते हैं। वे लोकोत्तर हो जाते हैं, वे अलौकिक हो जाते हैं। यह लोक का विरोध नहीं, लोक में अंतर्निहित अपना ही अतिक्रमण करने वाला प्रबल संकल्प का भाव है। आदमी सोचता है- मैं तो लोकहित के लिए जी रहा हूँ। यह सोचते-सोचते वह अपने भीतर भयावह अहंकार को स्थान देता है। इस अहंकार से मुक्ति के लिए लोक की प्रतिष्ठा से ऊपर उठना आवश्यक होता है; इसलिए ही परमहंसों को लोक-बाह्य होना पड़ा है। वे जो कुछ करते हैं- लोक के लिए करते हैं, पर सोचते यही रहते हैं कि हम तो कुछ कर ही नहीं रहे हैं, हम ही ही नहीं। हमारे भीतर सबके लिए कर रहा होगा, हम कहीं भी नहीं हैं। लोक की सत्ता के भाव में रूपांतर हैं। भारतीय चिंतनधारा सत्ता को भाव की ओर ले जाने वाली धारा है।

छत्तीसगढ़ में लोक नाटकों की प्रतीकात्मक रंगमंचीय शैली आधुनिक नाटक की प्राण बन गई है। एक ही पात्र द्वारा एक ही जगह एक ही प्रसंग में अनेक भूमिकाएँ अदा करने की प्रक्रिया विशुद्ध रूप से लोकनाट्यों से आई है। इस प्रक्रिया में भी प्रदर्शनकारी लोककलाओं के राष्ट्रीय स्वरूप को विकसित करने में मदद की है। यह प्रक्रिया गीतों में- नृत्यों में तथा लोक कला की हर विधा में प्रविष्ट हो रही है, इसे हमें विशाल हृदय से अत्यंत उदारतापूर्वक स्वीकार करना चाहिए।

*जय महामायी महोबा के मोर
अखरा के गुरु बैताले तोर
चौंसठ जोगनी पुरखा के मोर
बईहा में रहु सहाय ये मोर
जा दिन बोले मोर चंदैनी
मोर बरीगना ये ओ.....*

छत्तीसगढ़ की धरती की मातृ रूप में वंदना, कल्पना, जनता जनार्दन के प्रति श्रद्धा, जय-विजय भाव और छत्तीसगढ़ के नदी-नाले, गिरि-शिखरों वनराशि के दर्शन से युक्त श्रद्धा सुरभित उभरती छत्तीसगढ़ की समस्त आकृति। लेकिन इन सब के बावजूद भी ये छत्तीसगढ़ी वंदना तो तभी हुई न जब छत्तीसगढ़ के मंच पर उदया उदित हुए माने गये? भौगोलिक सीमाएँ टूटी, क्षेत्रीय हदबंदिया टूटी। डॉ. नरेन्द्र देव वर्मा के इस लोकप्रिय गीत से जन-जन जुड़े। लेकिन यह गीत अपने प्रकृति परिवेश के कारण ही प्राणवान बने हुए है।

*जय हो छत्तीसगढ़ मईया,
अरपा पैरी के धार महानदी हे अपार
इंदिरावती हो पखारय तोर पड़्या
महूं पांये पखारत तोर भुंझ्यां..... जय हो.....*

छत्तीसगढ़ का हर कलाकार हर व्यवस्था से उपेक्षित है, मगर जब यह जाग उठता है, चींटी जैसे क्षुद्र जीव की मदद से प्रयत्नरत हो सही जगह चोट करता है तो सारी की सारी व्यवस्था चरमरा उठती है- यह परम्परा के सतत् अक्षुण्णता का वाहक है यानी लोकजीवन का मंच। रंग-बिरंगे पर्दों और प्रकाश से जगमगाता मंच नहीं। लोककलाएँ सृष्टि में व्याप्त उल्लास भाव का सर्जनात्मक विलास है, जो आज के जीवन में स्वतः ही ऐसे सामूहिक जनमंचों की रूप संभावना प्रत्यक्ष हुई है।

पद्मश्री हबीब तनवीर द्वारा निर्देशित नाटक चरणदास चोर के पात्र बेलगम होकर गा उठते हैं-

एक चोर ने रंग जमाया जी सच बोल के

छत्तीसगढ़ में मेला-मंडई के अवसर या नाचा कार्यक्रम आयोजित होता है, तब नाचा के परी द्वारा-

हामन नारी आवन वो दाई
जग के महतारी आवन वो
नाव ल्य जगाके सती सीता सही

गीत प्रस्तुत कर दर्शक दीर्घा को भाव विभोर कर देते हैं। एक ही नारी की व्यथा-कथा, चिट्ठी, पत्री और संदेश की बात, तो वही अंचल का कागज, काजल की मसि, कितने ऐसे गीत फूट पड़े, मन भर-भर आये, आँखें भीग गईं। यह मंच का अनायास उभरता एक पहलू है। कहा जा सकता है कि ऐसे तो लोकाभिप्राय सार्वभौमिक हैं, इसमें नारी की करुणा, मानव मूल्य, न्याय भावना और जीवन की अस्मिता रक्षित है। सभी अपने हितु-पिरीतू हैं।

वर्तमान में ग्रामीण लोक और शहरी लोक का फर्क दिनों-दिन कम होता जा रहा है। रोजी-रोटी के थपेड़ों से निष्कासित ग्रामीण कलाएँ शहरों में पनाह लेने को मजबूर हुई हैं। कई बार तो कोई प्राचीन कला रूप गाँवों में नहीं मिलता, पर नगरों में मिल जाता है। सांस्कृतिक शून्य में शहरी लोक की ये आवश्यकताएँ भी हैं। आज नहीं तो कल मॉस मीडिया लोककलाओं का माध्यम होगा। जब आरती भी टेप बजाकर कर ली जाती है, तो लोक संस्कृति के विराट क्षेत्र में ही मॉस मीडिया की उपेक्षा कैसे संभव है? उपेक्षा न तो वांछनीय है न शुभ ही, पर प्रयोग-उपयोग का रूप विचारणीय है, उससे आगे करणीय। सच्चाई तो यह है कि लोककलाएँ इन आश्रय साधनों में खंडित दृष्टि की दुहरी मार का शिकार ज्यादा हुईं। सर्जनात्मक चिकित्सा यहाँ अल्पांश में ही रही। शास्त्रीय और अविभाज्य कहलाती नागरी कलाओं की तुलना में सौतेले व्यवहार ने उन्हें प्राणवायु नहीं दी।

मुश्किल यह है कि हमारी लोककलाएँ क्या देशी- क्या विदेशी- क्या ग्रामीण और शहरी, चारों ओर से तरह-तरह के

कफन खसोटों से घिर गई हैं। जिसे जो रूचता है, मतलब का लगता है, जहाँ जितना खप सकता है उतना हिस्सा कांट लेता है बाकी छोड़ देता है।

लोककलाओं ने अतीत में भी मंच बदला है, रूप बदले हैं। मगर अतीत में रही मंच परिवर्तन की स्वतः स्फूर्त सहज और समग्र विकास प्रक्रिया विज्ञान और तकनीक के इस दौर में बुरी तरह लड़खड़ा गई है। जीवन में विज्ञापन प्रचार में लोककलाओं की राष्ट्रीय तो क्या कहें तात्कालिक भूमिका जोर पकड़ गई है, जो मंच की परवाह नहीं करती, रहे या जाये। यदि राष्ट्रव्यापी स्तर पर राष्ट्रीय जीवन में उपयोग ही लोककलाओं की राष्ट्रीय भूमिका है तो हमें खुश होकर तालियाँ बजानी चाहिए कि फिल्म से लेकर इल्म तक और दूतावासों से लेकर चौपाल तक हममें से हर एक देख रहा है कि हमारी लोककलाएँ यह भूमिका बखूबी निभा रही हैं, लेकिन मैं कहूँगा कि वे केवल भूमिकाएँ निभा रही हैं। हमारे लोकजीवन की ये सारी स्थितियाँ तो वे जी ही नहीं रही, उनकी अपनी निजी जिंदगी भी धीरे-धीरे खत्म हो अंतिम सांसे गिन रही हैं। वह मंच के कारण ही।

अक्सर यह तर्क दिया जाता है कि राष्ट्रीय प्रतिमान पर छत्तीसगढ़ की लोककलाओं को हुबहू कैसे रखा जा सकता है? परिवर्तन तो उन्हें बचाने के लिए करने ही होंगे, रूप तो बदलेगा ही। निरे ग्रामीण से शहरी तो होना होगा, तर्क संगत है और खरा भी। लोक तो स्वयं परिवर्तन का सबसे बड़ा हामी है। वह खुद ही अपनी कलाओं की केंचुली उतारता रहता है। मगर परिष्कार के नाम पर मनमानी ले आना छत्तीसगढ़ मंच का संवर्धन नहीं- हास करेगा, जनरुचि समर्थन और सहयोग खोयेगा।

ब्रज की गणितीय पहेलियाँ

सर्वोत्तम त्रिवेदी 'लघु'

गणित का अर्थ गणना से है। गणना याने गिनना। इसी से बनी है गिनती। संस्कृत का एकः = एक, द्वे का कहीं दो तो कहीं (गुजरात में) द्वे से बे, त्रयः तिस्रः का तीन हुआ। इसी तरह एकादशः अर्थात् एक+दश=अक (एक) अग्+दह (रह)= अग्यारह (ग्यारह); द्वादशः अर्थात् द्व+दशः = वे (ब) + (रह)= बारह आदि। उन्नीस = उन्बीस, बीस में एक उन, ऊना, अपूर्ण या कम। उनतीस, उन+तीस, तीस में एक कम। अन्य धारण, भाषा विधान से उनतीस याने तीस से (एक) ऊपर, उन्ते उक्त, पहले उन्तीस; उनचालीस-उनपचास (उनन्चास) याने 40 से उन 30, पचास से उने, ऊपर पहले 49। यह हुई भाषा-विज्ञान, भाषा विधान की बात।

अब दूसरी बात। कोई बात, जो हमने कहीं सुनी। कुछ अटपटी भाषा में, कुछ अधूरी सी याने कुछ-कुछ पूरी सी। काव्य की तुक मिलाने, रदीफ काफिया मिलाने के लिए या रोचकता-आह्लाद वृद्धि के लिए शब्दों का बदल, बिगाड़-सुधर गया, बिगाड़-सुधार दिया गया हो। ऐसी ही कुछ अटपटी, भेदयुक्त। भेदयुक्त, गुप्त, छिपी हुई सी बात, पूछे- प्रश्न कि जिसे हमने औरों से पूछना चाहा, तो थोड़ा बढ़ा-घटा दिया, और वह हो गई 'पहेली'।

कुछ बानक ऐसे बन जाते हैं कि अपने आप (हमारे यहाँ कहते हैं- असखुद ही) पहेली बन जाती है। सर्दी के दिन, जुकाम हो गया। नाक भर आई। टपकने को हुई तो निकाल फेंकी जल्दी में (ताबड़ तोड़): और दीवाल पर जा पड़ी नाक (अर्थात् नाक की गंदगी; कथित 'नाक' नाम वाला अंग तो पूर्ववत् मुँह के ऊपर ही स्थिर है)। वह नाक (गंदगी) वैसे धूप में तलवार जैसी चमकती प्रतीत हो रही है। तब पहेली बना दी, चतुर विवेकी विनोदी दिमाग ने कि- 'चिकनी तलवार, भीत पै दे मार।' अब सुनने वाला

परेशान। तलवार का चीकना होने का क्या काम? फिर उसे दीवाल पर क्यों दे मारा? मन में असमंजस। अंततः उत्तर बताया तो मन आनंद से बाग-बाग हो गया।

ऐसी ही कुछ पहेलियाँ गणित सम्बन्धी हैं, जिनके उत्तर ढूँढने में गिनती करनी होती है; जोड़-गुणा-भाग करने होते हैं, तब नजर में आती हैं। ब्रज-क्षेत्र में कहीं-कहीं यहाँ-वहाँ कही-पूछी जाने वाली ऐसी ही कुछ गणितीय पहेलियाँ बड़ी ही ज्ञान-वर्धक ही नहीं हैं तो आनंददायी भी है; दिमाग (मगज) पचाने-खपाने वाली भी हैं तो तिल की ओट में छिपे हुए पहाड़ को प्रत्यक्ष कराने वाली भी।

उनमें से कुछ को ही मनोरंजनार्थ यहाँ उद्धृत करना है। किसी पहेली का उत्तर मात्र एक हो सकता है, किसी का उत्तर संभाव्य है। इसलिए यहाँ लिखित प्रस्तुत उत्तर को ही सर्वथा सत्य मानना अनिवार्य नहीं है। अतः आनंद अर्थात् मजा (जो किसी के पिताश्री का नौकर नहीं होता, कि आये-आये या नहीं आये) तब ही अधिक आने की गारंटी है, कि जब पहेली को पढ़कर, पहले स्वयं ही उसका उत्तर ढूँढा जाये। जैसे कि-

1. छटाँक काजर नौ जनी। तौ नौ मन काजर कै जनी ॥

अर्थात् यदि छटाँक भर काजल का उपयोग नौ महिलाएँ करती हैं तो नौ मन काजल का उपयोग कितनी महिलाएँ कर सकेंगी? उत्तर ढूँढने के लिए इतिहास में जाएँ : एक मन में चालीस सेर होते थे। एक सेर में सोलह छटाँक; अतः एक मन में $40 \times 16 = 640$ छटाँक हुई, नौ मन में $640 \times 9 = 5760$ छटाँक काजल। प्रति छटाँकी 9 महिलाएँ उपयोग करती है, अतः $5760 \times 9 = 51840$ उत्तर है।

2. दो पग चलै, चार पग हालै,
मेरी मानी-मानी सब बे मानी।

देखौ जिद्द हमारी, दो सीस सौ दो ही नैन री ॥

अब कोई बुजुर्ग इसके उत्तर हेतु पुराने समय के दो किवाड़ों की कल्पना करते हुए बताते हैं कि किवाड़ों की दो लोहे की खुम्मियाँ हैं, वे उसके दो पैर हैं; जो चार पग (कदम) चलते (हिलते) हैं। द्वार के ऊपर जो पत्थर (पटिया) की सरदल है, उसके दो छेदों में किवाड़ों के जो दो सिर हैं; वो दो शीश हैं, सिर

हैं कुंदे जो पकड़ने खींचने के लिए बने हैं, गोल-गोल वे नयन हैं। किंतु-मथुरा (यू.पी.) के किमयाँ मुजप्फर हुसैन के हिसाब से तो पहले सड़क की झाड़ू के बाद जो नालियों की स्वच्छता (सफाई) के लिए, नालियों में और नालियों पर पानी डालता हुआ, मशक पीठ पर लटकाए उस कार्यकर्ता को ही इसका उत्तर मानें। उसके दो पैर चलते हैं। मशक में मृत बकरे के चार पैर तो हिलते ही हैं। एक सिर बकरे का, एक मशक वाले का। नैन (दो) तो कार्यकर्ता भिश्ती के हैं ही।

3. 361 (तीन सौ इकसठ) फूल।

जितने फूल, उतनी ही माला।

कितने-कितने फूलों की कितनी माला?

अब ऊंगलियों पर न पार पड़े तो कागज कलम लेकर जूटेंगे फलावट हेतु। माना कि इतने-इतने फूलों की इतनी ही मालाएँ : गुणा किया, इतने फूल हुए, बार-बार कल्पना करें, कहाँ तक नहीं बैठेगा, आखिर? वर्गमूल निकाले तों - 19 फूलों वाली, 19 मालाएँ।

4. दो पेड़ों पर कुछ चिड़ियाँ बैठी हैं। पहले पेड़ की एक चिड़िया बोली- तुममें से एक आये तो हम दुगनी हो जायें। दूसरे पेड़ की चिड़िया बोली- तुममें से एक आये तो हम दोनों बराबर हो जायेंगे। दोनों पेड़ों पर कितनी-कितनी चिड़ियाँ थीं?

इस पहेली की शर्त के अनुसार एक पेड़ पर 7 और दूसरे पेड़ पर 5 चिड़ियाँ बैठी थी।

5. दो की चार, चार की सोलह, सोलह की चौबीस बनाई।
यहाँ पानी में आग लगावें लुगाई।

अब किसका दुगना करें, उसका चौगुना और फिर उसका ड्यौढ़ा करें तो यह सम्भव नहीं है क्या? सही उत्तर तो आप ढूँढ ही लेंगे। इतना हम बता देते हैं कि ब्रज की महिलाएँ बात का बतंगड़ खूब बना लेती हैं।

6. चवन्नी कौ गिलास, अठन्नी कौ लोटा, चार रुपैया कौ कलशा।
18 रुपैया, 18 ही बर्तन, कितने रुपैयान के कितने-कितने बर्तन ॥

हमने बहुत मगज खपाया। पूछा समझा। एक रुपये में दो

अठन्नी होती थी, चार चवन्नी होती थी। सब कुछ उल्टा-पुल्टा करने पर भी बर्तन अठारह (18) तो आ गए, किंतु रुपये 17 ही व्यय हुए। तीन कलशा 12 रू. के, 5 लोटा ढाई रुपये के, दस गिलास ढाई रू. के, अब या तो पहेली बदले कि 17 रुपैया 18 बर्तन या फिर सम्भव हो तो सही उत्तर आप बताकर पहेली का औचित्य सिद्ध करें।

7. 4 मन के 4 पाए, 8 मन की खाट।

16 मन को गूदड़ों, 32 मन को जाट ॥ (गूदड़ा- बिछौना)

महाराणा प्रताप का भाला एक मन का था, तो वे स्वयं भी 5-7 मन के तो होंगे (तो चेटक का वजन क्या होगा?) पर यह जाट कौन था? किसी ने बताया कि- 'हाथी'। चार मन के भारी चार पैर, 8 मन वजनी पेट, भारी बिछौना और समेकित वह कितने का? ले चलें हाथी को धर्म काँटे पर?

8. कछु खाट हैं, कुछ बराती हैं।

एक खाट पै एक बराती सोवै, तौ एक बराती बचै।

दो-दो बराती सोवै एक खाट पै, तो एक खाट खाली बचे ॥

कितने हैं बराती और कितनी हैं खाट?

अब उजड़ों वाला हिसाब (न्याय) करें तो पहले कुछ खाट लायें, बरातियों के पास ले जायें- हिसाब वहीं, मीन-मेख कर बैठायें तो बड़ी मजाक बने। तो कल्पना या गणित- कुछ काम नहीं आ सकता?

उत्तर = चार बराती, तीर खाट ।

9. पाँच भीतर, पाँच बाहर।

भीतर पत्थर, काठ बाहर ॥

इसमें यों तो गिनती भी है किंतु उत्तर देने वाला कहता है कि भाई 'कुछ अता-पता तो बताओ' तो क्या बताया जा सकता है कि यह पुराने समय से अब तक 'चाक बासन' लेने जाते हैं, शादी से उसका सम्बन्ध है। बिलौंद गाँव के नथोली बाबा प्रजापत ने इस पहेली का उत्तर आगे लिखी पहेली से दिया है -

10. नर नारी दोनू लड़ें, परदौ दै-दै बीच।

लड़ते-लड़ते तब हटे, जब काम हो जाये ठीक ॥

अर्थात् कुम्हार जब चाक पर मटका बनाकर, बाद में उस

कच्चे फरहरे (कुछ गीले, कुछ सूखे) मटके में, एक साथ (पाँच अँगुली-अँगूठा) से तो भीतर पत्थर की पीढ़ी लगाई जाती है और दूसरे हाथ की पाँचों ऊँगलियों से बाहर से काठ की थापी को थपेड़कर सही शकल दी जाती है; उक्त 9-10 पहेली में उन्होंने बर्तन बनाने सम्बन्धित एक और भी पहेली पूछ ली।

11. खूँटा पै खेती करी, पैर में लगाई आँच।

राख ढोय कै घर में भरी, श्रोता करौ विचार ॥

अर्थात् खूँटा (कीली) पर, चाक पर बर्तन बनाये (गढ़े)। इकट्ठे कर आवां बनाकर (जैसे की नाज इकट्ठा करने का पैर, स्थान) उसे पकाया फिर राख याने खाक; डस्ट मिट्टी (मिट्टी का बर्तन) घर में रखे।

12. तीन मित्र है। रात्रि कूँ विचार भयो कि लड्डू खाने हैं। एक लेवे गयौ। लौटि कें आयौ तब तक दोनू सो गए। वाएं भूख लगी ही, सो बिनके तीन हिस्सा कीने, एक फालतू बचौ सो पालतू कुत्ता कूँ दे दीनो, खुद कौ हिस्सा खायौ और सो गयौ। अब दूसरौ जगौ। भूख लगी ही, लड्डू हे ही सो वानै (शेष बचे) लड्डू के तीन हिस्सा कीने, एक फिर फालतू बचौ सो पालतू ऊँघते कुत्ता कूँ दीनौ, अपनौ हिस्सा खायौ औरु सो गयौ ऊ भी। नायँ तौ अब तीसरो जगौ। अरू लड्डू रखे हैं। हूँ वाने हू (शेष बचे) लड्डू के तीन भाग कीने। एक ऊत लड्डू बचौ तो सोमते पालतू कुत्ता के आगै डारि दीनौ। अपनौ हिस्सा खायौ औरु लुढ़कि गयौ। सुकारै तीनों ही उठे। जगिगे नायँ का। अरे लड्डू रखे हैं। वाह! फिर तीनन ने बरोबर बाँटे। एक बचौ लड्डू कुत्ता कूँ खबायौ। तीनोन ने फिर लड्डू ते कलेऊ कियौ। अब बताओ कि आखिर कु कितने लड्डू लाये गये हैं?

उस समय यह प्रश्न (पहेली) पूछा बीज-गणित से - माना कि अंत में प्रत्येक को एक्स-एक्स लड्डू हिस्से में आये, करके हल किया था। अब मुझे तो वह तरीका याद रहा नहीं हाँ, आप जैसे निकाल सकें तो वैसे, नहीं तो माना कि इतने होंगे- करके कर सकें तो ऐसे-करें, कृपया कोशिश तो करें। उत्तर एक या दो जितने हैं बतायें, 79 तो हैं ही।

13. नौ खूँट और सौ ऊँट।

ऊना-ऊना बाँधे, तौ कैसे-कैसे, कितने-कितने बाँधे।।

ऊना का अर्थ है कि 'सम संख्या में नहीं,' मतलब है विषम में। इकाई में 1,3,5,7 और 9 का अंक ही हो। हिसाब लगाया तो एक पर तीन, दो पर सात-सात, एक पर नौ, दो पर पन्द्रह-पन्द्रह, एक पर उन्नीस और एक पच्चीस बाँधे और गणित की भाषा में नवें पर शून्य ऊँट बाँधा (अर्थात् कोई भी नहीं बाँधा, 0 को सम समझ सकते हैं और विषम भी, क्योंकि न मेल न फीमेल) हमारा विचार गलत लगे तो आप बतायें सही उत्तर?

14. एक बड़ सौ डारे, एक डोर में सौ ही आरे।

एक आरे में सौई काग, एक के महीं में छटांक भर नाज।
तौ कितनौ नाज? कितने मन में नाज?

हिसाब लगाया $100 \times 100 = 10000$ आरे। इन दस हजार को गुणा 100 किया, तब दस लाख कौवे हुए। इतनी ही छटांक में 16 का भाग दिया तो 62500 सेर हुए। इनमें 40 का भाग दिया, तब 1562.5 मन (1562 मन बीस सेट) नाज हुआ। सही है ना? काग कितने भी हों, नाज तो बस एक के ही मुँह में था, तो उत्तर छटांक भर नाज ही तो रहेगा।

15. महाभारत युद्ध में अर्जुन ने कर्ण-वध के लिए पूरे (सारे) तरकश-बाणों का प्रयोग किया। आधे बाणों से अपनी रक्षा की। समस्त बाणों के वर्गमूल के चार गुणा बाणों से कर्ण के घोड़ों को मारा। छः बाणों से शल्य का वध किया, तीन बाणों से कर्ण से छत्र, ध्वज, कवच को ध्वस्त किया। एक बाण से कर्ण का सिर उड़ा दिया। अर्जुन ने कुल कितने बाण फेंके?

16. एक तीर्थ यात्री ने अपनी राशि का आधा भाग प्रयाग में, शेष का 2/9 भाग काशी में, शेष का 1/4 भाग सड़क कर में और शेष का 6/10 भाग गया यात्रा में दान किया। अब उसके पास शेष 63 निष्क (सिक्के) रहे। उसके पास यात्रा के प्रारंभ में कितनी राशि थी?

17. सौ फुट ऊँचे वृक्ष से एक बंदर नीचे उतर कर, 200 फुट दूरी पर स्थित तालाब पर गया। दूसरा बंदर वृक्ष से किसी अन्य ऊँचाई से लाँघ कर तेजी से विकर्ण के सहारे, उसी

स्थान (तालाब) पर गया, दोनों के द्वारा तय की गई दूरी समान थी, तो बताओ कि दूसरा बंदर किस ऊँचाई से कूदा?

पहेली (प्रश्न) 15, 16 और 17 को हल करने में कल्पना (माना कि कुल बाण ..थे, कुल राशि...थी), बीज गणित, पाइथागोरस कि त्रिगनोमेट्री, किस-किस का प्रयोग होगा (मुझे पता नहीं); जो होता है। प्रयोग करें, उत्तर बतायें, फिर बतायें क्या इनमें से कोई प्रश्न गलत है, पहेली अनुचित है? यदि हाँ तो क्यों?

18. चार स्वसुर, सोलह बहू, ऐकड़ गैले जायँ।
साँझ परे जिन बीच में, एक जिगै सो जायँ।।

उत्तर है- चार अँगूठे और सोलह ऊँगलियाँ।

19. 361 रुपैया। रुपिया फूटे नहीं। कूड़ (ढेरी) बराबर की है जायँ।

उत्तर= वर्गमूल निकाल कर, 19-19 रुपयों की उन्नीस ही ढेरी होगी।

20. चलै पवन ते तेज, नायँ धरती ते लागै।
फल आयें छत्तीस, फूल वामे एक न आवै।।
फल-फल फलें अनेक, फल कौ न्यारौ न्यारौ नाम।
काटै पीछे बढे, बता बिरछ कौ नाम?

इसका उत्तर है यह पहेली -

21. ऊकडू बैठ कै, कूकडू तानौ।
गुच्ची कूँ देखिकै, दण्ड बौरानौ।
ऊपर थाँवी धरै, चाहै सोई करै।

और 20-21 दोनों का उत्तर है- कुम्हार का चाक। कैसे? कहीं, आसपास या दूर, जहाँ हो चाक, वहाँ जाकर देखें चाक, तब ही सही समझ आयेगा या जिन्होंने देखा हो, उनसे समझें। यदि सम्भव हो तो कृपया...।

22. बामन नाई सेर मिठाई। कितनी-कितनी खाई।।

उत्तर यह है कि ब्राह्मण और नाई दोनों मित्रों ने आधी-आधी खाई।

लोकोक्तियों में निहित संस्कार

डॉ. माधुरी यादव

‘संस्कृति’ संस्कार जन्य है। वैयक्तिक स्तर पर मनुष्य के जीवन में संस्कारों का अमित प्रभाव होता है। संस्कार मनुष्य के अवचेतन मन में सूक्ष्मतरंग रूप में अवस्थित रहते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य में व्यापक चेतना जो क्रमशः अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश तथा आनंदमय कोश के रूप में पहचानी जाती है। संस्कार उन पर भी अपना प्रभाव डालते हैं। संस्कार ही मनुष्य को एक निश्चित दिशा, विचार-चिंतन और विभिन्न कार्यकलापों के लिए प्रेरित करते हैं। संस्कारों की गहरी पैठ ही धीरे-धीरे प्रवृत्तियों या चेष्टाओं के रूप में प्रकट होती है। इस प्रकार संस्कारों के रूप में संस्कृति हममें व्याप्त है। सुसंस्कारों के कारण व्यक्ति सत्कर्मों की ओर तथा कुसंस्कारों के कारण दुष्कर्मों की ओर प्रवृत्त होता है। मनुष्य जब कोई महान् आदर्श स्थापित करता है तो वह अन्य के लिए भी अनुकरणीय हो जाता है। परन्तु जब कोई न करने योग्य कार्य कर देता है, तब ऐसे अवसरों पर प्रायः कहते सुना जाता है- उसके संस्कार ही ऐसे थे। इस प्रकार संस्कारों द्वारा व्यक्ति, जाति, कुल, समाज और राष्ट्र का आकलन किया जा सकता है। इसी आधार पर संस्कारों को निम्नांकित भागों में विभाजित किया जा सकता है -

वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, सामूहिक और शैक्षणिक संस्कार।

भारतीय संस्कृति में संस्कारों का महत्त्व सर्वविदित है। संस्कारों से ही व्यक्ति द्विजत्व प्राप्त करता है। हमारा समाज दो महत्त्वपूर्ण कड़ियों से जुड़ा होता है। प्रथम तो सुसंस्कृत विद्वत्जनों से और दूसरे वे जन जो भोले-भाले निराक्षर और अनपढ़ हैं। विद्वान पुरुषों का संस्कार तो वैदिक वाङ्मयानुरूप तथा ब्राह्मणों द्वारा वैदिक संस्कार-विधियों से किया जाता है, परन्तु जो वैदिक ज्ञान से अनभिज्ञ हैं, पर

उन्हें परम्पराओं से प्राप्त जो ज्ञान है- उसका आचरण वे सदैव करते हैं। उन्होंने पूर्वजों से प्राप्त ज्ञान को, अपनी परम्पराओं को जीवित रखा है। वहाँ लोकाचारों के माध्यम से संस्कार सम्पन्न होते हैं। इन संस्कारों का आज भी उतना ही आदर-सम्मान है, जितना पूर्व में था। हमारे समाज में वैदिक संस्कृत से भले ही कम रिश्ता हो, परंतु इन सब आचरणों का पालन लोक-परम्पराओं के अनुसार होता ही रहता है। लोक के द्वारा मनुष्य कभी अज्ञानी नहीं रह पाता। उसे व्यवहारगत ज्ञान की कुंजियां कभी लोकगीत, लोकोक्तियों या लोककथाओं, लोकोचार के माध्यम से प्राप्त होती रहती हैं।

संस्कृत साहित्य और अन्य भारतीय भाषाओं में लोकोक्तियों का प्रचुर भंडार है, जिनमें से अधिकांशतः संस्कारों से सम्बन्धित हैं। भारत की अनेक लोकभाषा-बोलियों में जो लोकोक्तियाँ हैं, उनमें भी विविध संस्कार अभिव्यक्त होते हैं। विभिन्न उदाहरणों के द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है।

भारत एक धर्मप्रधान देश है। मध्यप्रदेश की निमाड़ी भाषा में उक्ति प्रचलित है- 'धर्म आगे आयो'- प्रायः जब कोई व्यक्ति किसी अनिष्ट या दुर्घटना से बच जाता है, तो ऐसा कहा जाता है। अर्थात् व्यक्ति के भीतर वह संस्कार और धर्म के प्रति आस्था ही उसे अनिष्ट से बचाते हैं। यही सम्पूर्ण भारतवर्ष की पहचान है।

भारतीय परम्परा वचन के मोल को प्राण देकर भी निभाती है। मानस में कहा है -

रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्राण जाहि पर वचन न जाई॥

वहीं मध्यप्रदेश के मालवी समाज ने वचन को पिता समान उपमा देकर कह दिया -

वचन ते बाप एक वै।

भारतीय समाज में सर्वत्र प्रचलित लोकोक्ति- 'पूत के पाँव पालने में ही पहचान में आ जाते हैं'- मनुष्य, पेड़-पौधे या प्राणी का भविष्य उसकी प्रारंभिक अवस्था में ही ज्ञात हो जाता है। इस तथ्य पर आधारित कुछ लोकोक्तियाँ निम्नानुसार हैं -

मुलाची परीक्षा डोहान्यावरून (मराठी कहावत)

अर्थ - दोहद से बच्चे की परख।

बाप तेवा बेटा ने वड़ तेवा टेटां। (गुजराती कहावत)

पुत्रनां लक्षण पालणांमाशी,

ने बहुनां लक्षण बाराणांमाथी। (गुजराती)

अर्थ - पुत्र के लक्षण पालने में, बहू के लक्षण दरवाजे में।

पूत का लक्खण पालणे, ने बऊ का लक्खण आंगणे।

(मालवी कहावत)

संस्कृत में इस आशय की लोकोक्तियाँ इस प्रकार हैं -

संसर्गजा दोष गुणा भवन्ति।

- दोष और गुण संगति से होते हैं।

जाति या कुल के संस्कार बहुत गहरे और प्रभावशाली होते हैं। विभिन्न जातियों ने अपनी जाति के जो विशेष गुण या व्यवसाय विषयक कुशलता आत्मसात् की होगी, उसका प्रभाव उस जाति में पैदा हुए बच्चों पर अवश्य होता है और वे बच्चे भी अपने पूर्वजों के गुण ही झट से अपनाते हैं। यथा -

पण्डितस्य गृहे शुका अपि संस्कृत पठन्ति।

(संस्कृत लोकोक्ति)

विद्वानों के घर में तोते भी संस्कृत का पाठ करते हैं।

गवयाचे पोर रडले तरी सुरावरच रडणार। (मराठी कहावत)

गवैया का बच्चा रोए तो भी सुर में ही रोएगा।

माशाचे पोराल (पिलाल) पोहायला शिकवायल नको।

(मराठी कहावत)

मछली के बच्चों को तैरना नहीं सिखाना पड़ता।

माछलाने तरतां शीखवुं पडे नहीं। (गुजराती कहावत)

मछली को तैरना सिखाना नहीं पड़ता।

व्यक्ति के संस्कार वंशानुगत होते हैं, यह मान्यता भी समाज में प्रचलित है। इस बात के लिए प्रसिद्ध उक्ति है -

बोये पेड़ बबूल का आम कहाँ से खाय।

इसी से संबंधित लोकोक्ति मध्यप्रदेश के मालवाँचल में अत्यधिक प्रसिद्ध है -

कड़वी बेल की कड़वी तूमड़ी, अड़सठ तीरथ न्हाई।

गंगा न्हाई-गोमती न्हाई, मिटी नहीं कड़वाई॥

अर्थात् - जिसकी बेल ही कड़वी है उसका फल भी कड़वा ही रहता है। भले ही वह अड़सठ तीरथ नहाये, गंगा नहाये, गोमती नहाये- पर उसकी कड़वाहट कभी भी मिटती नहीं है।

सोलह संस्कारों के अंतर्गत सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्कार विवाह संस्कार होता है, जिसमें दो आत्माएँ धर्मानुष्ठान् द्वारा गृहस्थ धर्म में प्रवेश करती हैं। विवाह संस्कार-सम्बन्धी अनेक लोकोक्तियाँ विभिन्न भाषाओं में प्रचलित हैं, जो हमारी सांस्कृतिक परंपराओं का बखान करती हैं।

तिरिया तेल हमीर हठ चढ़े नी दूजी बार।

(मालवी एवं राजस्थानी कहावत)

तिरिया (लड़की) तेल और हमीर हठ एक ही बार होती है। अर्थात् स्त्री का तेल (विवाह, लग्नादि के समय) एक बार चढ़ता है, दूसरी बार नहीं। हमीर की हठ भी एक ही होती है, अपने वचन के लिए उसने लड़ते हुए प्राण दे दिए थे। यह कहावत हमें ऐतिहासिक तथ्य से भी परिचित कराती है।

लोकोक्ति हमें सचेत करती है कि संस्कार सोच-समझकर ही करना चाहिए। बघेलखण्ड (मध्यप्रदेश) में आज भी कहा जाता है -

हाथ जरे मुंह जरे का ओखे खाए।

मन से मन न मिले, का ओखे जाए।।

जिसे खाने से हाथ-मुँह दोनों जले उसे क्या खाया जाए? वैसे ही जहाँ मन से मन न मिले, उसके घर निर्वाह किस प्रकार हो सकता है? इसी प्रकार वर-वधू के विवाह के लिए आयु-निर्धारण के सम्बन्ध में प्रचलित है -

तिरिया तेरा ने मरद अठारा। (मालवी कहावत)

लोकोक्ति इस बात की द्योतक है कि मालवा में लड़की की शादी तेरह वर्ष में और लड़के की अठारह वर्ष में हुआ करती थी। संस्कृत की लोकोक्ति 'गृहे या पुण्यनिष्पत्तिः साध्वनि भ्रमतः कुतः।' (गृहस्थ में जो पुण्य किए जाते हैं, वे संन्यास में नहीं) कहकर गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता को स्वीकारा गया है। वर के चयन करते समय उसके घर की अपेक्षा वर को देखने की बात निमाड़ी कहावत में कही गई है - घर नी, वर देखणु।

इसी प्रकार बघेली लोकोक्ति में कहा गया है कि मन मिले

तो ही सम्बन्ध करना चाहिए अन्यथा अकेले रहना भला -

मन मिले का मेला, नहीं ता भला अकेला।

विवाहादि कार्य सोच समझकर करना चाहिए, जिससे वह समर्थ होने पर हमारे बुरे समय में साथ दे सके। अर्थात् अपनी योग्यता, पद-प्रतिष्ठा अनुरूप सम्बन्ध ही ज्यादा समय तक टिक सकते हैं। यह बोध कराते हुए मालवी कहावत है -

सगो समरथ कीजिए, जब तब आवे काम।

इसी क्रम में 'हाथ पीले करना', 'चट्ट मंगनी पट्ट बिआह' जैसी कहावतें आज तक लोकप्रिय हैं। कुछ कहावतों में सुहागिन स्त्रियों के संस्कारों पर भी प्रकाश डाला गया है। जैसे-

पहरी ओढ़ी मेहरिया, लीपी पोती डेहरिया। (बघेली कहावत)

पहनी-ओढ़ी महिला अच्छी दिखती है, उसी प्रकार घर की देहरी लिपी-पुती अच्छी लगती है।

लम्बा घूँघट छपके पाँव, बहुरिया बड़े उपाय। (बघेली कहावत)

लम्बा घूँघट और धीरे-धीरे पाँव रखकर चलने वाली बहू के सम्बन्ध में यह उक्ति कही गई है।

मेहंदी न छूटे। (बघेली)

वधु के लिए आशीर्वाद स्वरूप कहा जाता है कि मेहंदी न छूटे। अर्थात् वधू सदैव ही अपने ससुराल में सम्मान पाए, पति की प्यारी बनी रहे।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि संस्कृति का केन्द्र बिन्दु मनुष्य ही है। धर्म और संस्कृति के कारण ही मनुष्य, पशु और मानवेतर समस्त प्राणियों से श्रेष्ठ माना गया है। संस्कृति का उद्देश्य भी तो श्रेष्ठ उदात्त जीवन-मूल्यों से ओतप्रोत मनुष्यों का निर्माण करना ही तो है। ऐसे मनुष्य के संस्कारों का संघटित समुच्चय ही संस्कृति के रूप में आकार ग्रहण करता है। इस प्रकार जहाँ व्यक्ति विशेष के संस्कार व्यक्तिगत संस्कार एवं सामूहिक संस्कार समष्टिगत संस्कार हैं। जिस प्रकार बर्तन आदि जड़ वस्तुओं का संस्कार करने में उनमें शुद्धता और चमक आ जाती है, उसी प्रकार मनुष्य में भी जन्म-जन्मांतर के अनेक दोष विद्यमान होते हैं, जिन्हें दूर करने हेतु संस्कार आवश्यक होते हैं। इसीलिए मनुष्य जीवन में इन संस्कारों की व्यवस्था भारतीय मनीषियों द्वारा की गई। आज भी यह व्यवस्था निरन्तर विद्यमान है।

बुन्देली की पहेलियाँ

डॉ. कुंजीलाल पटेल 'मनोहर'

आधुनिक बुन्देलखण्ड की भौगोलिक सीमाओं का निर्धारण यहाँ की नदियों के आधार पर किया गया है। उत्तर में यमुना नदी से लेकर दक्षिण में नर्मदा नदी तक तथा पूर्व में टोंस नदी से लेकर पश्चिम में चम्बल नदी के मध्य स्थित भौगोलिक परिक्षेत्र को इतिहास में बुन्देलखण्ड कहा गया है। इस जनपद की इन सीमाओं की पुष्टि बुन्देली लोकमानस में प्रचलित इस पारम्परिक दोहे से होती है-

*इत यमुना उत नरमदा, इत चम्बल उत टोंस ।
छत्रसाल सों लखन की, रही ना काहू होंस ॥*

बुन्देलखण्ड केशरी महाबली छत्रसाल कालीन इस दोहे में बुन्देली जनपद की प्राकृतिक एवं भौगोलिक सीमाओं का निर्धारण हुआ है। यहाँ के लोकमानस में प्रचलित एक बुन्देली पहेली बुन्देलखण्ड के राजनैतिक तथा ऐतिहासिक नगरों के आधार पर बुन्देलखण्ड की सीमाओं की ओर इंगित करती प्रतीत होती है-

*भैंस बँधी है ओरछा, पड़ा हुसंगाबाद ।
लगबईया है सागरे, चपिया रेवा पार ॥*

बुन्देलखण्ड के मूल निवासियों की मातृभाषा बुन्देली या बुन्देलखण्डी है। प्राचीन समय में बुन्देलखण्ड को चेदि जनपद के नाम से जाना जाता है। मध्यभारत के इतिहास में जुझौति, जैजाकभुक्ति, दशार्ण, चंदेरी तथा गुड़ानों आदि इसी जनपद के नाम समय-समय पर

रहे हैं। इस जनपद का वर्तमान नाम बुन्देलखण्ड तथा इसकी प्रधान बोली या विभाषा बुन्देली है। बनाफरी, लोधान्ती, भदावरी, तिरहारी, तोमरी, कुन्डरी, कोष्टी, निभट्टा, जादौमाटी तथा खटोला आदि बुन्देली की ही सहायक उपबोलियाँ हैं।

बुन्देली तथा उसकी उपबोलियों के नामकरण निराधार नहीं हैं, बल्कि यहाँ के मूल निवासियों तथा उनके भाषायी साहित्य, लोकसाहित्य, लोकसंस्कृति, लोकजीवन तथा लोक इतिहास पर किये गये शोधकार्यों के आधार पर अन्वेषकों द्वारा इनको नामांकित किया गया है।

बुन्देली का अधिकांश साहित्य यहाँ की संकलित तथा असंकलित दोनों परम्पराओं में पाया जाता है। लोकगाथाएँ, लोकगीत, लोकोक्तियाँ तथा पहेलियाँ बुन्देलखण्ड की वाचिक परम्परा के असाधारण साहित्यिक भंडार हैं। बुन्देली साहित्य एवं लोक संस्कृति की सामूहिक गुणग्राही अनुकरणीयता के कारण देश के ही नहीं, बल्कि विदेश के भी अनेक अन्वेषकों ने अपने शोधकार्यों के लिये बुन्देलखण्ड के ऐतिहासिक स्थलों की समय-समय पर शोध यात्राएँ की हैं। बुन्देली साहित्य तथा संस्कृति की प्राचीनतम गुणधर्मी विश्वसनीयता के कारण उसकी अनुकरणप्रियता पर ग्रामीण लोकमानस के लोकविश्वास की अविस्मरणीय मोहर आज भी लगाई जाती है।

बुन्देली साहित्य में लोककथाओं की भाँति लोकोक्तियों एवं किस्साओं का भी असीमित भंडार है। संस्कृत साहित्य में जिसे प्रहेलिका कहा गया है, उसी को हिन्दी में पहेली कहते हैं। लेकिन बुन्देली ने संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य से शाब्दिक ऋणाभार नहीं लिया, बल्कि पहेली के लिये अपनी खानदानी संज्ञा के आधार पर जानने वाले किस्सों को जनौवल अथवा बूझनेवाली किस्साओं को बुझौवल नाम दिया है।

बुन्देली बुझौवल वक्रोक्ति विश्लेषण के लिये लोकमानस में रचे-बसे अनगिनत सोपान हैं। गाँव के लोगों को गूढ़ार्थी प्रसंगों का ज्ञान कराने के लिये लोकमानस में जनौवल अथवा बुझौवल विषयक काव्योक्तियों की रचना की होगी। लोकोक्तियों एवं पहेलियों की विषयवस्तु में वैदिक, पौराणिक, प्राकृतिक तथा लोकजीवन के प्रसंग प्रचुरमात्रा में देखने-सुनने को मिलते हैं। पहेलियाँ ज्ञानवर्धन तथा स्मरण शक्ति बढ़ाने के उद्देश्य से कही-

सुनी और सीखी जाती हैं। इस सम्बन्ध में कहा भी जाता है -

*अबुझ बुझौआ गाँव के, ज्ञान गठरियन देत ।
मौका पै करलो कछु, चेत सकौ तौ चेत ॥*

ग्रामीण लोग उलझे बुझौवलों को सुलझायें, इनसे ज्ञान की गठरियाँ खुलती हैं। मौका मिलते ही इनका ज्ञान प्राप्त कर लें, अचेतन मन में चेतना प्रस्फुटित करने के लिये, अज्ञात को ज्ञात करने के लिये अथाईयों में पहेलियाँ कही जाती हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों के लोग अशिक्षित होते हुए भी कितना ज्ञान रखते थे, इसका अंदाजा चौपालों में होने वाली किस्सा- कहानियों से लगाया जा सकता है। वाचिक परम्परा किसी साहित्यिक परम्परा से कमजोर नहीं है, क्योंकि लोक परम्परा के प्रकीर्ण साहित्य से ही हमारी खानदानी पीढ़ियों की पहचान होती है -

*सुनों कहानी गाँव की, गूढ़ ज्ञान की खान ।
इन्हें समझकें फिर करौ, पुरखन की पहचान ॥*

इतना तो निर्विवाद सत्य है कि ग्रामीण क्षेत्रों में पहेलियाँ केवल मनोरंजन के लिये ही नहीं, अपितु ज्ञान बढ़ाने के लिये प्रचलित की गई होंगी और इन्हीं पहेलियों से प्रभावित होकर अलंकार शास्त्र में वक्रोक्ति सम्प्रदाय का जन्म हुआ होगा। चाहे वह संस्कृत साहित्य के आधार पर हो अथवा लोकमानस में प्रचलित पहेलियों के आधार पर। शोधयात्रा में संकलित की गई पहेलियों में से काव्यात्मक लक्षणों को पूर्ण करती कुछ प्रमुख पहेलियाँ यहाँ प्रस्तुत हैं -

*सुत अपने के लैकें गोद, पति अपने संग करत बिनोद ।
वेद-पुरान बतावें साखी, तीन जनन की उन्तिस आँखी ॥*

अपने पुत्र को गोद में लेकर अपने पति के साथ मनोविनोद करती है। सभी वेद और पुरान इसके साक्षी हैं। तीन लोगों की उन्तीस आँखें हैं। इस पहेली में पंचमुखी शंकर जी की पन्द्रह आँखें, षट्मुखी कार्तिकेय की बारह आँखें तथा उनकी माता पार्वती की दो आँखें कुल मिलाकर उन्तीस आँखें होती हैं।

*वर मांगन वर लौ गई, वर मांगे फिर दोग ।
वर पाये बेवर भई, जानत जग सब कोय ॥*

वरदान माँगने के लिये अपने पति के पास गई, फिर पति से दो वरदान माँगे। उसे पति से वरदान तो मिल गये, लेकिन वह बिना वर के अर्थात् विधवा हो गई। ऐसा करने वाली स्त्री को संसार में सब कोई जानता है- अर्थात् कैकेयी वरदान माँगने अपने पति दशरथ के पास जाकर दो वरदान एक में राम का वनवास और दूसरा भरत का राजतिलक माँगती है। वरदान तो उसे मिल जाते हैं, लेकिन दशरथ के दिवंगत हो जाने से बिना पति के वह विधवा हो जाती है।

*तुला-तुला कौ बैर भओ, कुंभ लै गयो चोर ।
करक रास दूँढ़न चलौ, करबे टोर मरोर ॥*

दो तुला राशि वालों में दुश्मनी हो गई। एक तुला राशि वाला दूसरे तुला राशि वाले की कुंभ राशि वाली पत्नी को चोरी से लेकर चला गया। चोरी गई स्त्री और चोरी करने वाले दुश्मन का पता लगाकर उसको तोड़ने-मरोड़ने के लिये कर्क राशि वाला चल दिया। इस पहेली में राम और रावण की तुला राशि, सीता जी की कुंभ राशि तथा रामदूत हनुमान जी की कर्क राशि है।

*रार करत ते दो जनें, देखत ती इक नार ।
जिनके नैना चाइये, दो हजार उर चार ॥*

दो लोगों में लड़ाई हो रही थी, लड़ाई को एक स्त्री देख रही थी। लड़ाई करने वालों की देखने वाली आँखें सहित तीनों की आँखे, दो हजार चार होना चाहिये। बताइये ये तीनों कौन हैं? इस पहेली में कालियानाग जो हजार फनवाला है, उसकी आँखें दो हजार, उससे लड़ने वाले श्री कृष्ण की दो आँखें और देखने वाली नागिन की दो आँखें इस प्रकार तीनों की मिलाकर कुल आँखें दो हजार चार होती हैं।

*जितै हवा नई जा सकत, रविराशि उदय न होये ।
जीको बिरमा नई रचो, लेत आइयौ सोये ॥*

जिस जगह पर हवा नहीं जा सकती, उस जगह पर कभी सूरज-चन्द्रमा उदय-अस्त नहीं होते। ऐसी जगह एक ऐसी वस्तु पैदा होती है, जिसकी रचना ब्रह्मा द्वारा नहीं की गई। ऐसी वस्तु बजार से जरूर लेते आना। इस पहेली का उत्तर मुरार अर्थात् कमल की जड़ है। वह तालाब के अंदर कीचड़ में होती है, वहाँ हवा नहीं पहुँचती और कीचड़ के अंदर न ही सूरज-चन्द्रमा के प्रभाव की पहुँच होती है।

*सिव के सुत की माँत के, आखर चार सुरेश ।
बीच-बीच के छोड़के, भेजो करे हमेश ॥*

शंकर जी के पुत्र गणेश, उनकी माता का चार अक्षर वाला नाम जिसे सारे देवता तक जानते हैं, उस नाम के बीच-बीच के अक्षर छोड़कर हमेशा भेजते रहा करें। इस पहेली के उत्तर में शंकर जी की पत्नी का चार अक्षर वाला नाम 'पार्वती' है। उसके मध्याक्षर र एवं व अलग कर देने पर दो अक्षर पा और ती अर्थात् पाती रह जाते हैं, जिसका अर्थ चिट्ठी-पाती अर्थात् पत्र होता है।

*छिकर कना दो पूछियाँ, दस गोड़े मुख चार ।
एक मुख में जिभ्या नहीं, का है करौ विचार ॥*

जिनके हिरण जैसे कान हों, दो पूँछ हो, दस पैर हो, चार मुख हो, एक मुख जीभ रहित हो, यह सब क्या है? सोच-विचार कर इसका मतलब बताइये। इस पहेली में गाय तथा बछड़े के हिरण जैसे कान, दोनों की दो पूँछ तथा आठ पैर, दोहिनी का जीभ रहित एक मुख, दोहनी करने वाले के दो पैर, इस प्रकार दो पूँछ, दस पैर और चार मुख होते हैं।

*सुआ परेवा किलकिला, संग बगलन की नार ।
पिया बजारै जायकें, चीजें लाइयौ चार ॥*

तोता, कबूतर, किलकिला और बगला के रूप या रंग वाली चार वस्तुएँ एक साथ बाजार जाकर ले आना। इस पहेली का उत्तर पान है। तोता के रंग का पान का पत्ता, कबूतर के रंग की सुपारी, किलकिला के रंग का कत्था तथा बगला के रंग का चूना होता है। पत्नी पान मँगाने के लिये सीधे न कहकर पहेली के माध्यम से अपने पति से कहती है।

*पन्द्रा आये पांवने, बरा बनाओ एक ।
सबखां परसो आदौ-आदौ, दूलै परसो एक ॥*

पन्द्रह मेहमान आये हैं, उनके लिये एक बरा बनाया गया है। सभी मेहमानों को आधा-आधा और दूल्हा को एक पूरा बरा परोसा गया है। यह कैसे हुआ? पहेली का आशय महीने के पखवाड़े के पन्द्रह दिनों से है, जिनमें चन्द्रमा आधा-आधा रहता है और पूर्णमासी अर्थात् दूल्हा के लिये है। इस दिन चन्द्रमा पूरा उदित होता है।

चलत-चलत बूढ़े भये, चले न एकऊ कोस ।
लरका बारे बेंच खाये सब, तऊँ न आओ होस ॥

चलते-चलते बुढ़ापा आ गया है, लेकिन एक कोस अर्थात् दो मील भी नहीं चल पाये। सभी बाल-बच्चे बेच डालें, लेकिन फिर भी होश नहीं आया। इस पहेली का उत्तर कुम्हार का मिट्टी के बर्तन ढालने के लिए चलाने वाला लकड़ी का पहिया या चका है और मिट्टी के बर्तन उसके बच्चे हैं ।

एकई बखरी एकई गाँव, दो बिटियन के एकई नाँव ।
मिले जुरे कौ रै गओ पेट, दोनन कें भओ लरका एक ॥

एक ही घर है, एक ही गाँव है। दो लड़कियों का एक ही नाम है। दोनों को मिला-जुला एक ही गर्भ ठहर गया है और दोनों लड़कियों के गर्भ से एक ही लड़का पैदा हुआ है। इस पहेली का उत्तर समुद्र या जलाशय में होने वाली छिपनी या सीप है। सीप के दोनों भागों को दो बिटियाँ और मोती को एक लड़का और समुद्र या तालाब को बखरी एवं गाँव कहा गया है।

झट नाहाँ झट माँहाँ, छै गोड़े दो बाँहों ।
पीठ के ऊपर पूँछ लटके, जौ तमासौ काँ है ॥

तुरंत इधर और तुरंत उधर हो जाती है। उसके छह पैर और दो बाँहें अर्थात् हाथ हैं। उसकी पूँछ पीठ के ऊपर लटक रही है। यह तमाशा कहाँ है। इस पहेली का उत्तर सामग्री तोलने वाली तराजू है, जिसके पलड़े वजन के आधार पर ऊपर-नीचे होते रहते हैं। उसमें लगी छह जंजीरें छह पैर हैं। तराजू की डंडी उसके दो हाथ और पकड़ने वाली उसकी गठान लगी रस्सी पूँछ है।

तीन पाँव धरती धरै, एक करे अम्बार ।
बिन बादर बिन मेघ के, बरसे मूसरा धार ॥

तीन पैर धरती पर रखता है, एक पैर आकाश की तरफ ऊपर उठाता है। बिना बादल उठे और बिना मेघ के छाये मूसलाधार बारिश करता है। बताओ यह क्या है? इस पहेली का उत्तर कुत्ता हुआ, क्योंकि जब भी वह किसी जगह पर पेशाब करता है तो उसके तीन पैर धरती पर और चौथा पैर आकाश की ओर उठ जाता है ।

दिल्ली देखी बम्बई देखी, फिर देखी कलकत्ता ।
ऐसौ पेड़ौ कहुँ ना देखो, फल के ऊपर पत्ता ॥

दिल्ली, बम्बई और कलकत्ता सभी देख लिये, लेकिन कहीं ऐसा पेड़ नहीं देखा, जिसके फल के ऊपर पत्ते लगे हों। इस पहेली का उत्तर सिंघाड़े का पेड़ है, क्योंकि उसमें नीचे फल अर्थात् सिंघाड़े लगते हैं और फलों के ऊपर पत्ते उगे होते हैं।

लम्ब पूँछ बड़ दंत है, लंक विनाशन कीन ।
वो रामायन न मिलै, हनुमान नहिं चीन ॥

उसकी लम्बी पूँछ है, बड़े-बड़े दाँत हैं, और वह लंकविनाशी है। वह रामायन में नहीं मिलेगा। वह हनुमान भी नहीं है, बताइये वह कौन है? इस पहेली का उत्तर किसान का एक उपकरण है, जिसे पचा कहते हैं। इसके बड़े-बड़े दाँत तथा लम्बी पूँछ होती है। इससे किसान खलियान में फसल जिसे लंक या लांक कहते हैं, उसे तोड़ता है।

लम्पा से हांत गोड़े, सूते सी करयाई ।
मूछन पै हांत फेरै, साँवरौ सिपाई ॥

लम्पा जैसे पतले उसके हाथ-पैर हैं, सूत सी पतली उसकी कमर है। मूँछों पर हमेशा अपना हाथ फेरता रहता है। यह साँवले रंग वाला सिपाही कौन है? यह पहेली चींटी से बड़ा चीटा पर कही जाती है। क्योंकि उसके हाथ-पैर लम्पा जैसे पतले तथा कमर सूत सी पतली और कमजोर होती है, जो अपनी मूँछों पर हाथ सा फेरता चलता है।

खेती के सामान में, आखर पूरे तीन ।
पैलो आखर छोड़कें, ब्याह राम को दीन ॥

खेती के उपकरण के एक पुर्जे का नाम तीन अक्षर का है। उस उपकरण का पहला अक्षर छोड़कर शेष बचे दो अक्षर वाले नामधारी का विवाह राम के साथ किया गया है। इस पहेली का उत्तर सिया अर्थात् सीता है। हल में कुसिया लगता है इसका प्रथम अक्षर हटाने से सिया शब्द बनता है, जिसका अर्थ सीता होता है ।

एक बैलवा अजरा कजरा, चारऊ देश रमांय ।
बादशाह से बातें करत, पानू देख डराय ॥

एक वस्तु सफेद एवं श्याम रंग की है। वह देश की चारों दिशाओं में आती-जाती है। वह बादशाह तक से बातें करने में सक्षम है। लेकिन पानी से उसे डर लगता है। इस पहेली का उत्तर

कागज है, जिस पर चिट्ठी-पाती या संदेश लिखकर भेजा जाता है।

मैं लैन आई ती तोय, तैनें लै लओ मोय ।
जब तें छोड़बै मोय, तब में लै जैहों तोय । ।

मैं तुझे लेने के लिये आई थी, लेकिन तूने ही मुझे ले लिया है। जब तुम मुझे छोड़ोगे, तभी मैं तुम्हें लेकर जाऊँगी। इस पहेली में एक पनहारी पानी लेने के लिये पनघट पर गई, तभी पानी बरसने लगा इसीलिये वह कहती है कि मैं तुझे अर्थात् पानी को भरकर घर ले जाने के लिये आई थी, लेकिन पानी ने मुझे ले लिया अर्थात् पानी बरसने लगा। जब पानी बरसना रुकेगा तब वह कुँए से पानी भरकर ले जायेगी ।

बारे में बगला बनी, जबानी में सुआ ।
सांसी बताव ऊकौ, बुढ़ापै में का हुआ ॥

बचपन में बगला की तरह सफेद रंग और जवानी में तोता की तरह हरा एवं लाल रंग हो जाता है। सही-सही बताइये उसका बुढ़ापे में क्या होता है। इस पहेली का उत्तर मिर्च है। उसका फूल सफेद, फल पहले हरा फिर पककर लाल रंग का हो जाता है और बुढ़ापे में सूख जाने पर मसाले में पीसी जाती है ।

एक भुजा धारण करें, बैठी एकई ठाम ।
सब जग की चिन्ता करें, तन पै नइयां चाम ॥

वह एक ही भुजा धारण करती है। एक ही जगह स्थापित रहती है। संसार के सभी लोगों की उसे चिन्ता रहती है। उसके शरीर में चमड़ी नहीं है। बताइये वह क्या है? इस पहेली का उत्तर अनाज पीसने के लिये हाथ से चलने वाली देशी आटा चक्की है, जो घर में एक ही जगह स्थित होती है।

तीन नेत्र शंकर नहीं, दूध देत नहिं गाय ।
पेड़ चड़ो पंछी नहीं, ईकौ अरथ बताय ॥

तीन नेत्रवाला है- लेकिन शंकर जी नहीं हैं। दूध देता है- लेकिन गाय नहीं है। पेड़ पर चढ़ा है- लेकिन पक्षी नहीं है। तो फिर क्या है इसका उत्तर- बताइये? इस पहेली का उत्तर नारियल है, क्योंकि उसमें तीन आँखें होती हैं, कच्चे नारियल का पानी दूध जैसा होता है तथा पेड़ के ऊपर फलता है।

दस नख धरनी पै चलें, अतफर चलें पचास ।
तीन मूड़ दो आंखियां, पतौ ल्या दो खास ॥

अंगूठा और आठ उँगलियों के नाखून सहित दस धरती पर और पचास अधर में चलते हैं। इनके तीन सिर और दो आँखें हैं। इनका सही पता कर बताइये। प्रस्तुत पहेली श्रवण कुमार तथा उनके माता-पिता पर रची गई। अंधे माता-पिता को कांवर में बैठाकर श्रवण कुमार उन्हें लिये जा रहे हैं ।

तेली लौ कौ तेल, कुमार की हण्डी ।
हांती कैसी सूंड, नबाब की झण्डी ॥

तेल बेचने वाले के घर का तेल और कुम्हार के घर बना मिट्टी का बर्तन है। हाथी के समान उसकी सुण्ड है। वह नवाब की झण्डी के समान है। बताइये यह क्या है ? इस पहेली का मतलब दीपक और उसकी लौ है।

बीस हांत कौ लुगवा, दो हांत की लुगाई ।
जग जाहिर भओ, कौन है ऐंसौ भाई ॥

सारे संसार में प्रसिद्ध बीस हाथ का मर्द और दो हाथ की औरत कौन हैं? इस पहेली का उत्तर बीस हाथ वाला रावण और दो हाथ वाली उसकी पत्नी मंदोदरी है ।

पांच नखन धरती चलै, पचमन अधर लखात ।
तीन लोक की संपदा, धरें कंदन पै जात ॥

पाँच नखवाला अर्थात् एक पाँव धरती पर तथा पचपन नख अर्थात् पाँच पाँव और छह हाथ अधर में दिखाई दे रहे हैं। तीन लोक की सम्पदा को कंधों पर धारण कर जा रहा है- वह कौन है? प्रस्तुत पहेली में पाताल लोक में अहिरावण को मार कर राम-लक्ष्मण को कंधों पर बैठाकर हनुमान जी रामादल में ला रहे हैं, अर्थात् हनुमान, राम और लक्ष्मण इस पहेली का उत्तर है।

ऊँट कैसी बैठक बैठो, चीता कैसी खाल ।
एक अचंभौ हमने देखो, तन में नइयां बाल ॥

ऊँट के समान बैठता है, चीता जैसी उसकी खाल है, उसके शरीर में बाल नहीं है। एक ऐसा आश्चर्य हमने देखा है। बताइये वह कौन है? इस पहेली का उत्तर मेढक है, क्योंकि वह

ऊँट के समान बैठता है, चीता जैसे रंग की उसकी खाल होती है तथा उसके शरीर में बाल नहीं होते ।

*दस जनन के बीच में, पकरी गई इक नार ।
अपनी काम समार कें, पाछूँ डारो-मार ॥*

दस के द्वारा एक स्त्री पकड़ी गई। अपना काम पूरा करके बाद में उसे मार दिया या पटक दिया। इस पहेली का उत्तर हाथ की दसों अँगूठा-अँगुलियाँ तथा रोटी है। रोटी को अंगारों से सँककर उसको बर्तन में पटक देते हैं ।

*गंगा सिर ऊपर बहत, गरें मुण्ड की माल ।
बरधा पै असबार है, गौरा कौ पति नाय ॥*

सिर के ऊपर गंगा बहती है, गले में मुण्डों की माला धारण किये हैं। बैल उसको ढोते हैं, वह पार्वती का पति शंकर नहीं है, तो और क्या है। इस पहेली का उत्तर रहट है। रहट कुआँ से पानी खींचता है, उसकी घरियाँ मुण्डमाल जैसी लगती हैं। रहट को बैल खींचते हैं ।

*हार से आई बन्दरों, धरै छिदाये कान ।
बीस पाँव सें निग चली, छै माँ बारह कान ॥*

जंगल से काट-बाँधकर लाई गई, घर में उसके कान छिदाये गये। बीस पाँव से चलती है, छह मुख और बारह कान उसके साथ चलते हैं। प्रस्तुत पहेली का उत्तर पारम्परिक खेती का एक उपकरण कोपर है, जिसे चार बैल खींचते हैं। दो किसान बैलों को पीछे से हाँकते हैं। सोलह बैलों के, चार किसानों के कुल बीस पैर, चार बैलों के और दो किसानों के कुल छह मुख तथा आठ बैलों के एवं चार किसानों के कुल बारह कान होते हैं ।

*नीर छीर की उठें हिलोरें, बोले हाँ-हूँ बानी ।
भरे कुआँ में बुड़की दैबै, और मुगावै पानी ॥*

पानी और दूध की हिलोरें उठ रही हैं। हाँ-हूँ जैसी आवाज सुनाई देती है। भरे कुआँ में डुबकी लगाने वाला पानी और माँग रहा है। प्रस्तुत पहेली का उत्तर नवनीत का लौंदा है, जो दही मथते समय मटकी में डूबता-उतरता है।

*टेड़ी-मेड़ी बाँसुरी, बजावे बारौ कौन ।
सीता चली मायके, लौंदाबे बारौ कौन ॥*

टेड़ी-मेड़ी बाँसुरी कोई नहीं बजा सकता। सीता मायके जाये तो उसे कोई लौंदा नहीं सकता। इस पहेली का उत्तर बाँसुरी और सीता से न होकर नदी से है, क्योंकि नदी की धारा को कोई रोक नहीं सकता।

*बाप-बेटा कौ एकई नांव, मताई कौ और ।
इसकौ अरथ बताइयौ, फिर टोरियौ कौर ॥*

पिता और पुत्र का नाम एक ही है, लेकिन माता का नाम दूसरा है। इस पहेली का अर्थ और सही उत्तर बताना, इसके बाद भोजन के लिये रोटी का निबाला तोड़ना। यह पहेली महुआ पर रची गई है। महुआ बाप और बेटा दोनों को कहा जाता है और उसके फल को गुली कहते हैं।

*आकास बाकौ घोंचुआ, पाताल बाकौ अड़ा ।
ईसकौ अर्थ बता पनिहारी, फिर उठाइये घड़ा ॥*

धरती के ऊपर पेड़ की डाल में घोसला सा लटका है। उसमें से धरती पर अंडा सा गिरता है। इस पहेली का अर्थ बताने के बाद, ही हे पानी भरने वाली पनिहारिन! तुम अपने घड़े उठाना। इस पहेली का उत्तर भी महुआ ही है। उसका लौंचा घोसला सा तथा फूल अण्डा जैसा होता है ।

*ओई के लाने मंगल घूमें, ओई की उतरै घानी ।
पंडित जू तुम करौ कलेबा, तुम बहू उठाओ पानी ॥*

उसके लिये मंगल चक्कर लगा रहा है। उसी की घानी उतरती है। पंडित जी तुम भोजन करो और बहू तुम पानी लेकर घर चलो। इस पहेली का उत्तर भी महुआ ही है। महुआ से बनी दारू के लिये पियक्कड़ घूमता है। कोल्हू में तेल निकालने के लिये उसी की घानी उतरती है। पहेली की पंचायत निपटने पर सास कहती है कि पंडित जी तुम भोजन करो और बहू तुम पानी के घड़े उठाकर अपने घर चलो।

*जल थम्मन उर तर घिसन, सभा सजावन कंत ।
बे मुझको दै दो जिजी, मो घर आये महंत ॥*

एक स्त्री दूसरी स्त्री के घर जाकर कहती है कि जल को थामने वाले, जमीन पर बिछाने वाले और सभा की शोभा बढ़ाने वाले तुम्हारे पास हैं, वे मुझको दे दीजिये। मेरे घर संत आये हुए हैं।

प्रस्तुत पहेली में एक गृहणी दूसरी से पहेली के माध्यम से सन्तों को बैठने के लिये बिछाने हेतु कम्बल माँगने के निमित्त ऐसी बात करती है ।

बरे बराये जां बरें, मरें उसासैं लैंय ।
उन घर बैठे वे सखी, पूँछ आऊ सो देंय ॥

घर आई दूसरे घर की गृहिणी से घर मालकिन अपने पति का तथा जिसके यहाँ पति गये हैं, उसका नाम न लेकर पहेली में कहती है कि जहाँ पर जले जलाये अर्थात् कोयला जलाते हैं, मरे सांस लेते हैं, उनके घर वे अर्थात् मेरे पति बैठे हैं । उनसे जाकर पूँछ आओ तभी कम्बल दूँगी । प्रस्तुत पहेली में उसके पति लोहार के घर गये हैं । उसकी धोकनी में जला कोयला जलता है और मरे हुये जानवर की खाल की धोंकनी सांस लेती है ।

पानू कैसौ मटका, पेड़े ऊपर लटका ।
हवा हो चय झटका, उसको न खटका ॥

पानी के घड़े जैसा पेड़ की डाल पर लटक रहा है । हवा और साधारण झटके में गिरने की चिन्ता उसको नहीं रहती है । इस पहेली का उत्तर टमाटर है, जो अपने पेड़ पर छोटे घड़े की तरह लटका रहता है और हवा के झटके में वह टूटकर गिरता नहीं है ।

चार खूंट को चौतरा, ऊपर बैठो जेठ ।
जेठ के सामू बहू निकरी, ऊकें रै गओ पेट ॥

चार खूंट का अर्थात् एक चौकोर चबूतरा के ऊपर जेठ बैठा है । जेठ के सामने बहू निकली तो उसको पेट रह गया अर्थात् बहू गर्भवती हो गई । इस पहेली में चूल्हा चौकोर चबूतरा है, चूल्हे पर चढ़ा तवा जेठ है और बहू फूली हुई रोटी है । पहेली का उत्तर रोटी है ।

राजन के राज में नहीं, माली के बाग में नहीं ।
फोरौ तो गुठली नहीं, खाओ तो स्वाद नहीं ॥

एक ऐसी वस्तु है जो किसी राजा के राज्य में और किसी माली के बाग में पैदा नहीं होती । फोड़ने पर उसमें गुठली नहीं निकलती तथा खाने पर उसका कोई स्वाद नहीं मिलता । प्रस्तुत पहेली ओले अर्थात् उपलवृष्टि वाले बर्फ के छोटे-छोटे गोल टुकड़े जिससे बुंदेली में ओरों कहते हैं, पर गढ़ी गई है ।

जबलौ रई में भोरी-भारी, तबलौ सैं लई मार ।
जबसे ओढ़ी लाल घंघरिया, अबना सैहों तोरी मार ॥

जब तक मैं भोली-भाली अर्थात् अपरिपक्व थी, तब तक तुम्हारी मार-पीट बर्दाश्त करती रही । अब मैंने लाल रंग की घंघरिया धारण कर ली है, अर्थात् परिपक्व हो गई हूँ । अब मैं तुम्हारी मारपीट सहन नहीं करूँगी । यह पहेली मिट्टी के घड़े पर गढ़ी गई है । घड़ा जब तक कच्ची और गीली मिट्टी का होता है, तब तक कुम्हार उसे ठोक-पीटकर अपने अनुकूल आकार देता है । आग में पकने के बाद वह लाल रंग का मजबूत और परिपक्व हो जाता है । फिर ठोकने पीटने पर वह फूट जायेगा ।

घर में बावन चोर घुसे हैं, सबरन कौ मौँ कारौ ।
पूँछ पकर के तनक रगड़ दो, करन लगत उजयारौ ॥

एक घर में बावन चोर घुसे हैं । सभी के मुँह काले हैं । उनकी पूँछ पकड़कर रगड़ने या घिसने से वे उजेला देने लगते हैं । यह पहेली माचिस और उसकी तीलियों पर गढ़ी गई है ।

एक रंग के हैं दो भइया, गैरो उनमें नाता ।
एक-एक से बिछुर जाय तौ, दूजौ काम न आता ॥

दो भाई एक रंग के हैं । दोनों में बहुत ही गहरा सम्बन्ध है । एक दूसरे से बिछुड़ जाने पर कोई भी किसी काम का नहीं रहता । यह पहेली जूतों की जोड़ी पर गढ़ी गई है ।

बिरछा ठांडो खेत में, नर-पंछी सब खांय ।
बाप घुसे खुद पेट में, पूत बरातै जांय ॥

एक वृक्ष ऐसा है जो स्वयं खेत में खड़ा है । उसके फल मनुष्य और पक्षी सभी चाव से खाते हैं । पिता गर्भ में है और उसके पुत्र बारात में जाते हैं । प्रस्तुत पहेली खजूर के ऊपर विरचित है । उसके फल सब खाते हैं । खजूर के गर्भ का पिण्डा उसके अंदर रहता है तथा उसके खबनों से मौर अर्थात् दूल्हे का सेहरा बनकर वरयात्रा में जाता है ।

तनक सी न मनक सी, हरदी कैसी बाम ।
चटाक चूमा लै गई, तौ हाय मोरे राम ॥

हल्दी जैसे पीले रंग वाली कोई बड़ी न होकर बहुत छोटी अर्थात् हल्दी की गांठ जैसी है । अगर किसी को तनक चूम लेती है

तो वह हाथ राम कहकर चीखने लगता है। इस पहेली का उत्तर बर या बरैया है।

*लाल मूड़ मुरगा नहीं, लम्ब पूंछ नहीं मोर।
नीलकंठ शंकर नहीं, चार पांव नहीं ढोर।।*

लाल सिर है- लेकिन मुर्गा नहीं है। लम्बी पूंछ है- लेकिन मोर नहीं है। नीलकंठ है- लेकिन शंकर जी नहीं है- चार पैर है लेकिन जानवर नहीं है। इस पहेली का उत्तर गिरदौना अर्थात् गिरगिट है।

*सैंगे में हम मरद, फटे से नार कहायें ।
कर गंगा असनान, जटा सब दूर बहायें ।।
कर पथरा से मेल, अगन के ताव सहाये ।
करो दही से मेल, मरद के मरद कहाये ।।*

सैंगी और साबुत अवस्था में मरद थे। फाड़ देने पर नारी कहाने लगे। पानी में नहाकर जटा धोकर पानी में बहा दिये। इसके बाद पत्थर पर पीसकर अग्नि में हमें पकाया गया। इसके बाद दही-मही में डुबोने के बाद हम मरद के मरद कहलाने लगे। इस पहेली का उत्तर उड़द और उसकी दाल से बनने वाले बरा या बड़ा है। उड़द पुरुष वाची है। दलने से दार या दाल स्त्री वाची हो जाती है। पानी में फुलाकर धोते समय उसके छिलके जल में बहा दिये जाते हैं। दाल पत्थर पर पीस कर उसकी फिटी से बरा बनाकर कड़ाही में तेल डालकर उन्हें तलकर पकाया जाता है। इसके बाद दही मक्खन में या मट्ठा में उन्हे फूलने को डाल देते हैं। बड़ा फूलकर मरद पुरुषवाची होकर मरद के मरद कहाने लगते हैं।

*करिया है पर कौआ नहीं, हाल है पर हौआ नहीं ।
करै नाक से अपने काम, बताओ तुम ऊकौ नाम ।।*

काले रंग का है, लेकिन कौआ नहीं है। हाल फूला अर्थात् मोटे शरीर वाला है, लेकिन हौआ या भूत नहीं है। अपने सारे काम वह नाक से करता है। उसका नाम बताइये। इस पहेली का उत्तर हाथी है, जो सुण्ड अर्थात् नाक से अपने सभी काम करता है।

*आठ कटाकट नौ पंचारी, सोरा बेंट अठारा नारी ।
आओ पांडे करे विचार, सोरा घरकौ एकई द्वार ।।*

उसके आठ उपकरण लकड़ी काटकर बनाये जाते हैं। नौ

पटिया सोलह बेंट और अठारा अरा बनाये जाते हैं। पांडे जी विचार कर बतायें कि सोलह घर का एक ही द्वार वाला यह क्या है? यह पहेली लकड़ी के पुर्जों से निर्मित बुंदेली किसान का पारम्परिक सिंचाई का उपकरण रहट है।

*काकी कें दो कान, कका कें कानई नइयां ।
काकी चतुर सुजान, कका कछू जानत नइयां ।।*

चाची के दो कान है, लेकिन चाचा के वे भी नहीं हैं। चाची चतुर और बहुत कुछ जानने वाली हैं, लेकिन चाचा कुछ भी नहीं जानते। यह पहेली कड़ाही तथा झारौ अर्थात् झारा पर रची गई है।

*एक चिरैया रंग बिरंगी, बैठी वर की डार ।
काश्मीर कौ लांगा पहरे, मोती की झलकार ।।*

एक चिड़िया रंग-बिरंगी है। वह बरगद जैसे पेड़ की डाल पर स्थित है। कश्मीरी रंग का लहंगा धारण किये है। उस पर मोती जैसे दाने झलक रहे हैं। उक्त पहेली पलाश के पेड़ तथा उसके फूल पर रची गई है।

*एक अचंभौ हमने देखो, लगी कुआँ में आग ।
पानी ऊकौ सबरौ बर गओ, मछली खेलत फाग ।।*

हमने एक आश्चर्य देखा है। कुआँ में आग लगी है। उस आग से कुँआ का पानी धीरे-धीरे जल रहा है। मछली फाग खेल रही है। यह पहेली लोकमानस ने लालटेन के ऊपर रची है।

*एक तिरिया छैल छबीली, छैलन ऊपर चड़ती है ।
अपने ऊपर छैल चड़ावै, फिर छैलन पर चड़ती है ।।*

छैल-छबीली एक स्त्री है जो मर्दों के ऊपर सवार होती है। अपने ऊपर छैल चड़ा लेती है और फिर मर्दों के ऊपर सवार हो जाती है। इस पहेली का उत्तर पालकी है, जिस पर दूल्हा सवार होता है। पालकी कहारों अर्थात् मर्दों के ऊपर सवार होती है।

*पैलां आई बैनें-बैने, पांछे आये भइया ।
कथरी ओढ़ें दादुर आये, टीका दैकें मइया ।।*

पहले बहिनें आती हैं, फिर उनका भाई आता है। फिर कथरी ओढ़कर मेंढक आता है। इसके बाद तिलक लगाकर माता आती है। इस पहेली का उत्तर लोकमानस में महुआ है। इसमें

बहिनें महुआ की कौचियाँ और करीं हैं- भाई उसका फूल महुआ है। मेंढक गुलेंदा है और माता उसकी गुली है।

कऊं से आई तीतरी, कऊं से आओ सुआ ।
कऊं से आये दो जनों, सबकौ एक रंग हुआ ॥

कहीं से तीतर रंग वाला आया, कहीं से तोता के रंग वाला आया, कहीं से दो रंग वाले आये, लेकिन इकट्ठे करने पर सबका एक रंग हो गया। बताओ यह पहेली क्या है? इस पहेली का उत्तर पान का बीरा है। जिसमें तीतर रंग का कल्था, सुआ रंग का पत्ता, बगला रंग का चूना और कबूतर के रंग की सुपाड़ी डाली जाती है।

कुमार की माटी, पतरौना की तिली ।
कोरी के कपास में, किस तरासे मिली ॥

कुम्हार के घर की मिट्टी, पतरौनी जमीन में पैदा हुई तिलहन, कोरी के कपास में किस तरह से मिल गई? इस पहेली का उत्तर दीपक, तेल और बाती है, क्योंकि कुम्हार दीपक बनाता है, तिलहन से तेल बनता है और कपास से बाती बनती है।

मैं लाल-लाल गुटकों, मैं हांत डारूँ तुझको ।
तू काट खाय मुझको, मैं लप्प उड़ाऊँ तुझको ॥

मैं लाल-लाल खाता हूँ, इसीलिए तुझ पर हाथ डालता हूँ। तुम मुझे काटोगे तो मैं तुझे लप्प से जल्दी खा जाऊँगा। इस पहेली का उत्तर बेरी का फल अर्थात् बेर है। वह बेर की जिस डाल में लगा होता है, उसमें कांटे होते हैं। इसलिए तोड़ते समय कांटों के चुभने का डर रहता है।

एक नकरिया अँगरा चार, लैकें गये बढहई के द्वार ।
बढहई ददा करत विचार, नाप नूप कें करो विचार ।
खाट-पिंडी और मांची, तऊँ नकरिया बाची ॥

चार अंगुल की एक लकड़ी लेकर कोई बढई के घर कुछ लकड़ी की वस्तुएँ बनवाने पहुँचा। बढई दादा ने नापा-नापी करके विचार किया तथा खटिया, पीढ़ी और मचिया बनाकर तैयार की। इसके बाद भी लकड़ी बची रही। इस पहेली का उत्तर लकड़ी के पटियों पर लकीर या रेखायें खींचने वाली शीश अर्थात् पेंसिल है।

देखी एक अनोखी नार, जी के कैऊ हजारन यार ।
पल में सबसे करबै प्यार, सबसे पल में हौबे न्यार ॥

हमने एक विचित्र स्त्री देखी है, जिसके हजारों यार हैं। वह स्त्री क्षण भर में सभी यारों से प्यार करती है तथा क्षण भर में सबसे अलग हो जाती है। इस पहेली का उत्तर कंघी और बाल है। कंघी स्त्री वाची है तथा बाल यार अर्थात् पुरुष वाची संज्ञा हैं।

नभ से गिरो न भुई उठो, जननी जनो न ताय ।
देख उजेरौ जो भगौ, पकर कें ल्याव वाय ॥

जो न आकाश से गिरा हो, न जिसे माता ने जन्म दिया हो, उजाले को देख जो भागता हो, उसे पकड़कर ले आइये। इस पहेली का उत्तर अंधेरा है। जो न ऊपर से गिरता है, न कोई माँ जन्म देती है, प्रकाश देखकर वह भाग जाता है।

बे हांत कौ बे पाँव कौ, पहार चड़ो जाय ।
देखो बनखंडी बाबा, कौन जनावर आय ॥

बिना हाथ पैर का है और पहाड़ों पर चढ़ जाता है। वनखंड में भी दिखाई देता है, लेकिन वह कौन-सा जानवर है, बताइये। इस पहेली का उत्तर धुआँ और बादल है।

बरसा बरसे रात भर, भीजे सब बनराय ।
गगर न डूबै न गड़ई, पंछी प्यासौ जाय ॥

रात भर बरसात बरसती है, सब वनराई भीग जाती है- लेकिन उस बरसात के पानी में न गगरी डूबती है और न लोटा डूबता है। पक्षियों तक की प्यास उससे नहीं बुझती। प्रस्तुत पहेली का उत्तर रात में गिरने वाली ओस है।

संजा कें पैदा भई, आधी रात जवान ।
होत भँसरा मर गई, घर हो गओ मसान ॥

सन्ध्या के समय पैदा होकर अर्धनिशा में जवान हो जाती है। सुबह होते ही मर जाती है और उसका घर श्मशान हो जाता है। यह पहेली भी ओस पर रची गई है।

एक सहर ऊचौ बनो, एक-एक घर में एक-एक जनों ।
चिना न परै पुरुस कै नारी, पैहरें सबई बसंती सारी ॥

एक शहर ऊँचाई पर बसा है। एक-एक घर में एक-एक

प्राणी है। कौन पुरुष है और कौन स्त्री पहचान से परे हैं। सभी बसंती रंग की साड़ी धारण किये हैं। प्रस्तुत पहेली का उत्तर बर् तथा उनका छतिया है।

कारे वन में रहता है बौ, कारे तिल सौ कारौ।
कानपुर में पकरो गओ कयें, हत्तनपुर में मारौ ॥

वह काले जंगल में रहता है, काली तिलहन जैसा काला है। कानपुर के आस-पास पकड़ा जाता है। हस्तनापुर में मार दिया जाता है। प्रस्तुत पहेली का उत्तर 'जू' अर्थात् जुआँ है जो सिर के बालों में रहती है। कान के आस-पास पकड़ा जाता है और हाथ की हथेली पर रखकर उसे मार देते हैं।

कर बोलै कर ही सुनें, कान सुनें न ताह ।
कहैं बुझौवल वीरवल, बूझौ अकबर साह ॥

हाथ बोलता है और हाथ ही सुनता है, उसे कान नहीं सुन सकता। बीरबल जैसे लोग ऐसे बुझौवल पूछते हैं और अकबर जैसे बादशाह उसका उत्तर देते हैं। इस पहेली का उत्तर मनुष्य की नाड़ी है, जिसे टटोल कर उसकी बीमारी की तासीर का अन्दाज लगाते हैं।

कुकरा जैसी कलगी, बुकरा जैसे कान ।
मोरी किसान बताव तुम, नहीं तो लगे मसान ॥

मुर्गा की तरह उसकी कलगी तथा बकरा जैसे कान वाला क्या है? हमारी पहेली बताओ। न बताने वाले को मशान लग जायेगा। इस पहेली का उत्तर पलाश का फूल तथा पत्ता है। क्योंकि पलाश का पुष्प मुर्गा की कलगी तथा फल बकरा के कान की आकृति के होते हैं।

सोने की वह है नहीं, सोने की है नार ।
खाती पीती कुछ नहीं, बूझौ बूझन हार ॥

उस स्त्री वाची संज्ञा का नाम बताइये जो स्वर्णधातु से निर्मित नहीं है। सोने के काम आती है। कुछ खाती-पीती भी नहीं है। इस पहेली का उत्तर खटिया है, जिस पर लोग सोते हैं और सोने से नहीं बनी है।

फूंसा फांसी कबसें, आदौ चलो गओ जब सें ।
राजीबाजी कबसें, पूरौ चलो गओ जब सें ॥

यह पहेली वास्तव में अन्यार्थक नहीं है। बल्कि चूड़ियों पहनने वाली और पहनाने वाली तथा चूड़ियों पर केन्द्रित है। जब तक चूड़ियों में पहनने वाली का आधा हाथ जाता है तब तक दर्द के कारण वह आह-ऊह करती है और जब चूड़ियाँ कुँहचा के अंदर पहुँच जाती हैं, तब वह प्रसन्न हो जाती है। पहेली पूर्णतः चूड़ियों और पहनने वाली के हाथ पर केन्द्रित है।

चार खूंट कौ नगर बसो है, चार कुआँ बिन पानी ।
चारे अठारा ऊके अंदर, संग में लयें एक रानी ॥

एक चौकोर नगर में बिना पानी के चार कुआँ है। नगर के अंदर अठारह चोर एक रानी सहित घुसे हुये हैं। यह पहेली कैरम बोर्ड पर रची गई है।

चार खूंट कौ चपटुआ, आदे हाँत कौ डंडा ।
ऊ डंडा को तनक घुमा दो, होय करेजौ टंडा ॥

एक वस्तु चौकोर और चपटे आकार की है। उसमें आधे हाथ की डंडी लगी हुई है। डंडी को पकड़कर थोड़ी देर घुमाने पर कलेजा टंडा हो जाता है। पहेली का उत्तर हाथ से हवा करने वाला बिजना अथवा पंखा है।

बाप बड़े बेटा बड़े, नाती बड़े अमोल ।
उनके पंती हो गये, दो कौड़ी के मोल ॥

बाप, बेटा और नाती का समाज में अनमोल अर्थात् साखदार और कीमती बड़प्पन है, लेकिन उनके पनाती अर्थात् नाती के पुत्र ऐसे हुये जिनकी दो कौड़ी की इज्जत नहीं है। इस पहेली के उत्तर में दूध को बाप, दही को बेटा, मक्खन को नाती और मट्ठा को पंती कहा गया है।

एक अचंभौ हमने देखो, मुरदा रोटी खाय ।
टेरे सेँ ऊतर न दैबै, मारे से चिल्लाय ॥

हमने एक आश्चर्य देखा है। मुरदा रोटी खा रहा है। टेरे पर वह कोई उत्तर नहीं देता। लेकिन मारने-पीटने पर वह चिल्लाता है। इस पहेली का उत्तर मृदंग नामक एक वाद्य है, जो ढोलक के आकार का बना होता है।

पहार हैं पर पथरा नइयां, नदी है पर पानी नइयां ।
सहर है पर आदमी नइयां, जंगल है पर पेड़ नइयां ॥

पहाड़ है- लेकिन उसमें पत्थर नहीं है, नदी है लेकिन उसमें पानी नहीं है, शहर है लेकिन उसमें मनुष्य नहीं है और जंगल है लेकिन उसमें पेड़-पौधे नहीं हैं। इस पहेली का उत्तर नक्शा है।

कागद को घुरवा, डोरा की लगाम ।
ढिल्या दो डोरा, उड़ जाय कर सलाम ॥

कागज का एक घोड़ा है। उसे धागे की लगाम लगी है। लगाम को ढीला करने पर घोड़ा सलाम कर उड़ जाता है। इस पहेली का उत्तर कागज की पतंग है।

अन्न जानवर बन्न जानवर, कारौं चारौं खाय ।
पथरा पै पौंद घिसत, झोली में घुस जाय ॥

अजब-गजब का एक निर्जीव जानवर है, जो काली घास खाता है। पत्थर पर अपने नितम्ब घिसता और थैली में घुस जाता है। प्रस्तुत पहेली बाल बनाने वाले नाई के उस्तरा अर्थात् छुरा पर गढ़ी गई है।

पंछी एक देखो अलबेलौं, बिन पंखन उड़ जात अकेलौं ।
बांधें गरे में लम्बी डोर, नाप रहो अम्बर कौं छोर ॥

हमने एक विचित्र पक्षी देखा जो बिना पंख के अकेला ही उड़ जाता है। गले में लम्बी रस्सी बाँधकर आकाश की सीमा नाप रहा है। इस पहेली का उत्तर कागज की पतंग है।

दो पग चलै चार लटकायें, तीन मूड़ दो नैन ।
कौन भओ संसार में, कह दो सांसे बैन ॥

दो पैर से चलता है। चार पैर लटकाये है। तीन सिर हैं, लेकिन आँखें केवल दो हैं। ऐसा इस संसार में कौन हुआ, सही-सही बताना। इस पहेली का उत्तर श्रवण कुमार तथा उनके अंधे माता-पिता हैं।

पैलौं डारो कारौं-कारौं, फिर डारो सटकारौं ।
तनक अँगरिया छुवा दर्ई, हो गओ वारौं न्यारौं ॥

पहले उसमें कुछ काला-काला फिर लम्बा सटकने वाला डाला गया। इसके बाद उसके मुहाने पर छोटा आग का अँगरा रख दिया तो उसने वारा-न्यारा कर दिया। प्रस्तुत पहेली तोप और बन्दूक पर रची गई है।

तनक सौं सोनो, सब घर नौनो ।
भग गओ सोनो, मिट गओ नौनो ॥

थोड़ी सुनहले पन से पूरा घर अच्छा लगता है, उसके चले जाने से सुन्दरता मिट जाती है। इस पहेली का उत्तर दीपक, मोमबत्ती, लालटेन कुछ भी हो सकता है। इनके प्रकाश से घर अच्छा लगता है।

गेर-गेर बारी लगी, बीच में कुआँ ।
सेत रंग ओरौं सौं, मूत गओ सुआ ॥

एक जगह चारों ओर से बाड़ लगी है और बीच में कुआँ है। सफेद रंग का ओले जैसा कोई तोता पेशाब कर गया हो। इस पहेली का उत्तर महुआ का फूल है, जो ओले की तरह जमीन पर टपकता है।

चार बैलवा चार ठठेरे ।
एक-एक के मौं में दो-दो घुसेरे ॥

चार पुर्जे बैल की तरह खड़े हैं और चार ठठरी की आकृति में चौकोर आड़े हैं। एक खड़े के अंदर दो-दो घुसेड़े गये हैं। यह पहेली खटिया पर रची गई है।

तनक सी सुज्जो गज भर पूँछ ।
नहीं बने तो बऊ से पूँछ ॥

कोई सुज्जो नामक उपकरण बहुत छोटा है, लेकिन उसकी पूँछ एक गज से कम लम्बी नहीं है। यह क्या है ? अगर तुमसे न बने तो अपनी दादी से पूछिये। इस पहेली का उत्तर सुई-धागा है।

पांच जनी पहुँचावें जायं ।
घाटी उतर अकेली जायं ॥

किसी के भेजने के लिये पाँच लोग घाटी तक पहुँचाने जाती हैं। घाटी पार करने के बाद जाने वाले को अकेला जाना पड़ता है। इस पहेली का उत्तर पाँच लोग अर्थात् दाहिने हाथ की उँगलियाँ तथा जाने वाला निवाला है।

आँखन देखी मौंसें खाई ।
चींखी हो तो राम दुहाई ॥

आँखों से देखी है और मुँह से खाई है, लेकिन चखी नहीं

है। राम की कसम खा सकते हैं। इस पहेली का उत्तर पहेली में ही है खाई, जिसका अर्थ खाने से नहीं खदान से लगाया जाता है। खाई पाँव से लेकर मुँह तक गहरी है।

फर्रै न फूलें नगै ना डार ।
ऊ खाँ खाबै सब संसार ॥

न फलता है न फूलता है और न किसी पेड़ की डाल में लगता है। उसको संसार में सब कोई खाता है। इस पहेली का उत्तर नमक है।

धरो-धरो धुंधकत अदबरो ।
ओई के नैचे समुंदर भरो ॥

एक जगह रखा-रखा आग में अधजला धधक रहा है और उसी के नीचे समुद्र की तरह पानी भरा हुआ है। इस पहेली का उत्तर हुक्का है।

सरके लल्ला उलटे लल्ला ।
साल भरे में लौटत लल्ला ॥

आधे सीधे और आधे उलटे ललना एक साल में लोटते और पलटते हैं। पहेली का उत्तर कच्चे घरों पर छाये जाने वाले खपरा या कबेलू हैं, जिनको बरसात के समय पलटा जाता है।

गली-गली दो सौतें जायें ।
घैरा घूसा करती जायें ॥

दो सौतें गली में एक साथ चलती हैं और ऐसी लगती जैसे एक दूसरे से कुछ नौक-झोंक करती जा रही हैं। इस पहेली का उत्तर चमड़े की देशी जूतियाँ अर्थात् पनहियाँ हैं।

एक लड़का बम्मन कौ ।
तिलक लगायें चंदन कौ ॥

एक लड़का ब्राम्हण का है जो माथे पर चंदन का टीका लगाये है। इस पहेली का उत्तर उड़द का दाना है।

बली को लरका महाबली ।
खपरा फोरै करत गली ॥

बलवान का लड़का महाबलवान है, जो बिना ताकत लगाये

घर के खपरों में ही गली कर निकल जाता है। इस पहेली का उत्तर धुआँ है।

तनक सी टुकिया टुक-टुक करै ।
लाख टका कौ काम करै ॥

छोटी सी एक स्त्रीवाची टुकिया टुक-टुक करते हुये लाखों टकों का काम करती है। पहेली का उत्तर सुई है।

चार खूंट कौ जरयानों ।
ऊमें परो कोऊ गुड़यानो ॥

चारखूंट का अर्थात् चौकोर कोई जालीदार उपकरण जिसमें कोई लेटा हुआ है। पहेली का उत्तर खटिया है।

कारी कुतिया झब्बे कान ।
चलरी कुत्तो लुच्चू खान ॥

एक काली कुतिया के बड़े-बड़े झब्बा से कान है। चलो कुत्तों लुचई या पूड़ी खाने के लिये चलिये। इस पहेली का उत्तर कड़ाही है।

कटोरा के भीतर कटोरा ।
बेटा बाप से गोरा ॥

बड़े कटोरा के अंदर छोटा कटोरा है, बेटा बाप से भी ज्यादा गोरा है। पहेली का उत्तर नारियल है।

नायें तक्का मांये तक्का ।
बीच में लेटे लम्बे कक्का ॥

इधर ताक या तक्का है उधर ताक या आला है और बीचों-बीच लम्बे काका लेटे हुये हैं। पहेली का उत्तर लकड़ी का बेंड़ा या आड़िया है, जो किवाड़ न खुलने के लिये लगाया जाता है।

अन्न खांय न पानी पियें ।
ठांडे हिन्ना चें-चें करें ॥

न अन्न खातें हैं और न पानी पीते हैं। दरवाजे में खड़े-खड़े चें-चें करते रहते हैं। पहेली का उत्तर किवाड़ या फाटक है।

एक अचंभौ सुनो सुजान ।
तरें मेंडी ऊपर खरयान ॥

एक आश्चर्य सुनिये तथा अच्छी तरह से जानिये। खलियान ऊपर है और मेड़ी का लकड़ा उसके नीचे है। अर्थात् नीचे वाला ऊपर और ऊपर वाला नीचे है। इस पहेली का उत्तर सिंघाड़े का छत्ता है।

एक डबला कुदई भरो ।
बऊ से पूछौ कहाँ धरो ॥

एक गोल बर्तन में कोंदों जैसे चावल भरे हैं। दादी से पूछिये वह कहाँ रखा है। पहेली का उत्तर भटा है।

कारे पहार पै गलगल व्यानी ।
ऊकी तेली बड़ी मिठानी ॥

काले पहाड़ पर गलगल अर्थात् एक पक्षी ने जनन कार्य किया है। उसका तैलीय दूध बहुत ही मीठा या स्वादिष्ट है। पहेली का उत्तर शहद तथा उसका छतिया है।

फँदी कँदा पै खालें डाटे ।
ओई को पहरे ओई को काटे ॥

कंधा पर लटकी हुई नीचे की ओर देखती है। उसी का पहनावा धारण करती है और उसी को काटती है। इस पहेली का उत्तर कुल्हाड़ी है।

भुरी बिलैया हरीरी पूँछ ।
ना जानों तो बऊ से पूँछ ॥

सफेद रंग की बिल्ली की हरे रंग की पूँछ है। नहीं जानते तो अपनी दादी से पूछिये। इस पहेली का उत्तर मूली है।

सुरका के खालें भरका ।
ऊमें बिड़े बत्तीस लरका ॥

नाक के नीचे एक गड्ढा है, उसके अंदर बत्तीस लड़के घुसे हुये हैं। इस पहेली का उत्तर आदमी का मुख तथा उसके बत्तीस दाँत हैं।

देत होय तौ न लाइयौ ।
न देत होय तौ लेत आइयौ ॥

दे रहे हों तो नहीं लाना और न दे रहे हों तो लेते आना। इस

पहेली का उत्तर खेत के डीला फोरने के लिये लगाने वाला कोपर या पाटा है।

तनक सौ लरका लयें घुटान ।
तनक छुबादे हले जुआन ॥

छोटा सा लड़का घुटनियाँ लिये है। किसी को अपनी घुटनियाँ थोड़ी-सी छुबा दे तो अच्छा जवान भी हिल जाता है। इस पहेली का उत्तर बिच्छू है।

दिन भर सपरै दिन भर खाय ।
लबरौ नइयां सांसौ आय ॥

पूरे दिन नहाता है और पूरे दिन खाता भी है। यह तथ्य झूठा नहीं, बिल्कुल सच्चा और सही है। इस पहेली का उत्तर ईंट बनाने वाला या ढालने वाला साँचा है।

तनक सौ लरका थूलमथूल ।
करया धोती माँथे फूल ॥

एक छोटा-सा लड़का मोटा ताजा है। कमर में धोती तथा माथे पर फूल धारण किये है। इस पहेली का उत्तर मुर्गा है।

रूख विरूख तुम टेड़े काये ।
चौद उठा कें रोये काये ॥

हे वृक्ष! तुम रूखे-सूखे क्यों हो? ऊपर को अपना मुँह उठाकर तुम किस कारण रोते हो। प्रस्तुत पहेली का उत्तर रमतूला नामक एक पुराना बुंदेली बाजा है, जो शुभ शकुन के अवसर पर बजाया जाता था।

बैइये ककरा उपजत झार ।
फरत नीम फूलत कचनार ॥

कंकड़ बोये जाते हैं तो झाड़ अर्थात् पेड़ उग आता है। उसमें निम्बोली फलती है तथा कचनार जैसे फूल फूलते हैं। इस पहेली का उत्तर चना तथा उसका पेड़ है।

हुबनारी कें होय, नाऊ को पेट पिराबै ।
दिखनारी कौ लरका भओ, कुंवारी दूध पिबाबै ॥

गर्भवती बच्चे को जन्म दे रही है। नाई के पेट में दर्द हो रहा

है। देखने वाली का लड़का हुआ। कुँआरी अर्थात् अविवाहिता ने दूध पिलाया। इस पहेली का उत्तर पूतना नाम की राक्षसी है, क्योंकि देवकी ने बच्चे को जन्म दिया, कंस को कष्ट हुआ और यशोदा का लड़का कहलाया, उसे मारने के लिये पूतना ने दूध पिलाया।

*सकरी कुंइया सीक न जाय ।
हिन्ना पानी पी-पी जाय ॥*

संकीर्ण कुंइया में सीक तक नहीं जाती, लेकिन हिरन उसका पानी हर बार पी जाता है। इस पहेली का उत्तर सकरी कुंइया गाय का थन तथा हिरन उसका बछड़ा है।

*एक भुजा धारन करें, बैठी आसन डार ।
सारौ जग बस में करें, तन में नइयां बार ॥*

वह केवल एक हाथ की है। एक जगह आसन डाल कर बैठी है। सारे संसार को बस में किये है। उसके शरीर में बाल नहीं है। इस पहेली का उत्तर हाथ से चलाने वाली आटा चक्की है।

*कारी गाय करंगा बच्छा ।
उचकी गाय बिचक गओ बच्छा ॥*

एक गाय जो काले रंग की है और काले रंग का ही उसका बच्चा है। जब गाय उचकती है तो उसका बच्चा बिदक कर दूर चला जाता है। इस पहेली में काली गाय बन्दूक को तथा काला बच्छा उसकी गोली को कहा गया है।

*दिन में सोबै रात में रोबै ।
जितनौ रोबै उतनौ खोबै ॥*

दिन में सोती है और रात में रोती है। जितना रोती है उतना खोती है। इस पहेली का उत्तर मोमबत्ती है। जितनी जलती है उतनी पिघलती और नष्ट होती है।

बुंदेली लोक साहित्य की परिचयात्मक उपर्युक्त पहेलियों की विषयवस्तु से यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि पहेलियों की सृजनशीलता ने अभी विश्राम नहीं किया है। आज भी इनको कहने, सुनने और रचने के प्रति ग्रामीण लोकमानस अभिरुचि पैदा कर रहा है। लेकिन जो रुझान आज से कुछ दशक पूर्व था, वह अब नहीं रह गया है। बुंदेली पहेलियों को संकलित कर उन्हें संरक्षित करने की अब विशेष जरूरत है, ऐसा न करने पर हम अपनी वाचिक परम्परा की इस प्रकीर्ण धरोहर से एक न एक दिन जरूर वंचित हो जायेंगे।

बुन्देली लोकविधा सैर

डॉ. बहादुर सिंह परमार

समय परिवर्तनशील होता है और उसके परिवर्तन से संसार में कई चीजें नई आती हैं और कई खो जाती हैं। समय का दबाव पड़ने से मानव जीवन की क्रियाएँ भी प्रभावित होती हैं। बोलने में प्रयुक्त होने वाली भाषा के शब्द बदलते हैं, खान-पान के तरीके बदलते हैं, पहने जाने वाले कपड़ों का स्वरूप बदलता है या यों कहें कि संस्कृति भी बदलती रहती है। इसी परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि लोक मनोरंजन के साधनों में भी समय के साथ बदलाव होता है। बुन्देलखण्ड अंचल में लोकरंजन की विविध विधाएँ प्रचलित रही हैं, जिनमें गायन-वादन व नृत्य सम्बन्धी विधाएँ सम्मिलित हैं। कुछ विधाएँ ऐसी हैं जो आज चलन में हैं, कुछ समय के फेर में विलुप्त हो चुकी हैं और कुछ विलुप्तता की कगार पर हैं। जो विलुप्तता की कगार पर हैं, उनमें एक विधा सैर गायन की है। अपने चरमोत्कर्ष काल में बुन्देलखण्ड के झाँसी, मऊरानीपुर तथा छतरपुर क्षेत्र में सैरों ने धूम मचा रखी थी।

सैर के इतिहास पर गौर करें तो हम पाते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दौर सन् 1880 के लगभग इसका जन्म हुआ। छतरपुर में इसके जन्मदाता पं. रामलाल पाण्डे को माना जाता है। वैसे इसके इतिहास को रामचरण हयारण 'मित्र' ने अपनी पुस्तक 'बुन्देलखण्ड की संस्कृति और साहित्य' में बहुत प्राचीन माना है। वे इसे ईसा की चौथी सदी में ले जाते हुये कहते हैं कि 'सौरिया जाति से उद्भूत ये लोकगीत कालान्तर में गाँवों और नगरों में प्रसारित हुए और इन्होंने राज दरबारों को भी प्रभावित किया। मुगलकालीन दरबारी कवियों ने लावनी तथा ख्याल का गायन इनकी प्रतिस्पर्धा स्वरूप ही किया।' सैर बुन्देलखण्ड की लोकप्रिय लोकरागिनी की विधा है। इसके छन्द में बाइस मात्राएँ होती हैं, जिनमें बारह और दस के बाद विराम होता है। इसमें चार चरण होते हैं। सैर छन्द काव्य प्रभाकर के

राधिका व कुंडल छन्दों से साम्य रखता है। इसमें प्रवाह प्रमुखता से होता है। सैर छन्द में चार चौक तथा बीच में एक लवनी, हरिगीतिका या झूलना रखा जाता है, जो रचनाकार की इच्छा पर निर्भर करता है। यह एक ठेठ ऐसी गायिकी का स्वरूप है। बुन्देलखण्ड अंचल में इसका प्रचलन बहुत अधिक रहा है। पहले यहाँ चार चरणों वाली सैरों का प्रचलन था। झाँसी के श्री भग्गी दाऊ ने चार चरण वाली सैरें ही लिखी हैं। ये स्याम या द्विज श्याम के उपनाम से इन्हें लिखा करते थे। झाँसी से सैर के माध्यम से फड़ साहित्य की नींव डालने का श्रेय इन्हीं को दिया जाता है। महोबा जिले के श्रीनगर निवासी भैरों लाल ने सैरों की रचना कर उन्हें लोकप्रिय बनाया है। इनके द्वारा रचित सैरें अति श्रृंगारिक हैं। इनके अतिरिक्त इटावा के बाबूलाल व जबलपुर के जगन्नाथ मिश्र ने सैर रचनाएँ की हैं। छतरपुर में सैर विधा को उत्कर्ष तक पहुँचाने का श्रेय पंडित गंगाधर व्यास को जाता है। इन्होंने यहाँ इसके फड़ों के माध्यम से सैर को बहुत लोकप्रिय बनाया है।

फड़ साहित्य की परम्परा में सैर गायन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'फड़' का मतलब शास्त्रार्थ से है। इसमें दो दल बनाकर उनमें परस्पर होड़ होती थी। इस साहित्यिक अखाड़ेबाजी में 'कलगी' तथा 'तुरा' दो अखाड़े होते थे। इनके बीच सैर की प्रतियोगिता होती थी। विजय का विश्वास लेकर आक्रामक तेवर लिये दोनों दलों के गायक बांकुरे साहित्यिक रणांगन में उतरते थे। प्रत्येक दल में लगभग 12 से 16 सदस्य होते थे। जिनमें कविता लिखने वाले आशुकवियों की संख्या लगभग आधी होती थी। सैर गायन करने वाले दो घेरा लेकर बैठते थे यानी 7-8 लोग होते थे, जो गायन के साथ घेरा बजाते थे। घेरा व चंग में अन्तर होता है। चंग हमेशा नहीं बजाई जाती थी। चंग ख्याल गाते समय ही बजाई जाती थी, जिसमें सैर दुगुनी हो जाती थी। चंग में घुँघरियाँ तथा पलियाँ लगी रहती थी। वादक उँगलियों में एक छल्ला पहनता था, जिससे चंग बजाते समय बीच में टकोरी लगाई जाती थी। ख्याल गायन में चंग में लगे छल्ला से टकोरी लगाई जाती थी, किन्तु सैर का गायन करते समय मात्र घेरा ही बजाया जाता था। छतरपुर में जीवित बचे सैर गायक श्री भगवानदास कुशवाहा सभापति ने बताया कि घेरा में न तो चंग की तरह घुँघरियाँ व पलियाँ रहती हैं और न वादक उसे बजाते समय छल्ला अंगुलियों में पहनता है। सैर गायन का जब फड़ लगता था, तो दोनों ओर से पौराणिक गाथाओं-कथाओं से,

ऐतिहासिक घटनाओं-प्रसंगों से, साहित्य-शास्त्र और लक्षण-शास्त्र से, नायक-नायिका भेद से, संयोग-वियोग श्रृंगार के तरकस से, यक्ष प्रश्नों-प्रतिप्रश्नों से प्रहार प्रति प्रहार किया जाता था। यह नौक-झोंक निरन्तर चलती रहती थी और तब तक कोई दल उठने का नाम नहीं लेता था, जब तक कोई दल अपनी पराजय स्वीकार नहीं कर लेता था। इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि दोनों दलों के पास ऐसे आशु कवि होते थे, जो आवश्यकता पड़ने पर तत्काल कोई सद्यः रचना रचकर अपने दल को प्रश्न या उत्तर देने में मदद करते थे। छतरपुर में कलगी दल के प्रतिनिधि पं. परमानंद पांडे का अखाड़ा हुआ करता था और तुरा दल के प्रतिनिधि के रूप में गंगाधर व्यास का अखाड़ा था। पंडित परमानंद पाण्डे के अखाड़े में स्वयं पांडे जी, महादेव प्रसाद चौबे 'अनंत', पं. श्री रामपाल मिश्र थे, जिनमें से श्री रामपाल मिश्र जी अभी हैं, बाकी सभी स्वर्गवासी हो गए हैं। पं. गंगाधर व्यास के अखाड़े में स्वयं व्यास जी, पं. राजाराम शुक्ल 'रतनेस', भुमानी प्रसाद पटैरया, रामदास नामदेव, रामनाथ गुप्ता 'हरिदेव', मनभावन शुक्ल, कलू मेंमार, शेखू नत्थू तथा गोकुल प्रसाद महाशय थे। इन दलों के अधिकांश सदस्यगण अब नहीं रहे हैं। इनमें से कुछ लोग विद्यमान हैं, जिनमें भगवानदास कुशवाहा, मुरलीधर कुशवाहा, भगवत घोषी, नंदे शुक्ल तथा रतन नामदेव विद्यमान हैं। सैर गायिकी के जो गायक अभी छतरपुर में जीवित हैं उनमें स्वामी प्रसाद अग्रवाल, घनश्याम अग्रवाल, बिहारी सेन, किशोरी लाल विश्वकर्मा, रामाधीन विश्वकर्मा, नाथूराम विश्वकर्मा, धरमदास सेन, लखू वर्मा शामिल हैं। सैर गायन में आरोह-अवरोह का विशेष महत्त्व रहता था। सैर गायन के साथ वाद्य घेरा, ढोलक तथा मंजीरा बीच-बीच में बजाया जाता था। सैर चार चौककी होती थी, जिसमें दोहा, सोरठा, टेक तथा झुमका रहते। झुमका में चार-चार लाइनें होती थी। सबसे पहले दोहा कहा जाता था, जिससे श्रोता को सैर समझने में सहायता मिलती थी। गायक पहले दोहा गाता इसके बाद वाद्य यंत्र बजाए जाते थे। दोहा गाते समय पहला गायक पहली पंक्ति गाता था तथा दूसरा गायक दूसरी पंक्ति गाता था। इसके बाद अगला साथी तान के साथ इसी पंक्ति को तानता था। इसी क्रम में आगे बढ़ते जाते थे। इसे सैर गायिकी में सैर को 'लै उड़ना' कहते थे।

सैर विधा के माध्यम से बुन्देलखण्ड का साहित्य बहुत समृद्ध हुआ है। इसके माध्यम से श्रृंगार, भक्ति, नीति सहित सम-

सामयिकी विषयों पर बहुत लिखा गया है। उदाहरण के लिये लला पुजारी के एक सैर का मैं जिक्र करना चाहूँगा, जिसमें नायिका के नेत्रों का चित्रण है। इसका काव्यात्मक सौंदर्य चमत्कार करता है। देखें -

- दोहा - बरछी दांव कटार हूं, छुरी तीर तलवार।
इन हथियारन से प्रबल, होत नैन की धार।।
- सैर - भरके त्रिपट दुनाली हिय जाकर मारी,
कै मरै भये घायल कै सुरत बिसारी
करके कटाक्ष घाव करत मार दुधारी
मन मृगन हेतु मनहु ये नैन सिकारी। टेक।।
नैनन सें मुनी नारद ने मारी हारी,
नैनन के द्वार शंकर जी जुगत विचारी
होकर कें कुपित कामदेव काया जारी
मन मृगन हेतु मनहु ये नैन सिकारी।.....।
- लावनी - झारें जिहिर उतरें नहीं ऐसे विकट ये ब्याल हैं।
हथियार सें बच जाय पर नैना समझ लो काल हैं।
नर और मुनी विवुधान पर नित रहत करत कमाल हैं।
हर भांत अनुपम ये जुगल बाला के नैन विसाल हैं।
- सैर - काहू को होत इनसें सुख अपरंपारी
मतवारन की दसा नहीं जात उनारी
खो प्राण देत कोऊ करत ऐसी यारी,
मन मृगन हेतु मनहु ये नैन सिकारी।....
गुण तीन प्रबल इनमें ये जानो भारी

विधि ने अपार शक्ती दै इनको डारी
रहियो इन्हें सम्हारे कहें लला पुजारी
मन मृगन हेतु मनहु ये नैन सिकारी।.....

इसी तरह विरह की स्थितियों का मनमोहक चित्रण सहित संयोग के अनेकानेक बिम्ब सैर साहित्य में देखने को मिलते हैं। सैर साहित्य गायन की फड़बाजी अब विलुप्तता के कगार पर है। इसकी शिक्षा पूर्व में गुरु-शिष्य परम्परा के रूप में दी जाती थी। इसके बारे में सैर गायक भगवानदास कुशवाहा ने बताया कि परमानंद पाण्डेय के पुत्र नन्दकिशोर पाण्डेय सरकारी शिक्षक थे। उन्होंने हम लोगों को सैर लिखने तथा गाने की शिक्षा दी थी। इसके बाद शिक्षा देने वाला कोई नहीं मिला। इनसे आगे अपने शिष्य बनाने के सम्बन्ध में पूछने पर बताते हैं कि कोई आज शिष्य बनने को तैयार ही नहीं है। सैर विधा आज इसी कारण से विलुप्त हो रही है। इसके पीछे अन्य कारण यह भी है कि पहले लोकरंजन के साधन सीमित थे। आज की तरह टी.वी. तथा वीडियो, फिल्मों आदि नहीं थीं, जिससे लोग रात-रात भर बैठकर गम्मतों में सैर व अन्य विधाओं को सुनते थे। आज बाजारवाद के बढ़ते प्रभाव से आदमी व्यस्त हो गया है, उसके पास समय नहीं है। सैर सुनने-सुनाने के लिये समय चाहिये, जो सामान्यतः कम लोगों के पास है। इसीलिये काल के प्रभाव से यह विधा विलुप्तता की कगार पर है। भावी पीढ़ी को इस विधा से परिचित कराने हेतु संरक्षण की आवश्यकता है।

गरासिया घाट एवं शिव मंदिर

मायापति मिश्र

मध्यप्रदेश के मालवा प्रांत की लोक संस्कृति में राजस्थान की लोक परम्पराओं एवं सतरंगी संस्कृति की छाप स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। पड़ोसी राज्य होने के कारण राजस्थान की कई घुमक्कड़ खानाबदोश जनजातियों ने मध्यप्रदेश के मालवा प्रांत के कई स्थानों को अपना ठिकाना बना लिया। भीषण गर्मी की चिलचिलाती धूप में ऊँट, बकरी एवं भेड़ों का झुण्ड लिए अपने पूरे लाव-लशकर के साथ राजस्थानी चरवाहे आज भी मध्यप्रदेश के सीमावर्ती जिलों में डेरा डाले हुए देखे जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त छोटे-बड़े कई शहरों एवं कस्बों में सड़क किनारे राजस्थानी लोहपीटा लोगों की पूरी गृहस्थी कलात्मक बैलगाड़ियों पर लदी हुई देखने को मिल जाती है। इस प्रकार के यायावर कुछ तो समयानुसार आकर चले जाते हैं और कुछ अनुकूलता पाकर रुक जाते हैं। आने-जाने की इस आपा-धापी में कुछ छूट जाता है और यहीं रह जाने से कुछ बिखर जाता है, जो कुछ बिखर जाता है- वह है उनकी संस्कृति। रतलाम, मंदसौर, नीमच जिलों का पठारी क्षेत्र एवं राजस्थान की अरावली का क्षेत्र एक संस्कृति के दो पहलू लगते हैं। भानपुरा, रामपुरा आदि स्थानों पर तो जनजातियों ने अपनी सत्ता ही कायम कर ली थी। विक्रम पन्द्रहवीं शताब्दी से पूर्व रामपुरा भील जनजाति की सत्ता का केन्द्र था। रामाभील को चन्द्रावतों द्वारा पराजित कर देने के पश्चात् इस क्षेत्र में भीलों की सत्ता का अंत हो गया। रामाभील ने अपने महल में हिंगलाज माता की स्थापना की थी। इतना ही नहीं, बल्कि रामपुरा-भानपुरा मार्ग पर एक अन्य भील वीरनायक बूजरिया ने अपने नाम पर बूज बसाया और वहीं अष्टभुजी माता की स्थापना की, वहाँ की माता को अब नरसी माता के नाम से पुकारा जाता है और खण्डहरों को 'भीला को बंगला' (भीलों का बंगला) के नाम से जाना जाता है।

मालवा की घुमक्कड़ जातियों में एक प्रमुख जाति है बनजारा। अपने नाम की सार्थकता के अनुसार बनजारा समाज बस्ती से दूर वन में जाकर बसता था। यह यायावर जाति जीविका की तलाश में एक स्थान से दूसरे स्थान पर विस्थापित होती रहती थी। जहाँ पर अनुकूलता दिखी, वहीं डेरा डाल दिया। बनजारा का शाब्दिक अर्थ शब्दकोश में बैलों पर सामान ढोने वाला दिया गया है। व्यापारियों एवं स्वयं का अनाज एवं अन्य सामान बैलों पर एक बाजार से दूसरे बाजार तक ले-जाने एवं ले-आने का कार्य करने वाले बनजारों की स्थिति अन्य यायावर जातियों की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ थी। पशुपालन एवं वनप्रांत में कृषि इनको प्रिय थी। जहाँ भी कृषियोग्य भूमि देखी, चरागाह की सुगमता पायी, वहीं डेरा डाल दिया। चाहे निर्जन वन हो या पर्वतों की दुर्गम घाटियाँ, सर्वत्र मानवीय गतिविधियों का संचार कर देने वाली, बैलों पर सामान ढोने वाली बनजारा जाति अपनी सृजनशीलता के लिए भी जानी जाती है। मालवा में प्रचलित किंवदंतियों के अनुसार वहाँ आज भी स्थित कई तालाब, बाँध एवं मंदिर और घाट बनजारों की देन हैं। समूह में रहने के कारण मुखिया के नियमों का पालन एवं सामुदायिकता-सहकारिता इनकी प्रवृत्ति थी। पशु-गाय, बैल, बकरी, ऊँट आदि पालना और इन्हीं के सहारे जीवन निर्वाह करना- इनकी जीवनशैली थी। एक किंवदंती के अनुसार राजगढ़ जिले की भैंसवा पहाड़ी पर स्थित लोक माता भैंसवा के पालक पिता लाखा बनजारा लाखों पशुओं का मालिक था। वह भगवान शिव का परम भक्त था। भगवान शिव की कृपा से ही वरदान स्वरूप उसे भैंसवा माता पहाड़ी पर कन्या रूप में प्राप्त हुई थी। आज भी पास के गाँव सुल्तानिया एवं हरान-तरान के बनजारा लोग हरियाली अमावस्या के दिन भैंसवा माता की दूध तलाई में 50 फिट ऊँचाई का निशान चढ़ाते हैं। हरियाली अमावस्या को वे कृषि और पशुपालन के निमित्त हरियाली की मन्त माँगते हैं।

व्यसन और प्रवृत्ति के कारण बाद में चलकर बनजारों की कई उपजातियाँ और गोत्र बन गये। इन्हीं उपजातियों में एक प्रमुख है गरासिया। वर्तमान में गरासिया बनजारा जाति राजस्थान के कई-क्षेत्रों में पायी जाती है। मध्यप्रदेश के मालवा क्षेत्र में यह जाति विलुप्त सी हो गयी या पलायन कर गयी। गरासिया बनजारों के विषय में जुटाई गई वाचिक जानकारी के अनुसार वे परम

शिव भक्त एवं शक्ति के उपासक थे। जुझारू और यायावर होने के कारण अन्य जातियों की तरह पिंडारियों में सम्मिलित होने से ये परहेज नहीं रख पाये। पिंडारियों को मराठों का संरक्षण प्राप्त था। उन्हें मराठा सेना का अनियमित सवार मानकर मालवा क्षेत्र में जमीन दे रखी थी। वे मध्यभारत तक धावा मारते थे। अमीरों और गरीबों को समान रूप से लूटते थे। सन् 1817 में गवर्नर जनरल लार्ड हेस्टिंग्स ने पिंडारियों के दमन का अभियान चलाकर उनके आतंक को समाप्त कर दिया। पिंडारी विरोधी अभियान के फलस्वरूप ही तीसरा मराठा युद्ध छिड़ गया था। पिंडारियों को पेंडारी भी कहा जाता है। अंग्रेजों द्वारा पीछा किये जाने पर पिंडारियों का एक महत्वपूर्ण नेता चित्तू जंगल में भाग गया, जहाँ एक चीता उसे खा गया। सम्भवतः पिंडारियों के साथ गरासिया लोग भी मालवा से दूर अरावली के घने जंगलों की ओर राजस्थान में भाग गये।

मध्यप्रदेश से लगे हुए राजस्थान के बारा जिले में आज भी गरासिया लोग विद्यमान हैं। मुख्य रूप से बारा, छाबड़ा एवं भूलौन रेलवे स्टेशन के आसपास गरासिया लोगों के द्वारा आपराधिक गतिविधियों की चर्चा सुनने को मिल जाती है। इस क्षेत्र की ट्रेनों में ये लोग अपने लाव-लश्कर (घरेलू सामान एवं पत्नी बच्चों के साथ मुर्गा-मुर्गी) के साथ इधर से उधर यात्रा करते प्रायः दिख जाते हैं। यायावर, घुमक्कड़ होने के कारण गरासिया जाति के लोगों की उपस्थिति गुजरात में भी पायी जाती है। बैलगाड़ियों पर अपना पूरा जीवन संसार लेकर काफिलों में एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकने वाले इस खानाबदोश जाति का नाम गरासिया पड़ा होगा। बैलगाड़ियों पर लदी जिन्दगी गृहस्थी इनकी पहचान थी। अतः ये गरासिया नाम से पुकारे जाने लगे, जो बाद में आगे चलकर गरासिया हो गये। प्रारम्भिक अन्वेषणों से उक्त तथ्य तर्क संगत प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तविकता अभी भी शोध का विषय है।

मालवा में प्राचीनकाल की चन्द्रलेखा नदी के तट पर हरे-भरे पलाशवन से आच्छादित मानवीय बस्ती को उस समय खाखरखेड़ी के नाम से जाना जाता था। वर्तमान का शाजापुर ही खाखरखेड़ी और वहाँ प्रवाहित होने वाली चीलर नदी ही चन्द्रलेखा के अस्तित्वबोध के रूप में आज विद्यमान है। इतिहास कभी मृत

नहीं होता, स्थिर होकर भी वह अपने पीछे जीवंत घटनाक्रम का निशान छोड़ जाता है। देवप्रिय धर्मपरायण सम्राट विक्रमादित्य एवं राजाभोज द्वारा निर्मित मंदिरों का मालवा, मुगल काल में इस्लामिक धर्माधता के साये में आ गया। शाहजहाँ द्वारा नियुक्त शहर कोतवाल मीरबीगों ने खाखरखेड़ी के जागीरदार जगन्नाथ रावल के साथ मिलकर सन् 1640 ई. में नगर की चारों दिशाओं में मुगलिया शैली के चार द्वार बनवाकर नगर का नाम शाहजहाँपुर रख दिया, जो वर्तमान में शाजापुर के नाम से जाना जाता है। यहाँ ताराबाई द्वारा निर्मित कराये गये किले के पास स्थित प्रसिद्ध हनुमान मंदिर को मुरादपुर नाम दे दिया गया। शाजापुर का नाम बदल गया, परन्तु वहाँ की आस्था एवं धर्मभाव को नहीं बदला जा सका। दक्षिण दिशा से उत्तर दिशा की ओर प्रवाहित चीलर नदी शाजापुर की जीवन रेखा है। इस नदी पर बना बाँध पूरे नगर की प्यास बुझाता है और आस-पास के ग्रामीण क्षेत्र की कृषि को सिंचित बनाकर लोगों में खुशियाँ भर देता है। सब कुछ देने वाली चीलर नदी के पावन तट अध्यात्म एवं समर सत्ता के संदेश भी देते हैं, जहाँ कई मंदिर, पक्के घाट एवं सिद्धों की समाधियाँ हैं और जीवन के अन्तिम पड़ाव को आत्मसात करने वाला विश्राम घाट भी है। नदी के पूर्वीतट पर माँ भगवती राजराजेश्वरी का दिव्य मंदिर है, जिसके प्रांगण में मंगलनाथ गणेश जी एवं अन्य देवी- देवताओं के मंदिर हैं। माँ राजराजेश्वरी के अलौकिक प्रांगण से कुछ ही दूरी पर चन्द्रलेखा नदी के पूर्वी तट पर भगवान भोले नाथ का एक चमत्कारिक शिव मंदिर स्थित है, जो अपने पक्केघाट के कारण गरासिया घाट के शिव मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है। शिव एवं शक्ति के मंदिरों के बीच बहती चीलर (चन्द्रलेखा) नदी उनके गुणगान की प्रतिध्वनि सी लगती है। शिव का नीलकण्ठेश्वर रूप लिंगरूप में पूज्य है, इसलिए इसे गरासिया घाट का नीलकण्ठेश्वर मंदिर भी कहा जाता है। परन्तु गरासिया घाट नाम का विशेषण कभी विलग नहीं किया जा सका। पूर्व दिशा की ओर मुँह करके मंदिर में प्रवेश करने के निमित्त मंदिर का प्रवेशद्वार पश्चिम मुखी है। द्वार पर ही पक्का घाट और चन्द्रलेखा नदी का पावन तट है। तट पर बने पक्के घाट को गरासिया घाट के नाम से जाना जाता है, जो कि गरासिया समुदाय की जातीय सृजनशीलता और आस्था का प्रतीक है।

गरासिया घाट के शिव मंदिर में वास्तुशास्त्र एवं आध्यात्मिक

तत्त्व की अभिव्यक्ति का मणिकांचन योग है। इस मंदिर की गूढ़ संरचना के पीछे कौन लोग थे? यह कहना बहुत ही मुश्किल है, परन्तु इसकी पहचान गरासिया जाति के नाम से ही है। पत्थर एवं चूने से निर्मित इस मंदिर की मुख्य विशेषता है कि मंदिर का शिखर जहाँ से त्रिशंकु रूप धारण करता है, वहाँ से लेकर शिखर के अंत तक प्रत्येक कोनों पर श्रृंखलाबद्ध एक के ऊपर एक कलशों की आकृति बनी है। शादी ब्याह के मंडप के मध्य में रखे कलशों की श्रृंखला के समान क्रमशः सबसे नीचे बड़ा कलश फिर उसके ऊपर छोटा, फिर और छोटे की प्रतिकृति है- ये मंदिर कलश। इन कलशों की प्रत्येक पंक्तियों की संख्या नौ हैं। ये नौ कलश नौ ग्रह के प्रतीक हैं या नौ दुर्गा के नौ रूप के प्रतीक हैं? जो कुछ भी हो, ये एक तात्विक अभिव्यक्ति के अद्भुत नमूने के रूप में विद्यमान हैं। चारों कोनों के कुल कलशों की संख्या $9 \times 4 = 36$ है। छत्तीस की संख्या शिव के छत्तीस तत्त्वों की द्योतक भी हो सकती है। यह मंदिर मालवा में अपनी तरह का एक अलग अद्भुत उदाहरण है, क्योंकि अन्य मंदिर में कलश की यह शैली तो मिलती है, परन्तु छत्तीस की संख्या नहीं मिलती है।

शिव के छत्तीस तत्त्व इस प्रकार से हैं- शिव, शक्ति, मंत्र महेश, मंत्रेश, मंत्र, पशु, (इसके तीन उपभेद हैं- विज्ञानकल, प्रलयाकल एवं सकल), मल, कला, काल, नियति, राग, विद्या, प्रकृति, महत्, अहंकार, मन के अतिरिक्त पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्रा एवं पाँच महाभूत। राजगढ़ जिले के सारंगपुर में काली सिंध नदी के मध्य एक चट्टान पर निर्मित कपिलेश्वर महादेव के मंदिर की शिखर संरचना भी कलशयुक्त है। परन्तु इसमें शिखर के कोनों पर छह-छह कलश एवं कलशों के नीचे तीन छोटे-छोटे शिखर बने हैं, अर्थात् कलशों की कुल संख्या चोबीस है। शैव दर्शन में प्रकृति के तत्त्वों की संख्या चोबीस बतायी गयी है। प्रकृति और पुरुष के सामंजस्य को ही सृष्टि का आधार माना जाता है। शक्ति और शिव को ही प्रकृति और पुरुष माना गया है। इस मंदिर के शिलालेख के अनुसार इसकी स्थापना जिवाजीराव महाराज पवार संस्थापक देवास राज्य जूनियर ने 1734 ई. में किया है। कलश संरचना की समकक्षता के कारण यदि गरासिया घाट के शिव मंदिर की समयावधि कपिलेश्वर महादेव मंदिर के समकक्ष मान लें, तो यह वास्तु शैली मराठायुगीन देन मानी जा सकती है। सारंगपुर के बस

स्टेण्ड के पास देव कुएँ के शिव मंदिर में भी शिखर पर कलशों का अंकन है। इसी प्रकार नलखेड़ा के माँ बगलामुखी मंदिर के शिखर में भी 7×4= अट्ठाईस कलशों का अंकन है। यहाँ अट्ठाईस की संख्या शक्ति के किसी गूढ़ तत्त्व की द्योतक है। जैसे कि छत्तीस की संख्या शिव के छत्तीस तत्त्वों की द्योतक है। इस प्रकार तत्त्वों को व्याख्यायित करने वाले कलशों का अंकन मालवा के क्षेत्र विशेष की अपनी अलग शैली है, जो कि शोध का विषय है।

मंदिर की विशेषता के समान ही गरासिया घाट का भी एक महत्त्व है। दक्षिण से उत्तर दिशा की ओर प्रवाहित नदी के घाट पर काल सर्प योग की शांति का योग बनता है। यदि घाट पर शिवमंदिर हो और द्वार घाट की दिशा में हो तो शांति का योग महायोग बन जाता है और यही महायोग के रूप में गरासिया घाट पर विद्यमान है। शिव को अतिप्रिय चंद्रमा के नाम की चन्द्रलेखा नदी का दक्षिण से उत्तर का प्रवाह और मंदिर की घंटियों का

निनाद महायोग ही तो है, जो गरासिया घाट पर प्रस्तुत होता है। इन सब योगों के मध्य एक योग सूर्य देवता भी यहाँ बनाते हैं। मंदिर का पृष्ठ भाग जो पूर्व दिशा की ओर है, उसमें एक छोटा सा गवाक्ष (झरोखा-8×8 इंच का) है। सूर्य की प्रथम किरण इसी गवाक्ष से होकर भगवान भूतभावन भोलेनाथ के शिवलिंग पर पड़ती है तो पूरा शिवलिंग एवं मंदिर एक अलौकिक आभा से उद्दीप्त हो उठता है। शैलीगत विशेषता में एक यह भी है कि मंदिर का मुख्य द्वार किले एवं राजमहल के द्वार जैसे मेहराबयुक्त है और इसमें प्रवेश करते एक छोटे से सभा मण्डप की अनुभूति होती है। इस सभामण्डप युक्त द्वार में हनुमान जी के प्रथम दर्शन होते हैं। पीछे से सूर्य किरणों द्वारा शिवलिंग का प्रच्छालन और आगे रूद्रावतार हनुमान जी का पहरा, बाहर कलकल नाद छोड़कर प्रदूषण के कारण विश्रान्त पड़ी चंदलेखा नदी और नदी के घाट में समायी गरासिया जाति की आस्था मौन होकर भी पाषाणों के माध्यम से अपने बीते हुए वैभवकाल की कहानी कह रही है।

संदर्भ

1. भारतीय इतिहास कोश, शैव धर्म और दर्शन - डॉ. ब्रजबिहारी निगम, भीली लोकमाताएँ- डॉ. पूरन सहगल

लोकगीतों में विवाह संस्कार

श्रीमती हेमलता उपाध्याय

हमारा भारत जनपदों का देश है, जिसकी संस्कृति अत्यन्त समृद्ध है। यद्यपि विभिन्न अंचलों में हमारी लोक संस्कृति का रूप वैविध्यपूर्ण और बहुरंगी है, किन्तु उसका मूलाधार एक है और वह एक लोक सांस्कृतिक सूत्र से परस्पर आबद्ध है। गाँव लोक-संस्कृति के केन्द्र हैं। गाँव के निरक्षर किसान के पास अपनी सांस्कृतिक परम्पराएँ हैं जो उसे पीढ़ी दर पीढ़ी विरासत में मिलती रही हैं। उन पर उसका अटूट विश्वास है और यही लोक विश्वास जीवन की कुंजी है, इसी से लोक संस्कृति में जन-जन की भागीदारी होती है।

किसी भी संस्कृति का परिचय उसकी वाचिक परम्परा की विविध विधाओं से मिलता है, लोक-साहित्य में गीतों का अक्षय भण्डार है। आदिम युग से चले आ रहे गीत लोक जीवन की धड़कनें हैं। वे समय और शब्द के महत्त्वपूर्ण दस्तावेज हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोकगीतों को वेद की संज्ञा दी है।

वास्तव में गीत मनुष्य का स्वभाव है। हमारे कृषि प्रधान देश का किसान गाते हुए हल चलाता है और मजदूर कुदाल चलाता है तो गाता है, स्त्रियाँ चक्की चलाते, दही बिलोते गाती जाती हैं। निरंतर प्रवहमान लोकगीतों की अजस्र धारा जीवन को आनंददायी बनाती है और जीवन स्वयं एक संगीत प्रतीत होता है। लोकगीत संस्कृति के संवाहक और परिचायक होते हैं। इनमें जीवन की प्रत्येक गतिविधियों के दर्शन होते हैं। इनमें जीवन के सुख-दुःख, जन्म-मरण, सगाई-विवाह, पर्व-त्योहार, रीति-रिवाज, धर्म -कर्म, अतीत और वर्तमान के संस्कार मिलते हैं। ये गीत किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं कि वरन् समूह द्वारा रचे गये हैं और इनमें व्यक्तिगत नहीं- समष्टिगत अभिव्यक्ति होती है। हर अवसर को गीत बना देने की शक्ति केवल लोक में ही होती है।

यों तो शास्त्रों में हमारे षोडश संस्कारों का उल्लेख है, किन्तु लोक जीवन में कुछ प्रमुख संस्कारों का सम्पादन किया जाता है, जिनमें विवाह संस्कार जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक संस्कार है, जिसे अत्यन्त उल्लास पूर्वक मनाया जाता है। हमारे देश के विभिन्न प्रान्तों में विवाह-संस्कार के कार्य थोड़े बहुत अंतर के साथ सामान्य रूप से एक जैसे सम्पन्न होते हैं। विवाह-संस्कार के हर अवसर के अलग-अलग गीत होते हैं। वैवाहिक गीतों में हमारे पारिवारिक जीवन की उदात्त कल्पनाये संजोई गई हैं।

वर एवं वधू पक्ष विवाह तय होने पर पण्डित से तिथि तथा अन्य कार्यक्रम एवं उनके शुभ मुहूर्त लेते हैं, जिसे लगन-टीप या लगन-पत्री कहते हैं। लगन-टीप के स्वागत में उत्साह से महिलाएँ गा उठती हैं-

*चटपट लौंग री बधाई, हलळ बधाई
बधाई म्हारा अंगणा में आई।*

इसके बाद ही शुभ विवाह हेतु पाँच मुहूर्त के कार्य होते हैं। सर्वप्रथम लोकदेवता विघ्न विनाशक कार्यसाधक श्री गणेश जी की स्थापना व पूजन करके बड़ी तोड़ना, गेहूँ- धान फटकना और हल्दी कूटना तथा चूल्हे कोठी की मिट्टी लाना, चूल्हे कोठी बनाना, लड्डू, गुणी-घुंघरी बनाने के कार्य उत्सव पूर्वक नृत्य-गान सहित किये जाते हैं। इस अवसर पर गाया जाने वाला बधावा गीत देखिये-

जो बी पाँच बधावा रे ये भला आविया....

शुभ-विवाह की निमंत्रण पत्रिकाएँ रिश्तेदारों और आत्मीयजनों को भेजने से पूर्व श्री गणेश और कुलदेवी को निमंत्रण दिया जाता है। सहृदय गणेश जी तो तत्काल विवाह करवाते हैं। उनकी पूजा का यह गीत बहुत प्रसिद्ध है-

*दोंद धोंदाल्यों रे गणपति सदा मतवाळो
कई चलो गणेश अपुण सोनी घर जावां।।
कई गयणा घड़ाई बेगा अवां न रे,
म्हारो गणेश धोंदाल्यों।।*

विवाह के शुभ अवसर पर ससुर, पिता, जेठ, भाई और कोख को बधाई दी जाती है, जिसके कारण यह शुभ दिन को

पड़छती है। पड़छना याने दूल्हे की सुरक्षा करना, बुरी नजर से और किसी प्रकार की अलाय-बलाय से। पड़छते समय महिलाएँ ये गीत गाती हैं-

*सखि हो पड़छो भीम घर की नार,
सांवळा हरि की आरती।
सखि हो असो म्हारा यहाँ नित नवो होय।।*

और फिर बारात प्रस्थान करती है, तब उत्साह और आनंद के स्वर गूँजने लगते हैं, महिलाएँ गाती हैं-

*कूण माई न हलदुली मोल करी हो,
सुन्दर वर ललना।
कूण माई न खरच्या छे दाम,
श्याम सैयजादी बहना।।*

बारात को जनवासे तक छोड़ महिलाएँ बधाईयाँ गाते हुए वापस मण्डप में आती हैं। विदा का कोई भी क्षण हो वह दुःखी कर देता है। वास्तव में विवाह पूर्व तक पुत्र पर माँ का पूर्ण अधिकार होता है, किन्तु परिणय के बाद पुत्र का लगाव और प्रेम माँ और पत्नी के बीच बँट जाता है। माँ बड़े लाड़-प्यार और जतन से पुत्र को पाल-पोसकर बड़े अरमानों से उसका विवाह करती है और खुशी-खुशी अपना पुत्र भावनात्मक स्तर पर बहू को सौंप देती है। इस समय माँ के मान की बड़ी विचित्र दशा होती है, उसे सुख और दुःख दोनों का एक साथ अनुभव होता है। वह अपनी सखी से अपने इस मनोदशा का वर्णन करते हुए कहती है-

*हऊं तो पचरन जी मन मं नी जाणती,
सई तो हम घर आणन्द बधावणो।
हऊं तो पुत्र परणाऊं बेऊ चार बइणी,
वो तो वऊवर आया पुत्र लई गया।।
म्हारो पुत्र परायो होय,
बइणी वो हम घर आणन्द बधावणो।।*

अर्थात् सखि, मैं नहीं जानती कि अचानक मेरा मन ऐसा कैसा हो गया कि मुझे आनंद भी हो रहा और दुःख भी, मैंने जो बाग लगाया था, उसके फूल मालन ले गई। आम की कैरियाँ जैसे कोयल ले गई, वैसे ही विवाह करने पर बहू ने मेरे पुत्र को ले लिया और मेरा पुत्र पराया हो गया। इसका मुझे दुःख हो रहा है और उसका विवाह कर मैं आनन्दित हो रही हूँ।

वधू के द्वार पर बारात पहुँचने पर द्वाराचार, स्वागत-सत्कार, मिलन-भेंट का कार्यक्रम होता है। वधू की सखियाँ उसे घर की छत से वर की शोभा निहारने का सुझाव देते हुए गाती हैं-

दादाजी रा मैहल चढ़ी झाँकी ल,
ओ दिल मोहन बन्दड़ी।
कसा बण्या न सरदार,
ओर दिल मोहन बन्दड़ी।।

ऐसे ही एक अन्य भोजपुरी गीत में सखियाँ कहती हैं-

इमरत आवे मिथिलेस के भवनवा, हाय रे जियरा।
दूल्हे का रूप अनमोल, हाय रे जियरा।।

वर-वक्ष की ओर से वधू को चढ़ावा या रूपया चढ़ता है। तदनन्तर कन्यादान या पाणिग्रहण का सबसे महत्वपूर्ण संस्कार सम्पन्न होता है। इसे वैदिक पण्डित मंत्रोच्चार तथा विधि-विधान पूर्वक सम्पन्न करते हैं। माता-पिता अपनी कन्या का हाथ (पाणि) वर को सौंपते हैं और क्षणभर में ही उनके कलेजे का टुकड़ा पराया हो जाता है। लगन पूर्व वर को वस्त्र आभूषण आदि देते समय भी गीत गाये जाते हैं-

बना का सासरिया सी हो,
बना जी पागा आई राज।

कन्यादान के इस करुण किन्तु सुखद क्षणों में महिलाएँ अत्यन्त मार्मिक गीत गाती हैं-

नीच्ची उच्ची सखरिया री पाल तो,
साजन-साजन जुआँ खेल जी,
खेलत जो खेलत पड़ी गयो डोल तो,
कूण हार्यो न कूण जीत्याजी।
हार्या-हार्या लाड़कली रा पिता जी।।
गढ़वा हो साजन जीती गया जी।।

कन्यादान के पश्चात् विवाह के दो विधि-विधान अत्यन्त प्रसिद्ध और आवश्यक हैं- सप्तपदी और सिंदूर दान। सप्तपदी याने भाँवरों के समय प्रज्वलित अग्नि के वर-वधू सात फेरे लेते हैं और परस्पर-प्रेम एवं दाम्पत्य जीवन के कर्तव्य-पालन की प्रतिज्ञाएँ करते हैं।

हो बन्नी पूछ बनाजी सी बात,
रायवर काई हो गया था।

और बन्ना भी मजाकिया अन्दाज में बनी को चिढ़ाते हुए कहता है-

हो बन्नी गया था सोनी दुकान,
वहाँ गयना घड़वाई रहया था।
अरे वहाँ सोनी की छोरी मजेदार,
वही रे बिलमाय गया था।।

ऐसे असंख्य सरस-मधुर बन्ना-बन्नी गीत गाते हुए दूल्हा-दुल्हन का बड़े धूमधाम से समारोह पूर्वक बाना (विनायकी) निकाला जाता है। घोड़े तथा बग्घी पर वधू के पीछे-पीछे महिलाएँ गाते हुए चलती हैं। स्थान-स्थान पर वर-वधू का स्वागत-सम्मान किया जाता है। इस अवसर पर गाये जाने वाले गीतों में से एक प्रसिद्ध गीत सुनिए-

सड़क पर आफू की क्यारी,
सड़क पर केसर की क्यारी।
नवल बनाजी को रथ सिंगगार्यो
हवा कारे प्यारी, रे हवा कोरा प्यारी।।

विवाह में मण्डप बनाना और छाना एक प्रमुख और महत्वपूर्ण अवसर है। विवाह के शेष सभी कार्य फिर मण्डप में ही सम्पादित होते हैं। इस अवसर पर गाये जाने वाले मंगल गीत में वरमाता अपनी सखी से कहती है-

भंवर्यो संवर्यो न रे दशरथ दरबार,
सहेली अम्बो भंवरियो।।

अर्थात् जैसे आम वृक्ष में मौर आ गये हैं, वह फलने योग्य है, वैसे ही मेरा पुत्र भी युवा होकर विवाह योग्य हो गया है। सखी! आनंद का अवसर उपस्थित हुआ है। मण्डप स्थापना के बाद उसकी प्रतिष्ठा व नवग्रह शांति पूजा अत्यंत श्रद्धापूर्वक की जाती है। मण्डप के दिन मामेरा एक अत्यंत मार्मिक व महत्वपूर्ण अवसर रहता है। गृहस्वामी को उसे कुटुम्बीजनों सहित वर-वधू के मामा पक्ष के वस्त्रादि भेंट दिये जाते हैं। भाई द्वारा बहिन की कुटुम्ब सहित पेरावणी से वह सम्मानित और आनन्दित होती है।

इस अवसर पर अनेक भावपूर्ण, सरस-मार्मिक गीत गाये जाते हैं। वरमाता का मन गा उठता है-

*अंगणा मउं वाज जंगी ढोल,
महळ बाजा बाजिया जी।*

तथा-

*आज तो सांवलियो वीरों,
मायरो लई आयो माई।*

सुख के ऐसे क्षणों में अपने पूर्वजों की याद आना अत्यंत स्वाभाविक है। उनकी याद में बरबस आँसू आ ही जाते हैं और इस दिन वरमाता अपने कुटुम्बीजनों सहित पूर्वजों के विवाह में सम्मिलित होने का निमंत्रण उच्चाकाश में उड़ने वाली गीधनी के द्वारा पहुँचाती है और पूर्वजों का उत्तर भी गीधनी लाती है। इस कार्य को रूखड़ी न्यूतना कहते हैं। इस अवसर का यह गीत अत्यंत करुण और मार्मिक है-

*सरग भवन्ति ओ गिरधरनी,
एक सन्देसो लई जाव।
सरग का मोठा भाई सी यू कयजो,
तुम घर नाती को ब्याव।*

और पूर्वज उत्तर देते हैं-

*जेम सर रे ओम सारजो, हमारो तो आवणूं नी होय।
ताला जड्या लोहा बन्द का, जड़ी दिया वजीर किवाड़।।*

अर्थात् तुम इस कार्य को जैसा सधे वैसा निपटा लो, हमारा आना सम्भव नहीं, क्योंकि मृत्यु रूपी विशाल दरवाजे बन्द हैं, जिनमें लोहे की बड़ी-बड़ी अरगलाएँ पड़ी हैं। सभी परिवारजन पूर्वजों और बिछड़े प्रियजनों की याद में व्याकुल हो जाते हैं और सबकी आँखों से आँसू झरने लगते हैं। वास्तव में इस गीत में हमारे मन की मजबूरियों का सजीव चित्रण है।

शुभ-विवाह के इस करुण-प्रसंग के उपरांत पुनः हास-परिहास, आनंद का वातावरण निर्मित होता है। रिवाज के अनुसार वरमाता का नृत्य और महिलाएँ गाती हैं-

*म्हारा हरिया मण्डप माय,
जड़को लाग्यो रे दुई नैना सी..*

और फिर देर रात तक गाना-बजाना और नृत्य तथा हास-परिहास चलता रहता है।

अगले दिन बारात सज-धज के साथ वर के घर जाने के लिए तैयार होती है।

*साड़ी लम्बी उठारो वे,
बाबल केहड़े देस जाना।।*

निमाड़ और मालवा की कन्याओं की व्यथा और शिकायत भी सुनिए-

*काहे ख पालई रे बाबुल, काहे ख पोसी।
काहे पिलायो काचो दूध जी,
माया ख पालई रे बाबूल, माया ख पोसी,
ममता पिलायो काचो दूध जी....*

विदा कर जनवासे पहुँचाते हुए महिलाएँ बेटी से कहती हैं-

*पछाफिरो-पछाफिरो लाड़ी बाई,
पिताजी ख देवो असीस।*

और बेटी जाते-जाते अपने पिताजी को आशीर्वाद देते हुए कहती है-

*खाजो-पीजो पिताजी राज करजो।
जीवजो वे करोड़ बरीस।।*

जनवासे तक पहुँचाते हुए माता कन्या को सीख देते हुए कहती है-

*मात कहे बात भली सुण सुन्दरी,
लक्षधरी बात न निभावजे वो स्याणी।
कुल न लजावते।।*

और आगे समझाती चलती है-

*ठण्डा लीमड़ा री छाया वसी माता-पिता की माया।
माया तोड़सुं पड़से कि सासर जाणूं पड़से।।*

भला किसकी आँखों में आँसू थम पाएँगे? इस राजस्थानी गीत की मार्मिकता तो देखिए-

थारी छोटी बैनड़ रोवे अकेली,
थारो वीरो सा फिरे रे उदास।।

अन्त में कन्या की माता दामाद और उनकी माँ से प्रणाम सहित निवेदन करती है कि मेरी बेटी अभी नादान है, उसकी गलतियों को क्षमा करना, उसे सखियों के साथ खेलने देना, उसे भूख जल्दी लगती है- सो, कृपापूर्वक जल्दी कलेवा देना और काम भी अधिक मत करवाना। देखिए गीत के बोल-

जाई न नन्दजी राणी ख,
म्हारो पगा लागणो कयजो।
म्हारी राधिका भूख की आकलई,
जल्दी कलेवो ओख दीजो जी।।

वास्तव में विदाई के ये गीत करुण-रस के सुवर्ण कलश हैं, जिनसे सरसता छलक पड़ती है। क्षेत्रीय बोली और भाषा की दृष्टि से भिन्न होने पर भी भावनाओं के स्तर से एक ओर अभिन्न रहे हैं।

भारत दुल्हन लेकर घर लौटती है तो उत्साह और उमंग का सागर उमड़ पड़ता है और चारों ओर बधाई बजने लगती है। महिलाएँ स्वागत करते हुए गा उठती हैं-

आज सखि श्याम सुन्दर ब्याही,
आज सिया राम की बधाई...

व्यस्थाकारों ने पैशाच विवाह की घोर निंदा की, किन्तु कन्या के हित को ध्यान में रखते हुए उन्होंने इस विवाह को मान्यता दी। यदि पैशाच कभी संयुक्त कन्या को अपनी धर्मविहित पत्नी स्वीकार करने पर विवश न किया जाता, उस स्थिति में कन्या का सम्पूर्ण जीवन व्यर्थ हो जाता। एक ओर वह निर्दोष कन्या समाजत्यक्त होकर किसी अन्य के पास कर्मों का फल भोगती और दूसरी ओर पापिष्ठ व्यक्ति समाज के विधि निषेधों से अपने दुराचरण की पुनरावृत्ति करता। मनु ने उस दुराचारी के लिए पापकर्म के पश्चात् उस निरीह कन्या को होम तथा सप्तपदी आदि धार्मिक क्रियाओं के साथ अपनी पत्नी बनाने की व्यवस्था की है। याज्ञवल्क्य ने इस मत का समर्थन किया था। प्राचीन व्यवस्थाकारों ने इस दुराचार को आश्रय नहीं दिया, वरन् निरीहता की सहानुभूति एवं उदारता के साथ रक्षा की।

समाज में प्रचलित होने के कारण अप्रशस्त होने पर भी इन विवाहों को समाज की रक्षा एवं शांति की दृष्टि से मान्यता प्रदान की गई। चरित्र की पवित्रता पर जोर देने वाले समाज में इन विवाहों को मान्यता देना आवश्यक था।

हमारी भारतीय संस्कृति विश्व की सर्वश्रेष्ठ एवं महान संस्कृति है। हमारे पूर्वज ऋषि-मुनियों एवं चिंतकों ने वर्षों के विचार मंथन और अनुभवों के आधार पर जीवन को आनंदमय, सुख-शांति एवं समृद्धिमय व्यतीत करने के लिए कुछ जीवन-मूल्यों, रीति-रिवाजों का निर्धारण किया। इनका पालन करते हुये हम सांसारिक-भौतिक उन्नति के साथ ही अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लक्ष्य भी प्राप्त कर सकते हैं। इन जीवन मूल्यों का निर्धारण करने में लोक के सामान्यजन के सामाजिक, व्यवहारिक, पारिवारिक जीवन की सुख-शांति, स्वास्थ्य, यश वृद्धि का ध्यान रखा गया। ताकि व्यक्तिगत उन्नति के साथ ही सामाजिक उन्नति में भी सभी परस्पर सहभागी हों। इसके अंतर्गत सुनियोजित पारिवारिक जीवन की व्यवस्थायें भी निर्धारित की। पारिवारिक अनुशासन, मर्यादा, निष्ठा-विश्वास और प्रेम तथा परस्पर सम्मान भाव को विशेष महत्त्व दिया गया। हमारे वेद, शास्त्र-पुराणों में पारिवारिक जीवन में परस्पर समन्वय एवं सामन्जस्य को पारिवारिक सुख-शांतिमय जीवन के लिये विशिष्ट आधार माना गया है। हमारे देश में प्राचीन काल से ही नारी को विशेष महत्त्व दिया गया है, तभी तो मनु ने कहा- 'गृहिणी गृहमुच्यते' अर्थात् गृहिणी ही घर है। गृहिणी के बिना घर-घर नहीं वीरान् वन है। गृहस्थी रूपी गाड़ी के स्त्री-पुरुष याने पति-पत्नी रूपी दो पहिये हैं, जिनका समान महत्त्व है। जो अपने-अपने दायित्वों का कुशलता से पालन करते हुये जीवन रथ को बढ़ाते हैं। अतः दोनों में समानता व समन्वय अनिवार्य है। कवियित्री महादेवी वर्मा ने कहा था- 'स्त्री की स्थिति समाज के विकास नापने का मापदंड है।' अर्थात् स्त्री की उपेक्षा या अवमानना से समाज की प्रगति नहीं हो सकती।

वास्तव में नारी सामाजिक पारिवारिक जीवन की धुरी होती है। वह पुरुष की सहगामिनी-अर्द्धाङ्गिनी और उसकी शक्ति है। नारी-पुरुष द्वारा अर्जित धन से घर रूपी तंत्र को सुचारू रूप से चलाती है। वह सुख-शांति का आधार होती है। इस महत्त्वपूर्ण दायित्व को कुशलता से निभाने की शिक्षा हमारे देश में बालिकाओं

को बचपन से ही दी जाती है। सेवाभाव, स्नेह-प्रेम, वात्सल्य और सहनशीलता तथा विश्वास के संस्कारों से संस्कारित हमारे यहाँ की स्त्रियाँ-बहुएँ परिवार में भिन्न रूचि विचार रखने वाले परिवारजनों के साथ समन्वय और सामन्जस्य बनाये रखने में कुशल होती हैं। इसीलिए तो कवि मैथिलीशरण गुप्त जी ने कहा है-

*नारी तुम केवल श्रद्धा हो,
आंचल में है दूध और आंखों में है पानी।*

वह स्नेह और सहनशीलता की मूर्ति सम्पूर्ण परिवार की सेवा एवं प्राप्त साधनों से पोषण करती है। इसीलिये नारियाँ हमारे यहाँ गृहदेवी या गृहलक्ष्मी कहलाती हैं। घर की सारी रिद्धि-सिद्धि, चिंता, चातुरी का भार-सोच उन्हीं पर निर्भर रहता है। इसीलिये हमारे यहाँ बालिकाओं को प्रारंभ से ही सुगृहिणी बनने की शिक्षा व संस्कार दिये जाते हैं। आज की बालिका कल की गृहलक्ष्मी बनेगी, जिसपर परिवार की सुख-शांति, प्रेम समन्वय, एकता, व्यक्तित्व विकास और प्रत्येक की उन्नति निर्भर होगी। अतः बाल्यकाल से ही उसे इन गुणों की शिक्षा और संस्कार दिये जाते हैं।

जब बेटा विवाह होकर ससुराल जाती है तो बड़े उमंग, उत्साह और अरमानों के साथ उसका स्वागत-सत्कार किया जाता है। सबसे बढ़कर आनंद और हार्दिक खुशी तो सासू माँ को होती है। कहावत है कि पुत्र का मुँह तो माँ जन्म देते ही देख लेती है, किन्तु बहू बड़ी तपस्या के बाद मिलती है। सच ही है- बच्चे के पालन-पोषण एवं परवरिश तथा उसके व्यक्तित्व निर्माण के लिये माता-पिता की अग्नि-परीक्षा ही होती है। संघर्ष, परिश्रम और त्याग के आधार पर ही बच्चे की उन्नति सम्भव है। कहते हैं- पूत के पांव पालने में और बहू के पांव तोरण में, अर्थात् नई नेवली दुल्हन का प्रथम परिचय मण्डप के तोरण में आने पर ही मिलता है। बहू के आने की आशा और पुत्र के ब्याहने की अभिलाशा में सासू माँ फूली नहीं समाती और गा उठती हैं-

*भंवर्यो भंवर्यों न रे ऽ दसरथ दरबार
सहेली अंवे भंवरियो.....*

तो बहू के रूप में नारी मन गा उठता है-

म्हारा ससुरा जी गांव का राजवै ...2

म्हारी सासू न हो गंगा केरो नीर, सहेली....

म्हारा सासू न हो अऽरथ भंडार, सहेली....

आशा, उत्साह उमंग और महत्वाकांक्षाओं के बीच सास के मन में आशंकाएँ भी उठना सहज है। जिस बेटे को उन्होंने बड़े लाड़-प्यार से बड़ा किया, जिस पर उनका अब तक एकाधिकार था, उस अधिकार को बाँटने वाली एक और प्यारी नारी बेटे के जीवन में जीवन संगिनी बनकर आ रही या उसे हम ही ला रहे हैं, वह बेटे पर पूर्ण अधिकार न जमा ले, बेटा पराया न हो जाये, इस आशंका से वह भयभीत है।

हऊं तो अचला जी मन मऽ नी जाणती, सई वो.....

हम घर आणंद बधावणां

हऊं तो पुत्र परणाऊं वेऊ चार बयणी जोड़

वो वऊ वर आया पुत्र लई गया

म्हारो पुत्र परायो होय, बयणी वो

हम घर आणंद बधावणो....

एक कहावत भी है-

अब तक तो माड़ी को न अंवे लाड़ी को।

वास्तव में यह मानव मन की कमजोरी है कि वह अपने प्यार और एकाधिकार में किसी को हिस्सेदारी देने में कष्टित होता है, परंतु कमजोरियों पर विजय पाना ही श्रेष्ठ है। सांसारिक एवं पारिवारिक सुख शांतिमय जीवन के लिये वान्छनीय है।

वास्तव में सास और बहू का सम्बन्ध अत्यंत महत्त्वपूर्ण और नाजुक होता है। सास बड़े अरमानों से अपनी बहू लाती है, उसके अपने सपने होते हैं, आशाएँ और अपेक्षाएँ होती हैं। परन्तु दोनों के बीच पीढ़ियों का अंतर होता है। यदि परिवार में सास और बहू के बीच टकराव और तकरार होती रहती है तो परिवार में अशान्ति, तनाव और विघटन की स्थितियाँ निर्मित होती हैं। अतः दोनों पक्षों को परिवार के हित में समझदारी रखनी होगी। इसके लिये परस्पर सम्मान, सम्भाव और धैर्य शांति व सहनशीलता तथा विश्वास की आवश्यकता होती है। लड़कियों को यदि अनुशासन, मर्यादा पालन, आदर व सेवा भाव सहनशीलता और अपनेपन के संस्कार यदि मिलते हैं, तो वह ससुराल में अपने व्यवहार से सबको अपना बना लेती है और सबकी चहेती बनती है।

छत्तीसगढ़ी वैवाहिक संस्कार

राम कुमार वर्मा

सांस्कृतिक दृष्टि से छत्तीसगढ़ अत्यन्त समृद्ध प्रदेश है। यहाँ प्रचलित सोलह संस्कारों में भारतीय जीवन दर्शन, विद्या तथा दार्शनिक-सामाजिक और सांस्कृतिक तथ्यों का सुंदर समावेश होता है। हमारे पुरखों के दार्शनिक चिंतन इतने उत्कृष्ट और मानव को देवत्व की ओर ले जाने वाले थे, जिन्हें आज के भौतिकवादी एवं अन्य संस्कृतियों के प्रति निरंतर आकृष्ट होने वाली पीढ़ी के सामने प्राथमिकता के साथ रखने की जरूरत है। ताकि उन्हें यह अवश्य पता चल सके कि हमारे पुरखों का ज्ञान और बोध संस्कृति के जलस्रोत की तरह निरंतर जीवन को प्रवहमान बनाने की क्षमता रखता है। विवाह संस्कार जीवन का सबसे बड़ा संस्कार है। छत्तीसगढ़ में प्रचलित वैवाहिक संस्कार को लोक अनुष्ठान कहा जा सकता है। इसमें केवल वर-वधू का मिलन करा देना ही पालकों की जिम्मेदारी नहीं होती, वरन् वैदिक रीति से लोक अनुष्ठान का आयोजन कर वर-वधू के सुखी दाम्पत्य जीवन से लेकर परिजनों के मेल-मिलाप का अनूठा अवसर प्रदान करता है।

विवाह संस्कार का उत्तम उल्लेख हमारे पौराणिक ग्रंथ रामायण, महाभारत, शिवपुराण, श्रीमद्भागवत आदि ग्रंथों में मिलता है। विशेष रूप से शिव-पार्वती और राम-सीता, के वैवाहिक प्रसंगों का उल्लेख टीकाकार बहुत भव्यता और संस्कारों से युक्त कर प्रस्तुत करते हैं। साथ ही बड़ी अनोखी बात है कि छत्तीसगढ़ में प्रचलित वैवाहिक संस्कारों व गीतों में शिव-पार्वती, राम-सीता, व अन्य महानायकों के विवाह का उल्लेख होता है। वर-वधू को शिव-पार्वती, राम-सीता या राजा-रानी की संज्ञा देकर संस्कार को पौराणिकता के साथ जोड़ा जाता है। यही कारण है कि यहाँ का वैवाहिक संस्कार लोक अनुष्ठान का स्वरूप धारण कर लेता है। ग्रामीण परिवेश में विवाह होने पर भी राजा-रानी की तरह सम्मान देकर वर-वधू के उत्साह व मान को परिजनों द्वारा बढ़ाया जाता है।

छत्तीसगढ़ में प्रचलित वैवाहिक संस्कार एक तरह का लोक अनुष्ठान है। इस हेतु परिवार वाले वर्षों से व्यवस्था करते हैं। साथ ही पसंद के वर-वधू व परिजनों का आचार-विचार मिलने जैसे मानवीय स्थितियों को ध्यान में रखकर सम्बन्ध स्थापित करते हैं। वर्तमान में वैवाहिक संस्कारों पर आधुनिकता का सीधा प्रभाव पड़ रहा है। इसके बावजूद ग्रामीण क्षेत्रों में पारम्परिक संस्कारों को आज भी माना जा रहा है। उसी नेम-नियमों के अनुसार विवाह सम्पन्न किये जाते हैं। हमारे आदिवासी व सुदूर अंचलों में रहने वाले लोग आज भी अपने जाति-समुदाय के अनुरूप विवाह करना अच्छा मानते हैं। छत्तीसगढ़ में वर-वधू की तलाश से प्रारंभ विवाह सम्पन्न करने तक ऐसे अनोखे व विज्ञान समान नियमों-नेमों को किया जाता है, जो हमारे पुरुषों की बुद्धिमता, वैज्ञानिकता, वात्सल्य और संतान प्रियता का अनूठा प्रतीक है। ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी परम्परागत ढंग से विवाह होता है जो कि एक सुखद संकेत भी है। कम से कम मौलिकता तो बरकरार है।

छत्तीसगढ़ में विवाह वर-वधू पसंद कर लेने से शुरू होता है। परिजन एक-दूसरे के गाँव जाते हैं। पता चलने घर-परिवार और व्यवहार को टटोलते हैं। वर के लायक वधू और वधू के लायक वर का चुनाव करते हैं। वर-वधू को भी एक दूसरे को देखने, बातचीत कर लेने का समुचित अवसर भी प्रदान किया जाता है। इसे मँगनी-जँचनी कही जाती है। फिर वर पक्ष वाले वधू पक्ष के घर परिजनों के साथ 'कन्या हमें पसंद है' की मूल भावना के साथ नेवता खाने जाते हैं। वहाँ पारम्परिक पकवानों के साथ मेहमानों को अच्छा भोजन कराया जाता है। संध्याकाल में वधू को वर के परिजनों के सामने लाते हैं। वह अपने बड़ों के चरण स्पर्श करती है। लोग उसे भेंट स्वरूप रूपये व कोई गहना आदि देते हैं। इसी दिन विवाह का लगन कर वर पक्ष वाले वापस लौटते हैं। फिर दो परिवारों में विवाह की तैयारी होने लगती है।

विवाह के समय घर में मेहमानों की संख्या बढ़ जाती है। ऐसे में भोजन बनाने के लिए बड़े आकार के चूल्हे की जरूरत होती है। इसलिए खवासा यानी वर या वधू के जीजा-फूफा सहित मेहमान गाँव के निर्धारित स्थान से कुंवारी मिट्टी जिस पर कोई फसल हल चलाकर न बोई गयी हो- लेकर आते हैं। इसी से चूल्हा-चूल बनाया जाता है। यहाँ पर दोमइला चार मइला,

छह मइला चूल बनाया जाता है। पहाड़ी क्षेत्रों में तो जमीन को खोदकर लम्बा चूल्हा बना लिया जाता है। इसमें एक साथ चार-छह बर्तन रखकर खाना पका लिया जाता है। इसी दिन से विवाह अनुष्ठान प्रारंभ हो जाता है। आँगन में बाँस का मण्डवा गड़ाते हैं, वर-वधू को अपने-अपने घरों में तेल हल्दी लगाना इसी दिन से प्रारंभ कर देते हैं।

विवाह के प्रारंभिक कार्य शुरू होने के साथ ही दूसरे दिन परिजन गाजे-बाजे के साथ ग्राम के देवी-देवताओं को निमंत्रित करने जाते हैं। इसमें परा में सुवासिनें पूजा की सामग्रियाँ, दीपक व हल्दी लगे चावल को देव स्थानों पर छिड़क कर विवाह निर्विघ्न सम्पन्न करने तथा विवाह गृह में आकर विराजित होंगे-रक्षा करने की कामनाएँ करती हैं। इस नेम को दवतेला कहा जाता है। घर वापस आने पर पुनः वर या वधू को तेल हल्दी चढ़ाया जाता है। इस तरह दिन में पाँच हथेलियों से पाँच बार तक तेल-हल्दी लगाया जाता है।

दूसरे दिन घर में मण्डप छाया जाता है। विशेष रूप से आम, महुआ और गुलर (डुमर) की हरी-हरी शाखाओं से आँगन में छाया की जाती है, ताकि उसी के नीचे बैठकर विवाह के नेम किए जा सकें। इस दिन कुल देवी-देवताओं व ग्राम देवताओं की पूजा की जाती है। रसोई घर में कुल देवता की स्थापना होती है। माता लक्ष्मी का वास भी यहीं होता है। यहाँ नए चूल्हे में सुवासिनों द्वारा माय-मौरी नामक पकवान बनाया जाता है। फिर रात्रि काल में वर के गोत्रज महिला-पुरुष बरगद के पत्तों पर चावल लेकर रसोई घर से आँगन में गड़े मण्डप के पास स्थापित गौरी-गणेश व मगरोहन के सामने होम करते हुए वर के लिए पाँच और वधू के लिए सात फेरे कतारबद्ध ढंग से लगाते हैं। फेरे पूरे होने के बाद एक साथ बैठकर प्रसाद ग्रहण करते हैं। वर के हाथों में पाँच और कन्या के हाथों में सात रोंठ (मोटी मीठी रोटी) बँधा होता है। इसे भी उसी प्रसाद में शामिल कर लिया जाता है। मायन करते समय नए कपड़े बाँटे जाते हैं। अपने पुरखों को याद कर विवाह निर्विघ्न सम्पन्न होने तथा निरंतर परिवार बढ़ने की कामनाएँ की जाती हैं।

विवाह सम्पन्न होने तक वर-कन्या को उचित सम्मान देने तथा उनको उत्साहित करने के लिए राजा-राजकुमारी की संज्ञा दी जाती है। बारातियों को आमंत्रित कर भोजन कराया जाता है।

फिर वर के परिजनों द्वारा उसके सिर पर कलात्मक मउर पहनाकर चावल व गौर की टिकियाँ द्वारा नजर उतारा जाता है। कलश के दीपक की आँच से हथेलियों द्वारा वर को आशीर्वचन स्वरूप कन्या को वरण कर सकुशल घर लौटने की कामना अग्निदेवता से की जाती है। सबसे पहले वर की माता मउर सौंपती है। उसके बाद शेष महिलाएँ केवल विवाहित मउर सौंपती हैं। अंत में वर को उसकी माँ अंतिम बार दुग्धपान कराती है। यह अत्यंत महत्वपूर्ण है और भारतीय दर्शन से जुड़ा हुआ नेग है। इससे वर सहित बारातियों में वीरत्व का भाव जागृत होता है।

वधू ग्राम में बारातियों के पहुँचने पर परिजनों के साथ ही ग्रामवासियों द्वारा जोरदार फूल-हार और गाजे-बाजे के साथ स्वागत किया जाता है। पहले तो बारात परधनी रात्रि में होती थी। तब दोनों पक्ष से अखाड़ा खेल कर अपनी शारीरिक ताकत का परिचय दिया जाता था जो सैनिक होने का प्रतीक था। अब यह पूर्णतः लुप्त हो गया है। अब सामाजिक गड़वा बाजा या धमाल पार्टी के साथ लोग नाचते व खुशी को प्रकट करते हैं। गाँव के गौणन या खुले चौक चबूतरे के पास बारातियों को जलपान कराया जाता है। फिर समधी भेंट कर जनवासे में आराम करवाया जाता है। नेग के समय क्रमशः झाँपी-बलाव, वर-बलाव, समधी-बलाव होता है। देर रात्रि तक मण्डप का कार्य सम्पन्न होता है, जिसमें आनुष्ठानिक ढंग से गौरी-गणेश की स्थापना से लेकर वर-कन्या का सात फेराव कराया जाता है, जो वैदिक युग के वैवाहिक संस्कार का प्रतीक है। यह वर-वधू के दीर्घायु होने से लेकर सुखद दाम्पत्य जीवन के लिए अत्यन्त हितकारी होता है। बाराती भी इस बीच मण्डप में साक्षी और सुरक्षा करने वाले सिपाहियों की तरह मौजूद रहते हैं। अब तो छोटे बच्चे व महिलाएँ भी बड़ी संख्या में बाराती बनकर जाने लगे हैं।

विवाह संस्कार में भाँवर या फेरा पड़ना ही मुख्य नेग है। इसमें वर-वधू को वैदिक रीति से साखोचार कराने के बाद सात फेरे उपस्थित परिजनों व बारातियों के समक्ष लगवाए जाते हैं। यह भावी जीवन में साथ-साथ चलने का प्रतीक है। साथ ही संतानोत्पत्ति से लेकर लोक मंगल, कल्याणकारी कार्यों को दोनों की सहमति से पूर्ण करने, पतिव्रत धर्म का पालन करने, सुख-दुःख में साथ निभाने जैसे मानवीय मूल्यों की दीक्षा का समय होता है। इसके साक्षी व प्रतीक के रूप में सील-बट्टा, मड़वा,

चावल, लाई, हल्दी, सिघोलिया गौरी-गणेश होते हैं। पंडित सभी का महत्व बताते हुए फेरे सम्पन्न कराते हैं। परिजन व अन्य फेरो के बाद ही भोजन ग्रहण करते हैं। बारनों के साथ महिलाएँ हास्य-व्यंग्य से परिपूर्ण भड़ौनी गीतों से बारातियों को ताने मारती हैं। भाँवर के एक-एक नेग दर्शन व दीक्षा से पूर्ण होता है। यह लोकाचार के अनुरूप पूर्ण होने से वर-वधू के लिए बोधगम्य होता है, जो उनके भावी जीवन को निश्चित रूप से सुखद बनाते हैं।

भाँवर पड़ने के साथ ही परिजनों द्वारा नवदम्पति को घर-गृहस्थी के लिए उपयोगी सामग्रियाँ भेंट की जाती हैं। छत्तीसगढ़ में इसे टीकावन टिकना और दाइज-डोर कहा जाता है। सबसे पहले वधू के माता-पिता पचहर यानी पाँच प्रकार के बर्तन देते हैं। इसमें बड़ा हण्डा, कोपरा, बटलोही, थाली, गंजी अवश्य शामिल होता है। इसके बाद शेष परिजन भेंट की सामग्रियाँ देते हैं। इस मौके पर गाँव के लोगों की भी इच्छा होती है कि वे अब ग्राम से विदा होने वाली बेटी को यथाशक्ति भेंट करें। यही वजह है कि घर वालों द्वारा ग्राम के सभी लोगों को नेवता दिया जाता है। इसमें कोई दबाव व पूर्व में की गयी माँग जैसी कोई बात नहीं होती।

बेटी-बहन की विदाई सबके लिए अत्यन्त पीड़ादायी होती है। देवता कक्ष में वर-वधू को सुवासिने तैयार कर बाहर निकालती हैं। वर पहले उपस्थित परिजनों को प्रणाम कर भावी दाम्पत्य जीवन के लिए आशीष लेता है, वहीं वधू भारी मन व गीली आँखों से सुबकते हुए परिजनों से बिछुड़ने के भाव से चरण स्पर्श करती है। बहन-बुआ, सहेलियों से लिपट कर रोने लगती है, पर प्रकृति व लोकरीति के अनुरूप सभी जीवन में सुख-समृद्धि के साथ रहने 'दूधो नहाओ पूतो फलो' की कामना के साथ मन पर पत्थर रख लेते हैं। अंत में अपनी कोख जनी बेटी को पराए घर भेजते हुए सजल नेत्रों से माता यह अमृत कथन के साथ विदा कर देती है- 'जा बेटी आज तू पराई हो गयी, पर दोनों कुल की लाज रखना।' साथ ही दामाद को अँगूठी पहनाते हुए यह भी कहती है कि मेरी बेटी अभी नादान है। इसकी सुरक्षा व जीवन में खुश रखने का प्रयास करना और तब तक उसको निहारती है, जब तक बेटी आँखों से ओझल नहीं हो जाती है। वह भी अपनी छाती पर पत्थर रखकर बेटी के सुखी दाम्पत्य की कामना करती है।

छत्तीसगढ़ में बहू को लक्ष्मी का रूप माना जाता है। बारात वापस आने पर बंद गाड़ी जो कि डोला का प्रतीक है। पहले यहाँ भी डोला में बैठकर बहुएँ आती थी। आज भले ही कार में बैठकर बहू घर आए, पर 'डोला आ गया' ही कहा जाता है, जो हमारी संस्कृति की गहराईयों को स्पष्ट करती है। जैसे बेटे को मउर सौंप कर कन्या ब्याहने भेजे थे, वैसे ही बहू लेकर वापस आने पर परिजनों द्वारा वर-वधू का उचित सम्मान करते हुए मउर सौंपते हैं। उस समय ग्रामीण जन भी आकर नववधू को देखते और आशीर्वाद देते हैं। वधू की सराहना भी करते हैं। इससे वधू ग्राम व परिजनों, नाते-रिश्तों से सहज रूप से जुड़ती चली जाती है। महिलाएँ आज भी इस नेग को प्राथमिकता से पूर्ण करती हैं। इसके लिए वे धन समृद्धि के प्रतीक मथानी, मूसल, सूपा, गोबर व चावल-आटे की टिकिया से वर-वधू के दाएँ-बाएँ छोड़ती हैं।

बारात जाने के पूर्व वर और वधू की कलाई पर कुंवारी धागा का कंकन मउर बाँधा जाता है। इसे कन्या ब्याह कर लौटने पर सबकी उपस्थिति में वर-वधू द्वारा खोला जाता है। इसके पीछे मान्यता यह रहती है कि जिससे खुल जाता है, उसे तेज बुद्धि वाला माना जाता है। कंकन मउर तेल व हल्दी से भीगा होता है। बहुत मुश्किल से खुलता है। साथ ही इसी समय वर-वधू की दूसरी बुद्धि परीक्षा लेने के लिए पासा खेलाया जाता है। इसके लिए कन्या के घर से लाए गोरोचन जल को बड़ी पारात या बड़ी थाली में चावल-सिक्के के साथ डाला जाता है, फिर सुवासिने दोनों को सिक्का पकड़ने के लिए कहती हैं। जो इसमें सफल हो जाता है, उसकी प्रशंसा की जाती है। यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों में कौन तेज बुद्धि या तत्पर है। इस लोकाचार के पीछे वर-वधू के भावी जीवन का दर्शन छिपा होता है।

छत्तीसगढ़ की कई जाति समुदायों में वधू द्वारा ससुराल में मेहमानों के लिए सब्जी काकर परोसी जाती है। ताकि उन्हें यह पता चल जाय कि वधू घर-गृहस्थी और चौका बर्तन के कार्य में कुशल है। इस तरह अनुष्ठान के अनेक नेग-नीति में क्रमशः वर पक्ष में कन्या का और कन्या पक्ष (मैके) की बुद्धि तत्परता, जीवन कौशलों में कुशलता को सुवासिने व परिजन अच्छी तरह परख लेते हैं। इससे नव-दम्पति का भावी जीवन का आकलन हो जाता है।

सम्पूर्ण वैवाहिक कार्यक्रम में अलग-अलग अवसरों पर गीत गाए जाते हैं। मँगनी, जँचनी से लेकर तेलमाटी चूल माटी, मायन, दवतेला, हरदाही, नहडोरी, तेलकंधी, भड़ोनी, विदा आदि के लोकगीत गाए जाते हैं। जो पूर्णतः प्रादेशिक पृष्ठभूमि पर आधारित होने के साथ ही पौराणिक प्रसंगों राम-सीता, शिव-पार्वती को समर्पित होते हैं। कुछ गाँवों में महिलाओं के संगठनों द्वारा इसे पारम्परिक ढँग से गाने का प्रचलन है। वे एकजुट होकर विवाह घरों में जाकर गीत गाती हैं। घर वाले उन्हें उचित नेग या भेंट देकर सम्मानित करते हैं। कुछ जगहों पर सुवासिनें खुद भी गीत गाती हैं। साथ ही कुछ अवसरों पर अपने उत्साह का प्रदर्शन करते हुए नृत्य भी करती हैं। विशेष रूप से 'पर्रा नाच' व 'डिड़वा नाच' नारी प्रधान नाच है। इसमें महिलाएँ पुरुषों की अनुपस्थिति में अपनी दमित भावनाओं का खुलकर प्रदर्शन करती हैं। यहाँ पुरुषों का रूप धारण कर दैनिक क्रियाकलापों और पुरुषों की भूमिका में घर संचालन तथा अन्य कार्यों को पूर्ण करने का अभिनय करती है।

विलुप्तता

वैवाहिक अनुष्ठान के अनेक नेगों को समय की तीव्रता ने लील लिया। वहीं बढ़ती आधुनिकता का रंग नेगों पर चढ़ गया। अब तक इसमें से जेवनार, भाजी खिलाना, सुहाग माँगना, झाँपी, अखाड़ा, द्वार परना, बगरी खाना, बासी माँगना, मायन भात, बराती भात, दूरभत्ता जैसे और भी बहुत महत्त्व के नेग विलुप्त हो गए। लोगों ने उपेक्षित भाव से इन्हें भुला दिया, जबकि इसके पीछे विवाह में गाँव के सभी जाति-धर्म के लोगों का जुड़ाव, सहयोग और साहचर्य की मूल मानवीय भावनाओं का सुंदर समावेश था।

छत्तीसगढ़ी शैली का विवाह आज भी सोलह संस्कारों में श्रेष्ठता और आनुष्ठानिकता को बनाए रखे हुए है। इसमें भले ही आधुनिकता की परत दिनोंदिन चढ़ती जा रही है, पर अभी भी जितना बाकी है उसे लोकाचार व भारतीय दर्शन के साथ जोड़कर देखने तथा भावी पीढ़ी को इसके लाभ से परिचित कराना अति आवश्यक है। वर्तमान समय में ऐसे संस्कारों और अनुष्ठानों को नए दर्शन एवं जीवन कौशल के साथ जोड़कर एक तरह से सामुदायिक शिक्षण की भूमिका को प्रभावी बनाने की जरूरत है।

भोजपुरी संस्कार गीत

पराक्रम सिंह

कश्मीर से कन्याकुमारी तक और गुजरात से असम तक का फैला विस्तृत भू-भाग अपनी संस्कृति, सभ्यता को संजोकर भारत जैसे देश का निर्माण करता है। अनेकता में एकता को समेटने के कारण ही इसमें विकास की अनंत सम्भावनाएँ दिखाई देती हैं। भिन्न-भिन्न जाति समुदाय के व्रत-त्योहार, संस्कार और गीतों की जहाँ बहुतायत हो, ऐसे में किसी राष्ट्र की समानता वहाँ के समाज-धर्म, वेश-भूषा, संस्कृति, सभ्यता से ही पहचान लिया जा सकता है। रंग-बिरंगे मनकों से मिलकर सम्पूर्ण माला को साकार करना भारतीय संस्कार और संस्कृति का ही सामर्थ्य है। पुत्र जन्म, विवाह संस्कार, व्रत-धर्म, जाति, मनोरंजन, श्रम आदि से जुड़े मौखिक गाये जाने वाले गीत हर क्षेत्र में अलग-अलग पये जाते हैं। पंडित रामनरेश त्रिपाठी जी ने ऐसे लोकगीतों को ग्रामगीत के नाम से पुकारा है। यह अंग्रेजी भाषा के (Folk) का पर्याय है और अंग्रेजी में लोकगीत के लिए (Folksong) पर्याय रूप है।

प्रकृति के खुले वातावरण में जीवन व्यतीत करने के कारण लोक की संस्कृति ने ऋतुओं एवं मौसमों के अनुकूल अपने को ढाल लिया है। उनके गीतों के वर्ण्य विषयों में भी इनका विशद वर्णन पाया जाता है। उत्तरप्रदेश के भोजपुरी बोली क्षेत्र आजमगढ़ जनपद के लोकगीतों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। वर्तमान में यह अकबरपुर (अम्बेडकर नगर), जौनपुर, सुल्तानपुर, मऊ, गाजीपुर, गोरखपुर जनपद की सीमाओं को छूता है। ऐसे में इसके अंदर अवधी बोली का संक्रमण देखने को मिलता है, जिसका मुख्य कारण है कि इसके सीमावर्ती तीन जनपद अम्बेडकर नगर, जौनपुर और सुल्तानपुर अवधी भाषी जनपद हैं।

लोकगीतों के सम्बन्ध में डॉ. श्रीधर मिश्र ने कहा है- 'अनुभूतियों के ज्वार में मानव का मन भँवर की भाँति चक्कर काटता है, ऐसी स्थिति में हृदय के कोने से नयी कोयल की भाँति प्रेरणा उपजती है। शब्द मुखरित होते हैं, लय लिपट जाती है और गीत कण्ठ से निहःसृत होने लगते हैं।' लोकगीत को सुविधा की दृष्टि से हम छः भागों में बाँट सकते हैं। संस्कार सम्बन्धी गीत, ऋतु सम्बन्धी गीत, देवता सम्बन्धी गीत, जाति गीत, और श्रम गीत।

जन्म से सभी मनुष्य अनगढ़ होते हैं किन्तु संस्कार ही उन्हें समाज में प्रतिष्ठित स्थान दिलाने का कार्य करते हैं। कला, गान, साहित्य आदि आचरणों के माध्यम से उसे ज्ञान दिलाने का कार्य प्रारम्भ से ही होने लगता है। हिन्दू परम्परा में सोलह संस्कार पाये जाते हैं, जो पुंसवन से लेकर मृत्यु तक किया जाता है। बच्चे का माँ की कोख में आने के तीन महीने से लेकर उसके मृत्यु तक अनेक संस्कार सम्पन्न कराये जाते हैं। पुत्र जन्म पर लोकगीत गाये जाते हैं, जिसे तुलसीदास जी ने रामजन्म के अवसर पर अयोध्यावासियों के द्वारा 'भये प्रकट कृपाला दीन दयाला कौशल्य हितकारी' गाते हुए वर्णित किया है। आज भी पुत्र जन्म के गीत गाये जाते हैं, जो सोहर के नाम से जाने जाते हैं। इस सन्दर्भ में यह गीत कई दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण हो उठता है-

अरे- अरे रतनार होरिलवा सावन जिन जगमऊ हो
ललना सवनय में सखिय सब अइहय झूलन कैइसे जइबय हो...
अरे-अरे रतनार होरिलवा भादौ जिन जनमऊ हो
ललना भादौ के निसि अंधियरिया
बिजली निसि चमकइय गोतिन नहिं
अइहय सोहर नाहीं होइहय हो...
अरे-अरे रतनार होरिलवा कतिक जिन जनमऊ हो
ललना कतिका में तुलसी पुजनिया दियन कैइसे लेसबइ हो ...
अरे-अरे रतनार होरिलवा अगहन तोहु जनमऊ हो
मोरि सठिया भुजइहें बिरन लेसबइ अइहय हो ।

इस गीत के माध्यम से गर्भवती स्त्री पुत्र को जन्म देने के लिए उपयुक्त समय बताया है, वह वर्ष भर में उसके सामने आने वाली समस्याओं का वर्णन करती है पुत्र जन्म के लिए कौन-सा उपयुक्त समय है। जिसमें उसके लिए सभी प्रकार की अनुकूलता रहेगी। इसका संकेत है।

साँझे भयेन नंदलाल हो भोरवय आऊ ननदिया
टेरी प्लास्टर जिन लाऊ ननदिया, रेशम के हमरा रिवाज हो...
पूड़ी बतासा न लाऊ ननदिया, लड्डू के हमरा रिवाज हो.....
भोरवय आऊ ननदिया।

उपर्युक्त गीत से स्पष्ट होता है कि ननद और भौजाई के सम्बन्ध बड़े मधुर रहे हैं। इसी प्रकार जहाँ हम देखते हैं कि ननद की विदाई के लिए पति-पत्नी सलाह करते हैं और भाई उसे भी देने से कैसे मना करता है।

सलाह करा सइया का-का दियाई
सब गहनन में मीना बड़ा है, चुप रहा रानी उहाँ ना दियाई
सलाह करा सइया का-का दियाई
सब बर्तन में चम्मच बड़ा है, चुप रहा रानी उहाँ ना दियाई।

पुत्र जन्म से लेकर उपनयन संस्कार, विद्यारम्भ आदि संस्कारों का अब प्रचलन बहुत ही कम हो चला है। गुरु का स्थान आज के विद्यालयों ने ले लिया है। विवाह जैसा संस्कार आज भी लोक में प्रचलित और सबसे महत्वपूर्ण है। ऐसे में वर पक्ष की तरफ से जहाँ लोकगीत गाये जाते हैं, वहीं वधू पक्ष की तरफ से भी गीत की प्रचुरता देखने को मिलती है। पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने अपने कविता कौमुदी ग्रामगीत भाग पाँच में वर पक्ष की तरफ से सोलह और वधू पक्ष की तरफ से बाईस प्रकार के लोकगीतों का वर्णन किया है। कुछ ऐसे हैं जो कि दोनों पक्षों की तरफ से गाये जाते हैं और उनमें किसी न किसी रूप में समानता होती है। विवाह के पाँच-सात दिन पहले से ही गाना-गाने की प्रथा है, ऐसे में उर्द चाऊर छूने की एक रस्म होती है, जिसे वर-वधू दोनों के यहाँ देखने को मिलती है। पाँच से सात सुहागन स्त्री एक पंक्ति में बैठकर सूप लेकर उर्द-चावल को पछोरने और उस उर्द को चौक में दलने का कार्य करती हैं, इस अवसर पर गीत गाती हैं-

कहंवा से चकिया तोहार जनम भइय,
कहंवा के उछहत जाय।

इसी दिन से गीत गाना प्रारम्भ हो जाता है, जिसे बन्ना-बन्नी के गीत के नाम से जानते हैं। विवाह के तीन दिन पहले वर के घर में और दो दिन पहले वधू के घर में मण्डप गाड़ने का कार्य

क्रिया जाता है। वर पक्ष की तरफ से एक बाँस और वधू पक्ष की तरफ से पाँच-पाँच बाँस से लेकर विषम संख्या में और भी हो सकते हैं। इसमें सम्मिलित गाँव के सभी लोगों के हाथ या पीठ पर हल्दी के निशान लगाये जाते हैं। राम के विवाह के समय मण्डप गाड़ते समय दशरथ का वर्णन इस गीत में हुआ है-

*बसवाँ गड़ावय चले है राजा दशरथ।
अँगुली में गड़गय खपींच*

मण्डप के गाड़ने के बाद से ही विवाह की तैयारी पूरी जोरों पर होती है। लाने-पठाने, निमंत्रण देने आदि का कार्य होने लगता है। एक स्त्री भौरै से संदेश भेजती है-

*अरे-अरे काला भँवरवा कालिय तोरी जतिओ रे
भौरा आजु मोरे पहिला बियाह नेवत देह आवो।।
अरगन नेवत्यों परगन नेवत्यों औरों में नेवत्यों ननिआउर हों।
एक नाहिं नेवत्यों में बिरन भइया जिनसे में रिसियायल।।*

प्रस्तुत लोकगीत में स्त्री अपने भाई से नाराज है और वह अपने भाई को अपने बच्चे की शादी में निमंत्रण नहीं देती हैं और वह जब देखती है कि सभी आये हुए हैं, उसका भाई नहीं आया है। वह दुःखी होती है और पुनः भौरै से कहती है कि निमंत्रण लेकर भाई के पास जाओ-

*सासु जे भेटइ अपने भइयां, ननदा आपन जे बिरन हो।
भँवरा इ दुःख मोही कोइलरिया छतिया उठी धराइयल हो।
भँवरा मोरे आँगन तोहि-फिर आवो बीरन नेवत देह आवो।
आँगन मोरे आवो हो।*

इसी तरफ से रात के अंतिम पहर में गीत गाये जाते हैं, जिसे भोर के गीत नाम से जाना जाता है-

*अरे भोर भइल भिनसार भइल
चिरइयां लागेन बोलन मुरूग लागेन बोलन
सुरज लागेन ऊगन।*

प्रस्तुत गीत से यह लगता है कि स्त्रियों ने इन गीतों के माध्यम से घर के अन्य सदस्यों को भी उठाने का प्रयास किया जाता रहा है। सभी उठकर विवाह की तैयारी में लग जायें। ऐसे अवसर पर (मातृपूजन, भत्तावान, पितर नेवतना) जैसे एक

मांगलिक कार्य का आयोजन मण्डप में होता है। इनके लोकगीतों को गाने में एकता सी ही होती है, जैसे-

*पाँच पवन नव फोकर ओनेहऊ के नेवति ला आज।
ओनहु सरीखे बहुअर देह ओनहु के नेवति ला आज।।
पानी के बुड़ल, आगी के जरल, विदेशे के गयल,
रूखे के चढ़ल, बिच्छी के मारेल, कीरा के काटल,
गरभ के टुटल, ओनहु सरीखे नेवतिला आज।।*

उपर्युक्त गीत के माध्यम से स्त्रियाँ अपने पितर को निमंत्रण देती हैं। चाहे उनकी मृत्यु किसी कारण से हुई हो, वे इस विवाह में आयें, जिससे किसी भी प्रकार का विघटन न हो, वे सब इस विवाह में रक्षा करें।

बारात आने के बाद शाम को सभी बाराती दूल्हे सहित द्वार पर आते हैं। द्वार पूजन होता है, जिसमें मुख्य रूप से गणेश पूजन किया जाता है। इसमें कोई प्रतिमा नहीं होती, इसे गोबर से बनाया जाता है। इस अवसर पर स्त्रियों द्वारा गीत गाये जाते हैं-

*साकर खोरिया बटोरा हो कवन सिंह,
आइ गईले दुअरे बरात कि दल उतरे ला अमवा अमिल तरे
किय रे कदम जुड़ छाय।*

स्त्रियाँ जहाँ एक तरफ स्वागत करती हैं, वहीं दूसरी तरफ बरातियों का उपहास भी करती हैं। अपने गीतों के माध्यम से कटाक्ष करती हैं, जिसे गारी के नाम से जानते हैं। इस सम्बन्ध में स्वयं त्रिपाठी जी और उपाध्याय जी ने अपने मत व्यक्त करते हुए समय के अनुसार इसकी महत्ता को बतलाया है और कहा है कि-

*तिखी पर निकी लेगें, कहिये समय विचार।
सबकें मन हर्षित करे, ज्यों विवाह में गारि।।*

इस तरह स्त्रियों द्वारा गाया जाने वाला यह गारी गीत बड़ा ही रसपूर्ण है, जो हास-परिहास द्वारा थकान मिटाने का भी कार्य करते थे।

*हाथी-हाथी करत रहला।
गदहा चढ़ि के आइला हो।
तोहरी बहिन के समधी सारे आजमगढ़ हँसबउला हो।
तोहरा माई के जेठ सारे गउवाँ मोर हँसवउला हो।*

भोजनोपरान्त वर-वधू पक्ष के लोग मण्डप में जाते हैं, जहाँ विवाह का कार्य आरम्भ किया जाता है। अग्नि साक्षी, सिन्दूर दान, पाँव पूजना, लावा परछना, तागपात, सिन्दूर बहोरने जैसे मांगलिक कार्यक्रम किये जाते हैं। जैसे लावा फूटने के बाद भी धान के छिलके अलग नहीं हुए, उसी तरह से मैं तुमसे कभी अलग नहीं होऊँगा। स्त्रियाँ गीत गाती हैं-

मगनी के तागपात मगनी के भसुर।
छुये हाथ मत छुआ हे जेठ भसुर।।

इस तागपात को डालने के बाद से वह जेठ उस स्त्री को कभी भी अपने हाथ से उसे जाने-अनजाने में कभी नहीं छूता है। ऐसी उम्मीद की जाती है। कन्यादान एक प्रमुख रस्म है, जिसे माता-पिता करते हैं। इस संदर्भ में स्त्रियाँ गीत गाती हैं-

गंगा जमुना के पानी कलस भर लायो।
कवन सिंह दिहै दान सकल सब जानी।।
टूटल फाटल मत दिहा हो बाबा
सौनवन थार परत छहनाय।
दिया हो बाबा अकल कलौर दुहत घर जाय।।

इसी गीत के माध्यम से वधू अपने कन्यादान के समय अच्छा-अच्छा देने की बात कर रही है, जिससे कि उसके माइके की बेईज्जती न हो।

सिन्दूरदान का रस्म बड़ा ही भावुक होता है, साथ ही दो जीवन को आपस में जोड़ने का कार्य भी करता है। जहाँ एक तरफ सिन्दूर को लेकर हर्ष है, वहीं दूसरी तरफ बेटी के घर छूटने का समय रहता है। इसके उपरान्त उस पर पति का अधिकार मान लिया जाता है, जो उसके जीवन के अंतिम समय रक्षा, विश्वास, भरण-पोषण आदि को एक साथ समाहित करता है। इस समय स्त्रियों द्वारा गीत गाये जाते हैं-

बाबा ही बाबा पुकारी ला ना बाबा ही नाहिं बोलय हो।
बाबा के बलजोरिया सुन्दर सिन्दूर डालै हों।

विवाह के बाद विदाई की जाती है। वह कभी गौने के रूप में विषम वर्षों में तो कभी विवाह के साथ ही सम्पन्न होता है। कन्या की विदाई का समय बड़ा ही दुःखद होता है। कुछ लोकगीत इस प्रकार के मिलते हैं-

अमवाँ के तरा डोला करो दे कहरवाँ
तो देख लेती गऊवाँ की ओर

इस प्रकार से विवाह संस्कार के बाद मनुष्य के जीवन का अंतिम मृत्यु या अन्त्येष्टि संस्कार होता है। आत्मा और परमात्मा के मिलन इस लोक से परलोक का मार्ग है। मृत्यु का क्षण दुःख से भरा होता है और इसमें करुण वेदना भरे गीत देखने को मिलते हैं-

भोर नइहरवा से नतवा छोड़ चले जाला
विधवा कांचे-कांचे बंसवा के डोलिया बनबले
ताहि पर काया के सुतबले जाला पियवा।

उपर्युक्त लोकगीतों को देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि इन सब गीतों में कहीं न कहीं इनके अंदर के विरह तो कहीं इनकी प्रबल कल्पना शक्ति और समृद्धि के वर्णन को बतलाने का कार्य करते हैं और सम्बन्धों को मजबूती के साथ बांधने का भी कार्य करते हैं। इन गीतों के माध्यम से समाज की व्यवस्था देखने का पर्याप्त अवसर मिलता है। मनुष्य के जीवन को संसार के अन्य प्राणियों से अलग करने वाले ये संस्कार गीत सदैव समाज में अपने महत्त्व को बनाये रखेंगे। आवश्यकता है इन मौखिक गीतों के मर्म को, समझने के साथ ही लिपिबद्ध करने की जो संस्कृति को समृद्ध बनाते हैं।

आल्हा की आस्था का फूल

डॉ. अंशुबाला मिश्रा

देवी के इक्यावन शक्तिपीठों में मध्यप्रदेश के सतना जिले के मैहर नामक स्थान की एक ऊँची पहाड़ी रामगिरि पर माँ शारदा देवी का दिव्य स्थान है। यहाँ सती के विच्छिन्न अंगों में से एक अंग (दाहिना स्तन) गिरा था। मैहर वाली माता का शक्तिपीठ पूरे देश में विख्यात है। यहाँ देश के कोने-कोने से लोग माँ के दर्शनार्थ आते हैं। दोनों नवरात्रियों में पूरे समय भारी भीड़ होती है। कोई बैठकर तो कोई लेटकर, कोई नंगे पाँव चलकर (बड़ी दूर से) माँ के द्वार तक पहुँचता है। भक्तों की भीड़ में कई निशान (झंडे-पताके) उठाये भक्त नाचते-गाते माँ का जयकारा लगाते हुए चलते हैं। ढोल-नगाड़ों के बीच माँ के जय-जयकारा का समवेत स्वर तुमुल नाद में परिवर्तित होकर भक्ति रस की भावमयी स्वर्गिक छटा बिखेरती है। माँ की सवारी आने पर उछलते-कूदते ग्रामीण भक्तों के मुख से निकलने वाले स्वर मंत्रों की प्रतिध्वनि आस्था और विश्वास का वातावरण निर्मित कर देती है। ऊँची पहाड़ी पर स्थित माँ के दरबार तक पहुँचने के लिए पहले सीढ़ियों पर से जाना पड़ता था, वर्तमान में रोप-वे के माध्यम से सहजता से पहुँचा जा सकता है। इसके अतिरिक्त ऑटो द्वारा जाया जा सकता है। मैहर की अंतिम चढ़ाई की 80 सीढ़ियाँ बिल्कुल खड़ी हैं, जिस पर चढ़ाई करना दुर्गम मार्ग को पार करने जैसा था। परन्तु बच्चे, बूढ़े, जवान सभी माँ का जयकारा बोलते हुए उनके दरबार तक पहुँच जाते हैं। पूर्व में कुल सीढ़ियों की संख्या लगभग 565 थी, जो वर्तमान में यात्रियों की सुविधा के लिए दुगुनी कर दी गई है।

पहाड़ी पर स्थित मंदिर के मुख्य द्वार पर दो दहाड़ते सिंहों की मूर्ति है जहाँ पहुँचते ही प्राचीन समय की प्रचलित किंवदंती की याद ताजा हो जाती है। कहते हैं- शेर प्रतिदिन माता के दर्शन करने रात में आता है। शेर आता है या नहीं, परन्तु शेर की प्रतिकृति के

दो शेरों को देखकर शेरवली माँ की छबि आँखों के सम्मुख उभर आती है और किंवदंती सत्य सी लगने लगती है। पहले यहाँ घना जंगल था, लोग आने में डरते थे। ऐसे में शेर का मंदिर प्रांगण में आना अविश्वसनीय नहीं लगता। परन्तु शेर द्वारा माँ के दर्शन करने के निमित्त आना लोक आस्था का एक जीवंत उदाहरण है। मैहर वाली माँ को अजेय एवं अमर योद्धा आल्हा की कुल देवी माना जाता है। मंदिर की पहाड़ी के नीचे आज भी आल्हा का अखाड़ा बना हुआ है, जहाँ वह कुशती लड़ता था और व्यायाम करता था। आल्हा बुंदेलखण्ड के थे, जिनकी लोक गाथा आज भी सावन मास में बुंदेलखण्ड एवं उत्तर भारत के कई क्षेत्रों में गायी जाती है।

वीर-रस से ओतप्रोत आल्हा की वीर गाथा के प्रारम्भ में मैहर वाली माँ का सुमिरन किया जाता है। लोक-कथा के अनुसार आल्हा प्रतिदिन मैहर वाली देवी के दर्शन करने आता था और प्रत्येक कार्य या युद्ध प्रारम्भ करने के पहले शारदा माँ (मैहर की देवी) की स्तुति करता था। लोक आस्था है कि अमरत्व को प्राप्त आल्हा आज भी रात्रि के अंतिम प्रहर में माँ के दर्शन करने आता है और माँ के चरणों में एक ताजा गुलाब का फूल चढ़ाकर चला जाता है। प्रातःकाल जब पहली बार माँ का पट खुलता है तो एक ताजा फूल माँ को चढ़ाया हुआ मिलता है। इस घटना को प्रत्यक्ष देखा गया है। गुलाब का यह ताजा फूल कब चढ़ाया जाता है, कौन चढ़ाता है- इसे किसी ने नहीं देखा। इस आस्था को आँखों से देखा और परखा जा सकता है। मंदिर में प्रातः काल प्रथम प्रवेश पीछे के रास्ते से पुजारी करते हैं और वही दस मिनट बाद पट खोलते हैं, जिसे देखने के लिए सैकड़ों भक्त प्रतीक्षारत रहते हैं। पट खुलते ही गुलाब का फूल और माता के दर्शन होते हैं। तत्पश्चात् भव्य श्रृंगार करने के पश्चात् (30 मिनट बाद) पट पुनः खुलता है और आरती की जाती है। इस लोक आस्था में क्या सच है, क्या झूठ- नहीं पता। परन्तु इतना जरूर सच है कि लोक आस्था के आधार के मूल में कोई न कोई घटित घटना का अंश अवश्य रहता है, जो अपने बदले हुए परिवेश में अपनी वास्तविकता एवं सत्यता को पीछे छोड़ चुका होता है।

महाभारत के वन पर्व के अनुसार ऋषिकेश से बद्रीकाश्रम तक के वनप्रदेश को कजली वन कहा गया है। इसके अनुसार

इस कजली वन में अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमान, विभीषण, कृपाचार्य और परशुराम ये सात अमर पुरुष सदा निवास करते हैं। पौराणिक मान्यता से हटकर लोक जीवन में बारह अमर लोक की मान्यता है, उसमें एक नाम आल्हा का भी है, जिसने माँ शारदा देवी को अपना सिर चढ़ाकर अमरत्व का वरदान प्राप्त कर लिया था, जैसा कि माँ की आरती में भी उद्धृत है-

*नंगे पग तेरे आल्हा आया, चरणों में शीश चढ़ाया।
सुन मेरी देवी पर्वत वासिनि, तेरा पार न पाया।।*

लोक कथा के अनुसार माँ की आराधना में रत आल्हा ने अपना शीश काटकर माँ के चरणों में अर्पित कर दिया था। आल्हा की इस आत्मोत्सर्ग पूर्ण साधना से प्रसन्न होकर माँ जगदम्बा जगत्जननी शारदा देवी ने उसके सिर को पुनः जोड़ दिया और अमर हो जाने का वरदान दिया। माँ तो जीवनदात्री हैं, वह कभी जीवन की बलि नहीं लेती। इस प्रसंग से बलि देने वाले लोगों को सीख लेनी चाहिए और सामाजिक कुरीति एवं हिंसा की प्रवृत्ति से बचना चाहिए। लोक मान्यता के अनुसार अमरत्व प्राप्त कर लेने पर आल्हा प्रत्येक विशेष पूजा में आज भी माँ को ध्वजा एवं नारियल चढ़ाता है और आल्हा के न आने पर माँ बड़ी बेसब्री से उसकी प्रतीक्ष करती है-

*तीन ध्वजा तीनों लोक से आयी
आल्हा की ध्वजा नहीं आई हो माँ।
मैया आल्हा की ध्वजा नहीं आई हो माँ।।
जाओ-जाओ हो मोरे लंगुरवा।
आल्हा को पकर ले आओ हो माँ।।
एक बन नाके दूजे बन नाके।
तीजे बन मोहवा लोक हो माँ।।
गाँव की पनिहारन से पूछे लंगुरवा।
आल्हा को पता बता बताओ हो माँ।।
बीच में होवे आल्हा को मकनवा।
वहीं पे टेर लगाओ हो माँ।।
आल्हा-आल्हा खूब पुकारा।
आल्हा खड़े नदिया के घाट हो माँ।।
बाँध लँगोटी आल्हा नहावे।
सरसो तेल लगा रहे माँ।।*

पड़ी नजरिया जब आल्हा की।
 मनमें गये घबराय हो माँ॥
 कौन दिशा से आये हो लंगुरवा।
 कौन संदेशो लाये हो माँ।
 मैहर से हम आये हैं आल्हा।
 शारदा तुम को बुलाई हो माँ॥
 कैसे के हम चले हो लंगुरवा।
 नहीं कछु हमरे पास हो माँ॥
 पान-सुपारी ध्वजा नारियल।
 लेहें बालक की भेंट हो माँ॥
 एक बन नाकें दूजे बन नाके॥
 तीजे बन मोहवा लोक हो माँ
 खोलो किवड़िया दर्शन दे दो।
 आल्हा खड़ो तेरे द्वार हो माँ॥

आकाश, पाताल एवं पृथ्वी तीनों लोकों का प्रतिनिधित्व करने वाली ध्वजाएँ माँ शारदा भगवती जगदम्बा को चढ़ाने के पश्चात् वे आल्हा की चौथी ध्वजा की प्रतीक्षा करती हैं। प्रश्न उठता है कि क्या आल्हा इन तीनों लोकों से अलग लोक का प्राणी है, जो अपने लोक का प्रतिनिधित्व करता है और जिसकी ध्वजा का माँ इंतजार करती हैं। इस लोक गायन में लोक परम्परा का वह तथ्य समाहित है, जिसमें आल्हा को अमर मानकर अमर लोक एक चौथे लोक का प्राणी बना दिया गया है। अमर लोगों का निवास आकाश, पाताल एवं पृथ्वी के भौतिक लोक से अलग

लोक में रहता है। विशेष पूजा के अवसरों पर आल्हा पूरी परम्परा के साथ माँ को ध्वजा चढ़ाता और प्रतिदिन प्रातःकाल गुलाब का वह ताजा फूल चढ़ाता है, जिसकी भीनी-भीनी सुगंध से माँ का दरबार महक उठता है और उसी महक में माँ के दरबार की दिनचर्या प्रारम्भ होती है। धन्य है माँ का यह अनूठा सत्कार और धन्य है आल्हा की अमर आस्था का निर्वाह तभी तो भक्त गाते हैं-

मैहर की शारदा भवानी, अमर तोरी जग में कहानी
 अंधा जो आवे मैया तेरी शरण में, नैना देओ महारानी,
 अमर

माँ की महिमा बड़ी अद्भुत और निराली है। इसीलिए वर्ष के बारहों महीने माँ का दरबार भक्तों से भरा रहता है-

जब देखा तब भरा भवन है।
 कबहुँ न देखा भवन खाली॥
 काहे के लिए मैया ध्वजा नारियल।
 काहे के लिए रूपैया थाली॥
 दूधा के लिए मैया ध्वजा नारियल।
 पूता के लिए रूपैया थाली॥

माँ अपने भक्तों पर कृपा करती हैं उनकी मुरादें पूरी करती हैं। ऐसी करुणामयी है माँ शारदा।

संदर्भ

1. देवी पुराण (महाभागवत) शक्ति पीठाङ्क, पृष्ठ 40
2. हिन्दी साहित्य कोश भाग- 1, पृष्ठ 156

मिट्टी के बर्तन और चित्रकारी

डॉ. सुधीर कुमार

किसी प्राचीन कला-कौशल के अध्ययन के लिये यह आवश्यक है कि उसके आधुनिक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया जाये। जो ज्ञात है उसी के धरातल का अन्वेषण वैज्ञानिक रूप धारण कर सकता है। प्राचीन भारत के मिट्टी के बर्तनों के अध्ययन के लिये आज के मिट्टी के बर्तनों के बनाने की क्रिया, उनके आकार तथा उन पर हुई चित्रकारी उतनी ही उपयोगी सिद्ध होगी, जितनी आज की मूर्ति-कला के ढंग को जानकर प्राचीन मूर्ति कला का अध्ययन। सौभाग्य से भारत में अब भी प्राचीन कला-कौशल कुछ-कुछ उसी रूप में विद्यमान हैं, जिस रूप में आज से दो हजार वर्ष पूर्व थे। इस कारण इस प्रकार के अध्ययन में वे बहुत सहायक हो सकते हैं। भारत के प्रत्येक नगर और गाँव में कुम्हार मिट्टी के बर्तन बनाते हैं, और हर नगर की अपनी-अपनी विशेषता है। इनमें अपनी-अपनी सुगढ़ता है। काशी, लखनऊ, प्रयाग, पटना सभी स्थानों पर पुरवे, कसोरे बनते हैं, परन्तु आकार इन सभी के एक प्रकार के नहीं होते। काशी के बर्तनों की गोलाई शुद्ध रहती है, कोर एकदम समतल, पेंदी साफ कटी हुई, बाहर और भीतर के भाग चिकने- परन्तु पटना के बर्तन मोटे होते हैं, उनमें वह सफाई नहीं पायी जाती है। काशी के बर्तनों को देखकर बहुत से बाहर के यात्रियों को यह भ्रान्ति हो जाती है कि ये साँचे में ढले हैं। इनके आकार कला की दृष्टि से अत्यंत उत्कृष्ट हैं।

ये बर्तन प्रायः कुम्हार चाक पर बनाते हैं। केवल बड़े बर्तन जैसे नाद और कुण्डे थपुओं से पीटकर बनाए जाते हैं। खिलौने के लिए साँचे उपयोग में लाये जाते हैं, परन्तु बर्तनों के लिए नहीं। कुम्हार के चाक का भारत में कब आविष्कार हुआ- यह कहना कठिन है, क्योंकि हमें आज से 5000 वर्ष पूर्व के भी जो बर्तन 'सिन्धु-सभ्यता' से प्राप्त हुए हैं, वे भी हाथ के चाक पर बने हुए हैं। इसके आविष्कार ने मनुष्य के जीवन में एक क्रांति उत्पन्न कर दी होगी, इसमें संदेह नहीं है। यह चाक, जो हमें आज कुम्हारों के घरों में

दिखाई देता है, प्रायः उसी आकार का है- जैसा प्राचीन भारत में होता था। इसके आकार में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। यूरोप में चाक का आकार बहुत कुछ बदल चुका है। वहाँ चाक मशीन की भाँति पैर से चलने लगा है और उसी आकार का बनने लगा है। प्रायः आजकल तीन प्रकार के बर्तन बनते हैं- एक सादे, दूसरे रंगीन और तीसरे चमकदार। सादे मिट्टी के बर्तनों का रंग पीला, भूरा या सिलेटी रहता है। रंगीन बर्तनों का रंग चमकता हुआ लाल रंग का होता है और चमकदार बर्तन चुनार के बर्तनों की भाँति चमकदार रहते हैं। चमकदार बर्तन प्रायः हरे, नीले, भूरे, काले रंग के मिलते हैं। काशी में आज भी मिट्टी के बर्तनों का व्यवहार बहुत अधिक है, क्योंकि यहाँ के निवासी मिट्टी के बर्तनों को सबसे पवित्र समझते हैं और एक ही बार व्यवहार करके फेंक देते हैं। सबसे अधिक उपयोग में आने के बर्तनों में पुरवा, कसोरा, परई, हंडिया, गगरी, दिउली, दीया, सुराही, गौरहया, तशतरी इत्यादि हैं। सभी एक बार उपयोग में आते हैं। सुराही, गगरी जिसमें पानी रखा जाता है, कुछ दिनों तक काम में लायी जाती है। चिलम में आग रहती है, इससे यह अशुद्ध हो जाता है और एक बार व्यवहार के बाद फेंक दिया जाता है। इसी प्रकार और भी बर्तन जैसे कसोरा इत्यादि भी उपयोग के पश्चात् फेंक दिये जाते हैं।

कुम्हार इनको बनाने हेतु प्रायः मिट्टी आस-पास के प्राचीन पोखरों से लाते हैं, जिनमें प्रायः पानी साल भरा भरा रहता है। प्राचीन नगरों में छिछले कच्चे जलाशय कम नहीं हैं, वैसे इनकी संख्या धीरे-धीरे कम होती जा रही है। प्रायः बर्तन बनाने की मिट्टी जलाशय के बीच में से लायी जाती है, क्योंकि यहाँ मिट्टी चिकनी रहती है और पानी में पड़े-पड़े सड़ कर लसदार हो जाती है। इस मिट्टी को घर लाकर कुम्हार 5-6 दिन भलीभाँति पानी देकर पाँव से रौंदते और सड़ाते हैं, जिससे उस मिट्टी में और लस उत्पन्न हो जाये। इसके पश्चात् मिट्टी का लोंदा बनाकर उसे हाथ से बेलते हैं, जिससे छोटी-छोटी कंकड़ी साफ हो जाये। फिर लोंदे बनाकर जमीन पर पटकते हैं, जिससे हवा के बुलबुले जो मिट्टी में रहते हैं- निकल जायें। इतना परिश्रम करने के बाद मिट्टी चाक पर रखने के लायक होती है। मिट्टी की यह दुर्गति देखकर बरबस कबीर का निम्नांकित दोहा याद आ जाता है-

*माटी कहे कुम्हार से, तू क्या रूँधे मोहिं।
एक दिन ऐसा होयगा, मैं रूँधूँगी तोहिं।।*

चाक, जिस पर बर्तन बनता है, उसके दो भाग होते हैं- नीचे का, दूसरा ऊपर का। एक गोल पत्थर जिसका वृत्त प्रायः 1.5 फुट रहता है, पृथ्वी में गाड़ दिया जाता है। इसके बीचों-बीच एक खूँटी, जो पुराने इमली के पेड़ के तने की लकड़ी की होती है, पत्थर में छेद करके ठोंक दी जाती है। इसी खूँटी पर ऊपर का पत्थर घूमता है, इस कारण इसे खूब पक्की लकड़ी का बनाते हैं। ऊपर के पत्थर का वृत्त प्रायः 4 फुट रहता है। यह भी गोल रहता है। इसकी मोटाई 1.5 इंच से अधिक नहीं रहती और इसके ऊपर के भाग में एक रेखा कोर के पास बनी रहती है और बीच में एक गोल आकार एक सूत उठा हुआ पत्थर में कटा रहता है। कोर इस पत्थर की गोल रहती है, इस ऊपर वाले पत्थर में नीचे की ओर एक छेद रहता है। प्रायः ये दोनों पत्थर चुनार के पत्थर के बनते हैं और इन्हें संगतराश बड़ी सुन्दरता से गढ़ते हैं। ऊपर के पत्थर को खूँटी पर रखकर कुम्हार दाहिने से बायें एक नुकली लकड़ी के डण्डे के सहारे घुमा देता है। डण्डे की नोंक को ऊपर के पत्थर की कोर के पास बनी रेखा में डालकर पत्थर घुमाया जाता है। कुम्हार प्रायः पूर्व या उत्तर की ओर मुँह करके बैठता है। चाक पर बैठा हुआ कुम्हार ब्रह्मा की भाँति जब चाक को घुमा देता है, तब ऐसा प्रतीत होता है कि वह संसार से परे का कोई जीव है, जो इस संसार चक्र को चलाकर अलग बैठा हुआ उसकी गतिविधि का निरीक्षण कर रहा है।

मिट्टी के लोंदे को घूमते हुए चाक पर रखकर कुम्हार अँगूठे, उँगलियों और हथेली के सहारे कभी मिट्टी को दबा कर, कभी छोड़कर इच्छित आकार के बर्तन निर्माण करता है। जैसे मनुष्य एक ही आकार के होते हुए भी भिन्न-भिन्न रहते हैं, उसी प्रकार इन बर्तनों में कुछ भिन्नता रहती है। सधे हुए हाथ से बनने के कारण प्रत्यक्ष तो कोई अंतर अनुभव नहीं होता, परन्तु यदि सूक्ष्म जाँच की जाये तो थोड़ा-बहुत अंतर मिल ही जायेगा। हाथ कभी यंत्र की पूर्ति नहीं कर सकता, यह तो मन से सम्बन्धित होने के कारण मन की ही भाँति चलता है। बर्तन को चिकना करने के लिए कुम्हार प्रायः हाथ में पानी लगाता है, जो उसके पास ही कठौते में रखा रहता है। परन्तु कभी-कभी वह एक छोटी चिकनी लकड़ी का भी चाक पर घूमते हुए बर्तनों पर उन्हें चिकना करने के लिए उपयोग करता है, जिसमें अँगुलियों की रेखाएँ भी बर्तन पर से मिट जाती हैं। ज्यों ही बर्तन बनकर तैयार होता है, कुम्हार

शीघ्रता से उसे पतले डोरे के सहारे काट कर अलग करता है कि दर्शक देखते ही रह जाते हैं। यह डोरा उसके अँगूठे में से लेकर एक छोटी लकड़ी के टुकड़े से बँधा रहता है। कभी-कभी बर्तन को चाक पर से उतार कर चाकू से भी छील कर साफ किया जाता है।

इन बर्तनों को काठ के तख्तों पर सुखाने के लिए रख दिया जाता है। ये जब थोड़ा कड़े हो जाते हैं, तब इन्हें उठाकर धूप में रखते हैं। इनमें प्रातः काल के ही सूर्य की रश्मियाँ लगने दी जाती हैं, जिससे ये अधिक गर्मी पाकर चिटकने न लगे। दिन के दस बजते-बजते इन्हें पुनः धूप से अलग करके घर में रख देते हैं। लम्बे तख्त पर रखने के कारण इन्हें उठाकर एक दूसरे स्थान पर ले जाने में कठिनाई नहीं होती। थोड़ा सूख जाने पर गोरइया में टोटी, दीयट में मूँठ, प्याले में पेंदी इत्यादि लगायी जाती है। इस प्रकार के बर्तनों की टोटी, मूँठ, पेंदी इत्यादि अलग से बनाकर जोड़ी जाती है। टोटी तो प्रायः बर्तन में छेद करके लगाते हैं, मूँठ बर्तन के ऊपर से मिट्टी और पानी लगाकर जोड़ते हैं, पेंदी बर्तन सूखने पर उसे सादी चाक पर रखकर जोड़ते हैं। बर्तन के और अंग जैसे सुराही की ग्रीवा या चिलम की बैठक भी पीछे से जोड़ी जाती है। ये सब बर्तन जब पूर्ण रूप से सूख जाते हैं, तभी इन्हें आँवाँ में पकाया जाता है।

आँवाँ लगाने की भी एक विशेष क्रिया है। आँवाँ लगाने के पूर्व पृथ्वी को गोबर से लीप कर शुद्ध करते हैं, क्योंकि हिन्दू प्राचीनकाल से अग्नि को देवता मानते हैं और अग्नि का आह्वान शुद्ध स्थान पर किया जाता है। दूसरा लाभ यह होता है कि गोबर आग की गर्मी को पृथ्वी में लुप्त होने से रोकता है। इसके पश्चात् बीच में एक मिट्टी की चिमनी रख गोहरी खड़ी चुन देते हैं, बर्तन उलट कर एक के ऊपर दूसरा रखते हैं। बड़े-बड़े बर्तन नीचे और छोटे ऊपर रहते हैं, परन्तु पुरवे की एक कतार सबसे पिछले आँवों के चारों ओर लगायी जाती है। ये इस प्रकार बर्तनों को चुनते हुए चार फुट ऊँचाई तक चले जाते हैं, फिर इन बर्तनों पर राख चढ़ा देते हैं और उसके पश्चात् गोहरी चारों ओर ऊपर तक सजाते हैं। इनके साथ स्थान-स्थान पर फूस और सूखी पत्ती इत्यादि रखते जाते हैं। फिर राख चढ़ाकर मिट्टी से लेप कर आँवाँ बंद कर देते हैं। आँवाँ में नीचे पृथ्वी के पास एक छिद्र छोड़ते हैं और ऊपर का मुँह खुला रखते हैं। इस ऊपर के मुँह में

से आँवाँ में अग्नि डाल देते हैं। अग्नि के समावेश से फूस जल उठता है और गोहरी को भी प्रज्वलित कर देता है। नीचे के छिद्र से हवा प्रवेश करके धुएँ को ऊपर उठने में सहारा देती है। जब धुआँ निकल जाता है और आँवाँ दहकने लगता है तो ऊपर के मुँह को भी पत्थर से बंद करते देते हैं। आँवाँ जब तक बाहर से बिल्कुल ठंडा नहीं हो जाता, वह खोला नहीं जाता। आँवाँ खोलने पर भी बर्तनों को राख में ही पड़े रहने देते हैं, जिससे वे धीरे-धीरे ठण्डे हो जाते हैं। कभी-कभी बर्तनों पर काले दाग जो दिखाई देते हैं, वे बर्तन के पूर्ण न सूखने के कारण पड़ जाते हैं। यदि इन्हें पुनः आँच पर रखा जाय तो ये दाग मिट जाते हैं।

एक दूसरे प्रकार से भी आँवाँ बनाया जाता है। यह आँवाँ तेज आँच देने के लिये विशेष उपयुक्त होता है। इसको बनाने के लिये जमीन खोदकर एक गोल-सा गड्ढा करते हैं। एक ओर से उसका मुँह बनाते हैं, जो लम्बा होता है। फिर भी उस गड्ढे को सींकचे से पाटकर उस पर मिट्टी फैला देते हैं और बीच-बीच में छेद बना देते हैं। उस पर साधारण आँवों की भाँति गोहरी चुनकर बर्तन जमा देते हैं। नीचे से इसमें आँच लगाते हैं और ऊपर भी गोहरी की आँच रहती है।

रंगीन बर्तन आजकल प्रायः लाल रंग के बनते हैं। इनको पकाने के पूर्व ही रंगना पड़ता है। धूप में सूखे हुए बर्तनों पर आँवाँ में रखने के पहले कुम्हार एक प्रकार का लेप लगा देते हैं, जो कापिस (एक प्रकार की विशेष मिट्टी), खैर (कत्था), सिन्धुरिया आम की छाल और कपड़ा धोने वाला सोडा मिलाकर बनाया जाता है। यह लेप कपड़े के पोचाड़े से बर्तनों पर कुम्हारों की स्त्रियाँ लगाती हैं। कापिस धान के खेत से पुरुष ही खोदकर लाते हैं। इसे स्त्रियों को नहीं छूने देते। इसमें लोहे का अंश विशेष रहता है। इस लेप के सूखने पर जब इन बर्तनों को आँवों में पकाते हैं, तो इन पर एक प्रकार का चमकदार लाल रंग चढ़ जाता है। लाल रंग हमारे यहाँ शुभ समझा जाता है। इसी कारण विशेष प्रयोग होता है। दूसरे रंग भी इसी प्रकार बर्तनों पर चढ़ाये जा सकते हैं, परन्तु उनमें कापिस का होना आवश्यक है।

चमकीले बर्तन बनाने का ढंग भिन्न है। पहले सादे बर्तनों की भाँति पका लिये जाते हैं परन्तु सादे बर्तनों से ये कुछ मोटे बनाते हैं। रंग लगाने के पूर्व इन्हें धूप में रखते हैं। धूप में जब ये

गरम हो जाते हैं तब इन पर कूची (ब्रश) से रंग, पीसा हुआ काँच और सुहागे का लेप चढ़ाते हैं। यह लेप ठण्डे पानी में बनाया जाता है। काशी के हड़हा मुहल्ले में काँच की शीशी इत्यादि बनती है, यह काँच बहुत पतला रहता है, इसी को कुम्हार पीस लेते हैं। रंग धातु के दिये जाते हैं जैसे काले-भूरे रंग के लिए मैगनीज का व्यवहार करते हैं, हरे रंग के हेतु ताम्बे का बुरादा, लाल रंग के लिए लोहे का बुरादा इत्यादि। इस रंग को सुहागे के साथ पीसते हैं। प्रायः रंग की मात्रा 20 प्रतिशत, काँच की 50 प्रतिशत, सुहागे की 30 प्रतिशत रहती है। सूखने के पश्चात् इस पर चमक चढ़ाई जाती है, अर्थात् इसी बर्तन पर सोहागा और केवल काँच का लेप एक बार और चढ़ा देते हैं, फिर सुखा देते हैं। जब यह लेप भी सूख जाता है तो बर्तन को हल्के हाथ से पानी से पोंछ देते हैं, जिससे भट्टी में ये एक दूसरे से चिपक न जायें। इसके पश्चात् इन बर्तनों को भट्टी में रख देते हैं।

इस प्रकार के बर्तनों पर चमक चढ़ाने के लिए एक विशेष प्रकार की भट्टी बनती है। इस तरह की भट्टियाँ भारत में प्रायः 5000 वर्ष से बनती रही हैं, क्योंकि इसी से कुछ मिलती-जुलती भट्टियाँ हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में भी प्राप्त हुई हैं। यह भट्टी ईंट और गारे से बनायी जाती है। प्रायः यह गोल रहती है और इसकी ऊँचाई चार फुट के लगभग होती है। ईंट जोड़कर इसे बनाते हैं और भीतर-बाहर मिट्टी का पलस्तर कर देते हैं। इसमें ऊपर के तीन-चौथाई भाग को छोड़कर लोहे की छड़ लगाकर और उस पर मिट्टी चढ़ाकर एक खण्ड कर और देते हैं, जिससे यह भट्टी भीतर की ओर से दो खण्डों में विभाजित हो जाती है। नीचे आग रहती है और ऊपर बर्तन। बीच की छत में कई छिद्र रहते हैं जिससे आग ऊपर जाती है। इसी हेतु सामने से भट्टी में एक मुँह बना रहता है, जिससे ऊपर हवा खिंचती है। इसी के ऊपर एक छोटा छिद्र भी रहता है, जिससे भीतर की आग का निरीक्षण हो सके। धुआँ निकलने के लिए भट्टी के ऊपर के भाग में एक ओर एक चिमनी-सी लगी रहती है। यह भी हवा को ऊपर खींचने में सहायक होती है। बर्तन इस भट्टी में अलग-अलग चुनकर बीच के छेद के चारों ओर रखे जाते हैं और आग

प्रज्वलित करने के पश्चात् भट्टी के ऊपर का मुँह एक गोल पत्थर रखकर गीली मिट्टी से बंद कर दिया जाता है। मिट्टी में इस प्रकार प्रायः 700 या 800 सेण्टीग्रेड का ताप उत्पन्न हो जाता है, जिससे बर्तनों के ऊपर का काँच मिश्रित लगा हुआ लेप गलकर बर्तन पर फैल जाता है। फिर बर्तन को धीरे-धीरे ठंडा हो जाने देते हैं। जब भट्टी बिल्कुल तापरहित हो जाती है, तब उसे खोलकर बर्तन निकाल लेते हैं। यदि किसी बर्तन पर कोई धब्बा आ जाता है तो उसको बोरसी (गोरसी)की आँच पर गरम करके रंगमिश्रित घोल पुनः लगाते हैं। उपर्युक्त भट्टी बहुत दिनों तक काम देती है, आँवों की भाँति एक ही बार नहीं चढ़ती।

कुछ बर्तन जैसे तश्तरी, मिट्टी को चकले पर रोटी की भाँति बेलकर और फिर मिट्टी के साँचे से दबाकर बनाई जाती है। नाँद के लिए दूसरी नाँद पर मिट्टी थोप कर बनती है। थोड़ा सूखने पर उसे उतार लेते हैं और फिर सुखाकर उसे आँवों में पकाते हैं।

मिट्टी के खिलौने जो रंगीन बनते हैं, उनको साँचे में ढालकर आँवों में पका लेते हैं- परन्तु इनके लिए बड़ा आँवाँ न लगाकर छोटा-सा आँवाँ गोहरी (कण्डा) का लगा लेते हैं और ये जब पक जाते हैं, तब इन्हें खड़िया में पहले रंगते हैं और उसके पश्चात् विविध रंग गोंद में मिलाकर लगाते हैं। सब रंग सूखने पर इन पर चपड़े की वारनिश करते हैं। कुछ चमकीले खिलौने जैसे चुनार में बनते हैं, काशी में भी बनते हैं। ऐसे बर्तन बनाने के लिए उपर्युक्त चमकदार बर्तनों के बनाने की युक्ति अपनायी पड़ती है।

कुछ बर्तनों पर नक्काशी भी बनती है। यह दो प्रकार से बनती है- या तो खोदकर या ऊपर से चिपकाकर। खुदाई जब बर्तन कच्चा रहता है, तभी की जाती है और चिपकाने के लिए फूल-पत्ती साँचे में ढाल कर बर्तन सूखने पर उस पर पानी के सहारे चिपका देते हैं। यह सब कृत्य बर्तन को आँवों में डालने के पहले ही किया जाता है। बर्तनों पर छापे का कार्य अब प्रायः नहीं होता। प्रथम शताब्दी के राजघाट (वाराणसी) के बर्तनों पर बड़ी सुन्दर छपाई प्राप्त हुई है।

संदर्भ

1. वेबस्टार्स, न्यू इण्टर नेशनल डिक्शनरी-पृ. 1933
2. वल्स- एक्सकवेरेंस एट हड़प्पा- पृ.470, माकेन-फरदर एक्सवेरेंस एट मोहन जोदड़ो - प्लेट 50 वी.डी.

डोमकच

डॉ. उषा वर्मा

खुशी और उल्लास की समवेत मधुरिम गीत ध्वनि से विवाह मण्डप भीग रहा है। बहनें आरती की स्निग्ध दीप मालाओं से भाई की आरती उतारती हुई बारात को विदा कर रही हैं। सुरमई शाम ढल चुकी है। घर गाँव के लगभग सभी पुरुष समाज बारात के साथ बेटा ब्याहने जा रहे हैं। घर में सिर्फ औरतें हैं। ऐसे में रात भर जागकर गाँव-घर की रक्षा का प्रश्न उनके सामने खड़ा हो गया है। प्रकृति प्रदत्त नींद की समस्या भी आड़े खड़ी है। नींद भरी आँखों से नींद भगाकर बिना ऊबे रात भर जागते रहने के लिए कुछ न कुछ मनोरंजन का आयोजन तो करना ही होगा। वैसे मनोरंजन के साथ रात बिताने अथवा किसी प्रकार के बाहरी भय से त्राण पाने के लिए परम्परा पोषित 'रतजगा' भारत की धरती पर अरण्यक काल से चली आ रही है। आदिम काल में दिनभर जीवनाहार के लिए मनुष्य जिन जानवरों का शिकार करता था, उन्हीं आदमखोर जानवरों के भय से अपने जीवन के लिए रात-रात भर जागना उस काल के मानव समूह की दिनचर्या और जीवनचर्या बन गयी थी। ऐसे में वे जानवरों की खाल पहनकर वृक्षों के पत्तों से अपने अंग-प्रत्यंग ढँककर उनकी आवाज की नकल उतारते तथा वृक्ष की टहनियों को जमीन पर समवेत रूप में पटक-पटक कर संगीतमय ध्वनि के साथ मंडलाकार नृत्य करते हुए रात गुजारा करते।

धीरे-धीरे समाज बदला, मानसिक चेतना का विकास हुआ। मानव समूह जंगलों, कंदराओं, गुफाओं से निकलकर समतल मैदान, नदी तट की ओर आवास ढूँढने निकला, परन्तु रतजगा अथवा सामूहिक नृत्य इनके जीवन का उल्लासमय जीवन छंद बना रहा। यही सामूहिक नृत्य-गीत दिनभर काम करने के पश्चात् थके तन-मन को रात में आनंद देने के लिए तथा थकान हरने के लिए

एक अनिवार्य जीवन धर्म और आदत बन गया। फिर कबीलों की जिन्दगी के स्वच्छंद एवं स्वेच्छाचारित जीवनयापन पर बौद्धिक चेतना ने अंकुश लगाना शुरू किया और धीरे-धीरे इन कबीलों में सामाजिक मर्यादा के साथ जीवनयापन का व्यवस्थित स्वरूप आरम्भ हुआ, ये धर्म का पालन करने लगे। यही सामाजिक मर्यादा सामाजिक व्यवस्था के साथ-साथ जब परिवार विस्तार के स्वाभाविक धर्म के लिए एक दूसरे परिवार से जुड़कर शुरू हुई, तो दो परिवारों के बीच सम्बन्ध स्थापना के लिए विवाह की मर्यादित परम्परा की शुरुआत हुई। विवाह की यही आदिम परम्परा अरण्यक काल से अपने-अपने सामाजिक संस्कार, तौर-तरीके से चलती चली आ रही है। वैदिक काल तथा अरण्यक काल में स्वच्छंद रमण करने की परम्परा, गन्धर्व विवाह की परम्परा, स्त्रियों को उपहार स्वरूप दान देने की परम्परा, स्त्रियों को चुराकर-लूटकर जबरन विवाह की परम्परा के अनेक उदाहरण धर्म, पुराण, इतिहास से हमें प्राप्त हैं। आगे चलकर रामायण, महाभारत काल में स्वयंवर की परम्परा देखने को मिलती है। इस काल तक आकर विवाह परम्परा एक मर्यादित, अनुशासित बंधन के रूप में कठोर रूप से परिचालित हुई, तब से विवाह की परम्परा हमारे संस्कार में बँधकर हमारी संस्कृति की अभिन्न अंग बन गयी। तभी से खुशी और उल्लास से पूर्ण पुत्र विवाह में बारात सजाने की क्षेत्रीय परम्परा की शुरुआत हुई। घर के पुरुष वर्ग पुत्र व्याहने लड़की वाले के घर-गाँव भर के पुरुषों के साथ गाजे-बाजे, ढोल-ताशा, पिपही- बाँसुरी बजाते, नाचते-गाते जाने लगे। शिव बारात, राम विवाह में इस तरह के आमोद पूर्ण परम्परा का उल्लेख मिलता है। शिव विवाह के समय शिव की बारात का मनोरंजक उल्लेख पुराणों में मिलता है, जो अपने आपमें बड़ा ही मनोहारी है। इस बारात में तरह-तरह के स्वांग भरने वाले, गाने-बजाने वाले, बहुरूपी वेशधारण कर तरह-तरह की लीला करने वाले शामिल थे- जो विविध प्रकार के खेल-तमाशे, रूप भरते, नाचते-गाते बारातियों का मनोरंजन करते हुए लड़की वाले के घर जाते थे। इस तरह इस सामाजिक महोत्सव में आनंद से भरे लोग आमोद-प्रमोद करते। इस खुशी के अवसर पर बारातियों के बीच स्वांग भरने वाले पमरिया, नट्आ, हिजड़ा, बहुरूपिया के भरपूर तमाशे होते रहे हैं।

लेकिन बारात विदा करने के बाद सूने पड़े घर-गाँव में

रातभर जागकर गुजारने का प्रश्न घर की स्त्रियों के समक्ष खड़ा हुआ। इसी के निदान स्वरूप निर्विघ्न होकर रात गुजारने के लिए मनोरंजन से भरपूर रतजगे का आयोजन शुरू हुआ। अस्तु पुत्र की बारात विदा करने के पश्चात् रतजगे के रूप में नृत्य-गीत पूर्ण यही मनोरंजन आनंद डोमकच अथवा डोमकच कहलाया।

डोमकच शब्द से स्पष्टतः भाषित होता है कि यह स्वांगपूर्ण नृत्य-गीत डोम जाति द्वारा प्रस्तुत होता था। डोमकच का इतिहास बहुत पुराना है। विद्वान डोमकच का सम्बन्ध सिद्ध एवं नाथ परम्परा तथा वज्रयान परम्परा से जोड़कर देखते हैं। विक्रम की नवीं शताब्दी में भारत में विद्यमान डोमिनी के आह्वान गीत में स्वांग का उल्लेख कुछ इस प्रकार किया है-

नगर बहिरे डोंबि तोहारि कुड़िया
छड़ छोड़ जाइतो ब्राह्म नाड़िया
आलो डोंबि तोय संग करबेय सांग
निधिण कहल कपाली जोड़ लाग।।
एक सौ पद्मा चौसटि तेहि चाड़ि
नाचय डोंबि वापुरा।।

यह उद्धरण वज्रयानियों के तपन होते स्वरूप में योग-तंत्र-साधना से सम्बन्ध रखता है। योग साधना में डोमिनी आदि का अबाध सेवन उनके जीवन का एक अनिवार्य अंग था। डोमिनी के साथ स्वांग करने का सिद्धों तथा वज्रयानियों द्वारा आह्वान इस काल में लोकप्रिय ढंग से प्रचलित था। इस तरह यही नृत्य पूर्ण स्वांग शैली में परम्परागत रूप से विस्तारित होकर पूरे उत्तरभारत में प्रचलित हो गया। वज्रयानियों तथा सिद्धों के पराभव के बाद भी डोमिनियों का यह स्वांग चाहे वह जीविका के लिए ही क्यों न हो-विद्यमान रहा। डोमिनियों का यह स्वांग स्त्रियों के मध्य होता रहा, जिसमें डोमिनियाँ पुरुष वेश धारण करके चुहलपूर्ण स्वांग भरती रही है। डोमिनियों का यह लोक प्रचलित स्वांग राजाओं-जर्मीदारों और नवाबों के काल में लोकप्रिय रहा। समाजशास्त्रीय विचारकों के अनुमानों के आधार पर जर्मीदारों ने भी डोमिनियों का अबाध सेवन किया तथा शादी-ब्याह के अवसर पर जर्मीदारों के यहाँ डोमिनियाँ आमंत्रित की जाती रहीं। वे उनकी पत्नियों को खुश करने के लिए नाचती-गाती रही और अपने जीवन का दर्द भी बाँचती रही। यद्यपि बाद में डोमिनियों द्वारा प्रस्तुत सांग या

स्वांग गाँव घर की औरतों के बीच खुलकर लोकप्रिय हुआ। लेकिन यहाँ भी डोम-डोमिनी का स्वांग, उनके गीत, उनके जीवन की घटनाएँ, उनका दर्द डोमिनी का वियोग ही खेला जाता रहा है- आजतक। आज भी इस नृत्यपूर्ण स्वांग में महिलाओं के बीच कोई डोमिन बनती है तो कोई डोम और फिर नृत्य गीतात्मक स्वांग आरम्भ होता है।

जमींदारों के काल में डोमिनियों के स्वांग की लोकप्रियता तो इतनी अधिक हो गयी थी कि शादी-ब्याह के अवसर पर या फिर अन्य शुभ अवसरों पर, सामाजिक समारोहों में डोमिनियों, पमरियों, हिजड़ों, नटुओं आदि द्वारा मनोरंजक स्वांग की प्रस्तुति होती रही। जमींदार जब अपने बेटे की शादी में बारात के साथ पुरुष समाज को लेकर बाहर जाने लगते हैं, तो स्त्रियों के अकेलेपन को दूर करने के लिए इन्हीं डोमिनियों द्वारा घर में उपस्थित औरतों के लिए मनोरंजन की व्यवस्था कर जाते थे। इनके काल में उच्च वर्गस्थ स्त्रियों की भूमिका द्वारा स्वांग तमाशा करने की मनाही थी। प्राचीनकाल से ही नाच-तमाशा, लीला-नाट्य आदि में स्त्रियों की भूमिका पुरुष ही करते रहे हैं। स्त्रियों के रतजगे में बेगार खटने वाले मजदूरनें, रैयत घरों की स्त्रियाँ स्वांगपूर्ण नृत्य-गीत का आयोजन कर रतजगा करते हुए इनका मनोरंजन करती थी, फलस्वरूप नेगाचार के रूप में अन्न, वस्त्र, आभूषण, नगद रूपये तक प्राप्त कर लेती थीं। यह सब इनके जीविकोपार्जन का एक अहम साधन था।

वैसे भारतवर्ष में नाच, तमाशे, पमरिया, हिजड़ा नाच, बहुरूपिया, कठघेड़वा, पुतली नाच, जादूगरी, पशु-पक्षियों का तमाशा, नट का खेल, बंदर नाच आदि बहुरंगी मनोरंजन घुमन्तू कलाकारों द्वारा तथा इनकी मंडलियों द्वारा प्रस्तुत होते रहे हैं। ये घुमन्तू दल के रूप में जगह-जगह जाकर लोगों का मनोरंजन करते रहे हैं। धन सम्पन्न लोग इन्हें उत्सवों एवं संस्कारिक समारोहों में बुलाते रहे हैं। लोकप्रियता राजा-महाराजाओं, सेठ-साहूकारों, सामन्तों-नवाबों के बीच भी खूब रही है। गरीब तबकों के कलाकार घूम-घूमकर लोगों का मनोरंजन करते हुए अपना जीविकोपार्जन करते रहे हैं। डोमकच भी जमींदारों तथा सम्पन्न वर्ग की स्त्रियों के विलास का साधन रहा है।

स्त्री प्रधान नृत्य-नाट्य जट-जटिन, हर-परौरी, सामा-

चकेवा, झिंझिया आदि की तरह डोमकच प्रसंग पूर्ण नृत्य गीतात्मक प्रदर्शन है, जिसमें स्त्रियाँ पुरुष वेशधारण कर तरह-तरह के चुटीले-भड़कीले, हास्यपूर्ण भौंड़े स्वांग प्रस्तुत करती हैं। इस प्रकार यह पूर्णरूपेण स्त्री प्रधान स्वांग है। इस नृत्यपूर्ण स्वांग के माध्यम से स्त्री-पुरुष की वैवाहिक मर्यादा, वंशवृद्धि का उल्लास, सामाजिक नैतिकता के साथ ही कई तरह की सामाजिक, पारिवारिक एवं आर्थिक त्रासदी की गीतात्मक प्रस्तुति की जाती है, साथ ही पुरुषों की हास्यपूर्ण नकल भी उतारी जाती है। रतजगा के माध्यम से स्त्रियाँ अपनी व्यथा-कथा भी नृत्य-गीत के साथ प्रस्तुत करती हैं। धीरे-धीरे डोमकच इतना लोकप्रिय हुआ कि सम्भ्रान्त घरों की स्त्रियाँ भी बारात विदा कर रातभर रतजगा करते हुए डोम-डोमिनी के जीवन का विविध प्रसंग प्रस्तुत कर आनंद उल्लास मनाती हैं। डोमिनी पुत्र जलुआ इस स्वांग का प्रमुख पात्र होता है। डोमिनी उसके जन्म से लेकर उसके ब्याह तक की बात सोचती है। जलुआ प्रधान नृत्य-नाट्य होने के कारण भोजपुर के गाँव में कहीं-कहीं उसे 'जलुआ स्वांग' भी कहा जाता है। जलुआ के साथ ही डोम-डोमिन के दाम्पत्य जीवन की छोटी-छोटी कड़ियाँ भी इस स्वांग का विषय होता है। इस स्वांग नृत्य में उच्च तथा निम्न वर्ण में भेद नहीं होता है। घर की औरतों के साथ नौकरानी, डोमिन तथा गमारिन भी नृत्य-गीतमय स्वांग प्रस्तुत करती है।

डोमकच में आर्थिक विसंगति, संस्कृति, ग्रामीण युवकों का अर्थाजन के लिए घर-द्वार, बूढ़े माता-पिता, नव ब्याहता पत्नी को छोड़कर महानगरों की ओर पलायन सब कुछ गीतों की कड़ियों में बंधकर प्रस्तुत होता है। बाढ़, अकाल, खेती के बाद महीनों बेकार रहना, मजदूरी नहीं मिलना बहुत बड़ा कारण बन जाता है, इन ग्रामीण युवकों के गाँव से पलायन का। डोमकच में शादी, ब्याह, वंशवृद्धि की खुशी पति-पत्नी के नोक-झोंक, मान-मनुहार के साथ ही ग्रामीण मेहनतकश, गरीब किसान, मजदूर की जीवनगत त्रासदी भी अभिव्यक्त होती है।

डोमकच के माध्यम से सामाजिक जीवन व्यवस्था, छोटे-बड़े, उच्च-निम्न सभी वर्गों का एक-दूसरे के साथ की अनिवार्य सहभागिता, सहकारिता का भी परिचय मिलता है। यह सभी जानते हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, समाज में रहते हुए हर सुखद-दुःखद कार्य में सबकी जरूरत होती है। चाहे वह शादी-ब्याह, जन्मोत्सव, उपनयन अथवा मृत्युगत संस्कार ही क्यों

न हो, सभी तबकों की अपनी अहमियत होती है। जिनके बिना ये सारे परम्परा पोषित संस्कार सम्भव ही नहीं होते हैं ब्याह के पुनीत अवसर पर डोम-डोमिनी, कहारिनों, कुम्हारिनों, नाई-नाउन, धोबिन का विशेष अनुष्ठानिक महत्त्व शुरू से था और आज भी परम्पराशील संस्कार संयुक्त घरों में विद्यमान है। मिट्टी का शुभ कलश, चौमुख दीप, हाथी-घोड़ा, चिड़िया-चुनमुन, कंशी-डोरी, ढकना कुम्हारों द्वारा बनाकर ब्याह के घर में लाये जाते हैं। मंडप निर्माण के लिए हरे-हरे बाँस, मण्डप छाजन के लिए खरही, बंशारोपन का करची, सूपमौनी, डगरा-दौरी, हाला-डाला, पौती-पीटारी, अटवासी-पटवासी, केशी-डोरी डोम-डोमिन बनाकर लाते हैं। ब्याह में पानी काटने तथा सोहाग देने का कार्य धोबिन नेग न्यौछावर के साथ पूरा करती है। दूल्हा-दुल्हन के पैरों में महावर लगाने का कार्य अर्थात् 'नइछू' नाई-नाउन द्वारा सम्पन्न होता है। उसी प्रकार विवाह के एक दिन या दो दिन पूर्व माटी कोड़ने की रस्म (मटकोड़) कूड़खेत में सम्पन्न होता है। इस अवसर पर मटकोड़ा जाने से पूर्व विधि कर्मी द्वारा दरवाजे पर गले में ढोल लटकाये गमार के पीठ की तथा ढोल की पूजा की जाती है। नेग-न्यौछावर के पश्चात् ही वह ढोल पर थाप देता है और ढोल बजाता हुआ कूड़ खेत तक जाता है, मिट्टी हजाम कोड़ता है। इन सबकी अनिवार्यता आज भी समाज में बरकरार है। इन उपरोक्त साक्षों से यह प्रमाणित होता है कि डोमकच में उपरोक्त सभी जातियों की अनिवार्य भूमिका रहती है। कृषि प्रधान देश अकाल, बाढ़ के कारण लगभग छह माह तक कृषक मजदूरों का बेकार हो जाना और महानगर की ओर पलायन तथा परदेश गये डोम का शहरी सुन्दरियों तथा वेश्याओं के रूपजाल में उलझकर गाँव-घर, पत्नी-पुत्री सभी को भुला देना गाँव में प्रतीक्षारत ब्याहताओं की विरह-वेदना, घर-गृहस्थी चलाने की आर्थिक त्रासदी और अर्थ की जुगाड़ में बड़े धनाढ्य तथा उच्च वर्णवाले जमींदारों सेठ साहूकारों, सामन्तों के घरों में उनकी इच्छानुसार घटना सब कुछ डोमकच में बड़े ही सुन्दर एवं भावपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त होता है। ग्रामीण ब्याहताओं की विरह-वेदना का वर्णन महान लोक कलाकार भिखारी ठाकुर ने विदेशिया सहित अपने सभी नाटकों में करुणा के साथ अभिव्यक्त किया है।

डोमकच के एक प्रसंग में डोमिनी के भावपूर्ण नृत्य-गीत द्वारा परदेश गये अपने पति के लिए विरह-संताप बड़े ही मनोहारी

ढंग से अभिव्यक्त होता है। प्रस्तुत स्वांग में डोम-डोमिन, धोबी, गमारन, चूड़ीहारिन, चूड़ीहारा, मालकिन, नौकर तथा मालिक की भूमिका प्रमुख होती है। डोमकच के सारे प्रसंग नृत्य-गीत के माध्यम से ही प्रस्तुत होते हैं।

जट-जटिन की तरह ही डोमकच कई छोटे-छोटे प्रसंगों के साथ रातभर चलता है। डोमकच का पहला प्रसंग आपसी चूहलपूर्ण झूमर नृत्य के साथ प्रस्तुत होता है। स्त्रियाँ झूमर गाते हुए आँगन में बने मण्डप तक जाती हैं। एक स्त्री लड़के की माँ बन जाती है, उसे मड़वे के बीच बैठा दिया जाता है। जिसकी गोद में खटिया का पौआ या लकड़ी का लम्बा टुकड़ा सजा-गुजाकर, काजल टीका कर तथा पीला वस्त्र लपेटकर रख दिया जाता है (अब स्त्रियाँ प्लास्टिक के खिलौने का प्रयोग करती हैं)। बच्चे के प्रतीक को वंश वृद्धिका कहा जाता है। मंडप के चारों ओर कुछ स्त्रियाँ ढोलक, झाल, झांझ, घण्टी, घुंघरू लेकर बैठ जाती हैं, शेष स्त्रियाँ मंडप के चारों ओर घूम कर सोहर-झूमर गाते हुए मंडलकार नृत्य करती हैं। पहला प्रसंग नृत्य ब्याह द्वारा वंशवृद्धि की खुशी को लेकर प्रस्तुत होता है, जो सोहर के रूप में अभिव्यक्त होता है-

*मचिया बड़ठल कोसिल्ला रानी राम मुख निरखली हो
ललना हे मुखवा निरखी रानी कोसिल्ला त मने-मने हरसली हो
पनमा अइसन बाबू मोरा पातर सोपाड़ी जइसन हुर-हुर हो
ललना हे, फूलवा जइसन बाबू
कोमल चन्दरमा जइसन सुन्नर हो
आरे मोरा बाबू प्राण के आधार नयने बीच राखव हो...*

इसके बाद खुशी और उल्लास की लहर से लहराती हुई स्त्रियाँ एक से एक झूमर गाते हुए थिरकती हैं। सोहर एवं झूमर के रसपूर्ण गीत गुंजार के साथ स्त्रियाँ नाचती हैं, इस तरह के रसपूर्ण माहौल में स्त्रियाँ रूचिर वेशधारण कर वैवाहिक माहौल को और भी रंगीन बना देती हैं। ऐसे में झूमर के पश्चात् इन्हीं स्त्रियों में से कोई स्त्री चूड़ीहारा बनकर स्त्रियों के बीच चूड़ी की टोकरी लिए चूड़ी बेचने का नृत्यात्मक अभिनय करती है। शेष स्त्री नृत्याभिनय के साथ चूड़ी का मोल करते हुए अपनी गोरी-गोरी कलाई एवं अपने पति की मोहिनी सूरत का वर्णन करते हुए रिझाने का अभिनय करती है, जो बड़ा ही रसपूर्ण होता है। चूड़ीहारा नृत्य के

पश्चात् नृत्य का रंग और भी रसीला हो उठता है और डोम-डोमिन का रसपूर्ण स्वांग मन को मोहने लगता है। वैसे भी प्राचीन काल से ही यह स्वांग मूलतः डोम-डोमिन का ही स्वांग रहा है। ब्याह के घर में इनका महत्त्व इनके द्वारा बनाकर लाये गये अनिवार्य सांस्कृतिक सामग्रियाँ यथा डला, मौनी-सूप, डगरा-दौरी, पौती-पिटारी जिसके बिना ब्याह का पारम्परिक एवं संस्कृति सम्बद्ध समारोह पूरा हो ही नहीं सकता है। यह एक सामाजिक संस्कार युक्त विधान है। अतः अगला नृत्य डोम-डोमिन के दाम्पत्य जीवन के कई रंगीन पहलुओं को प्रस्तुत करता है। डगरा बेचने के क्रम में एक बार डोमिनी-डोम से बिछुड़ जाती है। डोम विह्वल होकर उसे जगह-जगह ढूँढने के पश्चात् जमींदार की ड्योढ़ी तक पहुँच जाता है और दरबान से डोमिनी की खोज करता है। यहाँ दरबान तथा डोम का प्रश्नोत्तरी शैली में मनहर नृत्य प्रस्तुत होता है-

डोम - *बाबुराम! बाबुराम! ऐ हो बाबुराम! डगरा बेचइते डोमिनी हेराय गेलेर की।*

बाबुराम- *भइयाराम! भइयाराम! ऐ हो भरयाराम! इहो रे माहलियाँ डोमिनी नहीं आयल रे की...*

डोम नृत्य करते-करते जबरदस्ती महल का फाटक खोल अंदर प्रवेश कर जाता है। वहाँ उसे डोमिनी डगरा बेचती हुई नजर आती है। वह उसे खींच के बाहर लाता है। डोम एवं डोमिन के बीच रोचक नोक झोंक चलती है। डोमिनी आँचल खोलकर उसे बहुत सारे नोट देती है। डोम, डोमिनी पर शंकित नजर डालते हुए डोमिनी से पूछता है-

डोम- *होल कही गे डोमिनिया चाल कही गे
आरे कहां से पैलही टाका रूपैया कहां से पैलही गे
चढ़ल जवनिया गे डोमिनी कहां बचेलही गे..*

इस नोक-झोंक में राजाओं-जमींदारों एवं सिपाहियों की स्वेच्छाचारिता एवं गरीबों पर होते जोर-जुल्म का पर्दाफाश भी होता है। नृत्य की एक कड़ी और जुड़ती है। मालिक अर्थात् जमींदार के घर शादी की खुशहाली है। ऐसे माहौल में राजा-प्रजा सभी मदमस्त है, हास-परिहास कि दौड़ से माहौल रंगीन बना हुआ है। स्त्रियों के बीच से एक स्त्री मालिक बन जाती है और डोम-डोमिन बनी स्त्री सूप मौनी लेकर मालिक के सामने उपस्थित

होती है। मालिक की नजर डोमिनी के अपूर्व सौन्दर्य पर पड़ती है। मोहित मालिक डोम से चूहलपूर्ण प्रश्न करता है। प्रश्नोत्तरी शैली के नृत्य-गीत पूर्ण माहौल में मालिक और डोम के बीच का यह मनोरम दृश्य बड़ा ही मनभावन है।

मालिक - *कहमा से लइले रे डोमरा कहमा से लइले रे
अइसन सुन्नर रे डोमिनिया तू कहमां से लइले रे
डोम- मेला से लइली में मालिक मेला से लइली जी
अइसन सुन्नर रे डोमिनिया हम मेला से लइली जी*

एक ओर बैठी डोमिनी-डोम की झूठी बात पर तैश में आ जाती है। नोक-झोंक पूर्ण यह प्रसंग नृत्य डोमकच में रंग भरकर रतजगा को और भी रसपूर्ण बना देता है। डोमकच में मूल रूप से डोम-डोमिन के जीवन से जुड़े छोटे-छोटे प्रसंगों को नृत्य की कड़ियों में और रोचक चुटीले गीतों में पिरोकर प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें डोम-डोमिन के जीवन से सम्बन्धित मान-मनुहार, नोक-झोंक आर्थिक त्रासदी का दर्द, संयोग श्रृंगार, वियोग श्रृंगार सब कुछ रससिक्त भावाभिव्यक्ति के साथ प्रस्तुत होकर मन को अपनी ओर खींच लेता है। इन सभी प्रसंगों में जीवनगत, पारिवारिक एवं सामाजिक यथार्थ की करुण त्रासदी, उच्च वर्ग, धन सम्पन्न वर्ग एवं निम्नवर्ग के बीच की आर्थिक विसंगति, छुआछूत-शोषण-दोहन का निर्मम सच खुलकर अभिव्यक्त होता है। डोमकच के सभी गीत प्रश्नोत्तरी शैली में प्रस्तुत किए जाते हैं जिससे नृत्य की प्रभावशीलता और भी उत्तेजक हो जाती है। डोमकच डोम-डोमिनी के जीवन से जुड़े इस प्रसंग नृत्य के पश्चात् डोम परदेश जाने की जिद पकड़ लेता है। इस दृश्य में जहाँ एक ओर विवाह का खुशनुमा माहौल है, वहीं दूसरी ओर नवब्याहता डोमिनी की पीड़ा और परदेश पलायन के पीछे से उभरती सामाजिक विसंगति, समाज के वर्ग भेद से उत्सर्जित आर्थिक-सामाजिक विडम्बना के कई आदमकद सवाल हमारे हृदय को झकझोर कर रख देते हैं। परिवार में साथ रहकर सुख-दुःख बाँटने का सुख ग्राम्य संस्कृति का अपना संवेदित स्वभाव है। डोमिनी डोम के परदेश जाने की बात सुनकर वेदना विह्व हृदय हो उसे विविध आशंका से आतंकित कर रोकने का प्रयास करती है। इस प्रकार डोमकच का उत्तरांध वियोग श्रृंगार की भाव भीनी अनूठी अभिव्यक्ति प्रस्तुत करता है-

मति जाहु पूरब के देस मोरे डोमवा हो
मति जाहु पूरब के देस...
पूरब के देसवा में जोगिनि नटिनिया से
रसे बसे तोरा लूभैतो हो डोमवा..

फिर डोमकच नाच में पति-पत्नी का नोक-झोंक बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत होता है।

डोमिनी - टीकवा होतय सपना झुमकवा होतय
सपना बलमुआ होतय डुमरी केर फूलवा

डोम- होव दहु होवे दहु डुमरी केर फूलवा
आहे डुमरी के फूलवा

पूरब विजिनिया हम त जयवइ गो डोमिनी

डोमिनी - जे तुहु आहो पियवा जयव कलकतवा से
जयव कलकतवा से पूरब

विजिनिया से जहरवा घोरि पियवो हे नइहरवा..

डोम सारे अनुनय-विनय ठुकरा कर कलकत्ता चला जाता है। देश दर्शन और अर्थ अर्जन की लिप्सा से। तब डोमिनी विरह संताप से विक्षिप्त हो उठती है और सूप मौनी लेकर मालकिन के पास पहुँचती है। डोमिनी को अकेला देख मालकिन जब पूछ बैठती है, तब उसका हृदय फट पड़ता है। देखिए एक झलकी-

मालकिन - अनारकली डोमिनी तोर डोम कहां गइले

डोमिनी - डोमरा गइले कलकतिया नगरिया ओतही रह गइले..

अनारकली के डोमरा कलकत्तवे गइलना आहे
गोदी के बलकवा छोड़ परदेसवे गेलइना..

मालकिन के घर निराश डोमिनी दुःखी मन घर से रूठकर नइहर जाने का स्वांग प्रस्तुत करती है। अगला दृश्य डोमिनी और वैद्य के साथ प्रस्तुत प्रश्नोत्तरी शैली का है। जलुआ बीमार हो गया है। डोमिनी वैद्य से उसके इलाज के लिए अपनी जान न्योछावर करने की बात करते हुए वैद्य से अनुरोध करती है तथा ओझा गुनी से झाड़-फूँक करवाकर जलुआ को अच्छा करना चाहती है।

दृश्य परिवर्तन होता है, जलुआ बड़ा हो जाता है। डोम फिर परदेश चला जाता है और परदेश से वापस नहीं आता है, डोमिनी विलाप करने लगती है। उसका भावपूर्ण नृत्य गीत दर्शकों को रूला देता है, जब डोमिनी बटोही से अपनी व्यथा कहते हुए विनती करती है-

डोमिनी - गोरा तोरा लागि रामा भइया वनिजरवा से

हमरो विनतिया सुनि लेहु हो बटोहिया

जे तुहुं जइव रामा पूरब विजिनिया से, कलकतीया नगरिया से

हमरो सनेस लेते जाहु हो बटोहिया...

भिखारी ठाकुर रचित विदेसिया का गीत डोमकच में गाया जाता है। जब डोम परदेश से वापस आने पर डोमिनी को नहीं पाता है, तो वह दुःखी होकर अपने मन की वेदना व्यक्त करता है।

डोम- आहो राम टिकवा गइली हम डोमिनिये लागी ना

कि आही रामा से हो टिकवा छोड़ि के नइहरवे गेलइ ना..

डोम दुःखी होकर नशे में धुत्त हो सड़क पर चीखता चिल्लाता है। इसी बीच दरोगा उसे पकड़ कर थाने ले जाता है। जब यह बात डोमिनी को पता चलती है तो थाने आकर दरोगा से पति को छोड़ने की विनती कुछ इस प्रकार करती है-

डोमिनी - बाबु दरोगवे जी

कउने कसूरवे बान्हले पियवा मोर

ना मोर पियवा केहु के चाकर

ना मोर पियवा चोर

हो बाबु दरोगवे जी..

आरजू-मिन्नत के बाद दरोगा डोम को छोड़ देता है। सभी स्त्रियाँ डोम के छूट जाने की खुशी में नाचती हैं। प्रत्येक लोक नृत्य की तरह डोमकच में भी ग्राम्य संस्कृति की सुन्दर झलक तथा ग्रामीण जीवन के स्वाभावगत भोलेपन की सुन्दर अभिव्यक्ति मिलती है। साथ ही बाढ़-सुखाड़ जैसी प्राकृतिक विपदा झेलते गाँव और जमींदारी शोषण के कारण ग्रामीण युवकों, किसानों, मजदूरों के परदेश गमन से उपजी त्रासदी और उसके परिणामस्वरूप पारिवारिक बिखराव का जीवन्त एवं अनगढ़ प्रदर्शन डोमकच को मनोरम तथा यथार्थ गर्भित बना देता है। लोक संस्कृति संस्कार शिष्ट आचार-विचार के साथ ही दुराव-छिपाव, रहन-सहन, शहरी सभ्यता संस्कृति से दूर परम्परा पोषित खुली जिन्दगी का स्वाभाविक रूप दर्शन नृत्य-गीत की कड़ियों में जुड़कर डोमकच को और आकर्षक बना देता है।

प्रत्येक लोक प्रदर्शन की तरह डोमकच के प्रसंग और नृत्य की हर कड़ी लुभावनी होती है। डोम-डोमिन के जीवन के दर्द मान-मनुहार, नोक-झोंक के पश्चात् दृश्य फिर विवाह के स्वाभाविक लोक व्यवहार को प्रस्तुत करता है। जहाँ मन को गुदगुदाने वाला एक स्वाभाविक प्रसंग दर्शकों को विभोर कर देता है। डोमकच में जीवन व्यवहार के छिटपुट प्रसंगों की लड़ियाँ बड़े ही रोमांचक नृत्य-गीत के साथ प्रस्तुत होती हैं। डोमकच डोम-डोमिन की जीवन के सुखद एवं सामाजिक संस्कार से पूर्ण प्रसंगों की नृत्य प्रस्तुति है। अतः सामाजिक परिप्रेक्ष्य से गुजरते हुए पारिवारिक जीवन व्यवहार के रीति-रस्मों, संस्कारों से जुड़े प्रसंगों की भरमार होती है। बेटे के ब्याह में घर के नौकर-चाकर सभी बारात में बेटे वाले के घर जाते हैं। डोम-डोमिन प्रसंग के बाद एक बार फिर नौकर का हास्य-पूर्ण नृत्य-गीत बड़ा रोमांचक होता है। डोमकच में बारात से लौट कर घर आये खास नौकरों, खवासों, नाई की कमी तो होती नहीं है। बारात से लौटकर आये स्वजन-परिजन के अपने किस्से, जितने लोग उतनी बातें, लड़की वाले के घर का रंग-ढंग, हाल-चाल, स्वागत सत्कार के अनेक किस्से कुछ सच कुछ मनगढ़न्त, जितने लोग उतने किस्से रंग रोगन लगाकर चटखारे लेकर सुनाये जाते हैं। सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन व्यवहार में अक्सर इस तरह के रंग देखने को मिल जाते हैं। आज भी खासकर शादी ब्याह के अवसर पर।

इस अवसर पर जब भी घर का कोई खास नौकर-चाकर या नाई बारात से लौटकर आता है, तो घर की मालकिन अपने समधियाने का पूरा हाल उसी से चटखारे लेकर पूछती है। शादी-ब्याह के माहौल में औरतों की यह विशेष आदत होती है कि घर के अपने सगे-सम्बन्धी से समधियाने की बात नहीं पूछकर खास नौकर-चाकर से सरस भाव से पूछती है, जिसे नौकर हँसते-हँसते चटखारे लेकर रंग-रोगन के साथ बतलाता है। डोमकच की यह हास्यपूर्ण प्रस्तुति अपने रसपूर्ण हास-परिहास एवं गुदगुदाते हुए चूहल भरे संवाद एवं हास्य भाव से पूर्ण नृत्याभिनय के साथ लोगों का भरपूर मनोरंजन करते हैं। दो परिवारों के बीच नये गठबंधित सम्बन्धों के खुलेपन का परिचय खुलकर प्रस्तुत होता है। समधियाने से लौटा नौकर हरिविशुनी लड़की के घर ताक-झाँक कर जो कुछ देखता है, उसमें नमक-तेल लगाकर मजाकिये ढंग से बेटे की माँ (मालकिन) से कहता है। इस नृत्य स्वांग के

बीच एक स्त्री उठकर मालकिन बन जाती है और एक स्त्री नौकर की वेशभूषा धारण कर हरिविशुनी नौकर जो कमर लचका-लचका कर मालकिन के प्रश्नों का उत्तर देता है-

मालकिन - तू कहां से ऐले बोल बोल रे हरिविशुनी
 हरिविशुनी- हम समधियाना से अइली आज सुनुहे मालकिनी
 मालकिन - तू का का देखले बोल बोलरे हरिविशुनी
 हरिविशुनी - हम देखनी हम देखनी, उहमां देखनी
 अट्टा न बट्टा हाथे में पान
 कत्था चूना बिन पान सुनसान
 सुपाड़ी के बदला में ओल
 सुनु हे मालकिनी... लड़की के भाई बकलोल सुनु
 हे मालकिनी

इस गीत के साथ ही डोमकच नृत्य अपने अंतिक सोपान पर पहुँच जाता है। जहाँ डोमिनी और डोम खुशी से नाचते हुए जलुआ के विवाह की सूचना देते हैं और डोमकच स्वांग समाप्त हो जाता है। झूमर गीत के साथ ही बिहार के इस डोमकच नाच का समापन हो जाता है।

इस प्रकार डोमकच जीवन व्यवहार, संस्कार एवं दाम्पत्य जीवन के छुए-अनछुए प्रसंगों पर आधारित नृत्य पूर्ण स्वांग है, जिसमें पारिवारिक व्यवस्था, उसका व्यावहारिक पहलू, डोम-डोमिन का संयोग एवं वियोग श्रृंगार, आर्थिक-सामाजिक विसंगति, हास्य-व्यंग्य, चूहल, सब कुछ गेय प्रश्नोत्तरी शैली द्वारा अभिव्यक्त होता है। झूमर, सोहर, विरह एक से बढ़कर एक भावपूर्ण गीत और इन गीतों की मधुर स्वर लहरी की तरंग पर ताल देती समूह नृत्य में झूमती-बलखाती-मदमस्त युवतियाँ। घर-आँगन का मुक्ताकाशी मंच, दर्शक-पात्र कहीं कोई औपचारिकता नहीं। सब कुछ खुला सहज, सरल, अनगढ़ कहीं कोई दुराव-छिपाव नहीं दिखता है। इस रसपूर्ण प्रसंग नृत्य में डोमकच का कोई मंचीय विधान नहीं है, यहाँ न कोई प्रतिबंध, दृश्यबंध घूमता हुआ दर्शकों के साथ चलता है रंगमंच मात्र घर का कमरा, आँगन-बरामदा और नृत्य के साथ थिरकता स्त्रियों का स्वांगमय नृत्य। इस तरह यह पूर्णतः स्त्री प्रधान लोकनृत्य पूर्ण स्वांग है। अतः यहाँ पुरुषों का प्रवेश वर्जित है वैसे अब यह प्रतिबंध नहीं के बराबर है। क्योंकि वृहत एवं राष्ट्रीय मंचों पर स्त्री-पुरुष सभी के बीच यह

एक विशिष्ट लोकोत्सव की तरह प्रस्तुत होकर प्रशंसित होने लगा है।

डोमकच में प्रकाश व्यवस्था का विशेष प्रावधान नहीं है। घर के माहौल में प्रस्तुत यह रतजगा जहाँ घर की बिजली, बत्ती, गैस, लैंप सब कुछ सामान्य रूप से चलता है। पुरुष वेश धारण करने के लिए पुरुषों द्वारा व्यवहृत सामान्य वस्त्र, धोती, कुर्ता, बंडी, शर्ट-पेंट, हेट, मुरेठा, गमछा पात्रानुकूल व्यवहार में लाये जाते हैं। नकली दाढ़ी-मूँछ के लिए काजल का उपयोग किया जाता है। ब्याह के घर में जिस तरह के सामान्य वस्त्र पहने जाते हैं, स्त्री उसी तरह सजी होती है। अतः किसी चीज को जुटाना नहीं पड़ता है।

इस प्रसंग नृत्य का प्रमुख आकर्षण प्रश्नोत्तरी शैली है, जो प्रायः सभी लोकनाट्य एवं नृत्य-नाट्य की सामान्य विशेषता है। आकर्षक गीतपूर्ण नृत्य, भावपूर्ण मुख मुद्राएँ, अंग संचालन, घर-गृहस्थी में संचारित छोटी-छोटी घटनाएँ, हास-परिहास पूर्ण नोक-झोंक, चूहल, चुटीले व्यंग्य पूर्ण संवाद सभी कुछ नृत्य-गीत की कड़ियों में जुड़कर प्रस्तुत होता चलता है। नृत्यमय स्वांग के साथ ही नारी जीवन की त्रासदी, गरीबी, इच्छाएँ, सपनों की रसपूर्ण प्रस्तुति डोमकच की प्रासंगिक एवं सार्वजनिक तथा बहु-सम्प्रेषणशील बनाती है। मिथिलांचल, भोजपुर तथा बिहार के क्षेत्रों के साथ यह पूरे भारत में कमोवेश इसी रूप में विद्यमान है, जो सिर्फ नाम भेद के कारण अलग दिखते हैं। अवध में इसे 'नकटा' या 'नकटौरा' कहा जाता है, जो मूलतः हास्यरस का प्रतीक है। कन्नौज में इसे 'नकटो' कहते हैं। ब्रज क्षेत्र में यह 'खोड़िया' के नाम से पुकारा जाता है। कौरवी क्षेत्र में इसे 'खड़िया' हरियाणा में इसे 'जोड़िया' तथा बुन्देलखण्ड में यह 'बाबा-बाई' कहा जाता है, वहीं कुरुक्षेत्र में इस मनभावन स्वांग नृत्य को 'कोयल' नाम से जाना जाता है।

अवध क्षेत्र में प्रचलित 'नकटौरा' की उत्पत्ति का मूल केन्द्र छत्तीसगढ़ माना जाता है। सवासिनो (स्त्रियाल) द्वारा बारातियों का स्वागत हास-परिहास के साथ किया गया तथा साथ में गाली गीतों, भड़ैती गीतों से भरपूर नाच के साथ बारातियों के साथ छेड़-छाड़ भी की गयी, जो इस प्रकार है-

अरे बरतिया आये रे, थोथना लय तोर भाय रे
आये बरतिया चुप्पे-चुप्पे
दुल्हा डौका के तीन-तीन भाय
नकटा नाक और चमेठा से
बहरा बहिनी फूफू मन नाचत होती नकटा रे

अर्थात् तुम सभी बेशर्म नकटी औरतों के पुरुष हो, तुम्हारी बहन-फुआ नकटी होकर नकटा नाच नाचती होगी। कौशल प्रदेश में भी नृत्य गीत पूर्ण डोमकच की चर्चा कुछ इस प्रकार है-

नकटी के डौका नकटा मन
तिरिया चरित ने जानय रे
नकटा सन के नकटा नाचल
सुन के अचरित मानय रे

मगध क्षेत्र के डोमकच में स्त्रियाँ समवेत स्वर में कथा प्रधान गीत गाते हुए नाचती हैं। कथा प्रसंग यह है कि एक राजा ने अपनी बेटी को मार-पीट कर डोम के साथ घर से निकल जाने को कहा। बेटी डोम के घर गयी और उससे विनयपूर्वक आश्रम देने को कहा, परन्तु डोम अपनी माली स्थिति का हवाला देते हुए राजकुमारी को अपनाने से इन्कार कर गया। यही प्रसंग मगध की स्त्रियाँ डोमकच में नृत्य करते हुए गाती हैं। प्रश्नोत्तरी शैली का यह नृत्यात्मक प्रदर्शन बड़ा ही रसरंजक है। उदाहरण स्वरूप-

राजकुमारी - हमरा जे बाबा-अम्मा ए गारी गुस्सा दिलहन
चल जाहु डोमवे चंडलवे आहो दइया
सूपवा विनइते तहु डोमवा बढउते हो
हमरा के अपना संगे रखब की ना आहो दइया
डोम- जे तुहु हउजी राजा जी के बेटिया।
हमरा त हियहु डोमवा बेटवा आहो दइया
तोरा त हउजी ऊँची रे महलिया
आहो सोने की महलिया
हमरा त टुटली मड़इया अहा दइया...

मिथिलांचल एवं भोजपुर की तरह मगध के डोमकच में भी डोम-डोमिन प्रसंग की प्रमुखता होती है। बुन्देलखण्ड में बारात विदा करने के पश्चात् अपने ढंग से स्वांग खेला जाता है। डोमकच को यहाँ 'बाबा-बाई' के नाम से जाना जाता है। यहाँ भी

स्त्रियाँ रतजगा करते हुए उन्मुक्त भाव से डोमकच नाचती हैं, जिसके लिए गाँवभर की स्त्रियों को बुलावा दिया जाता है। डोमकच में बाबा-बाई नामक पात्र जो स्त्रियों के बीच से उठकर बाबा-बाई की भूमिका निभाती हैं- स्त्रियों के साथ नाचती हैं। ये स्त्रियों के साथ नाचते-गाते विविध रूपी स्वांग भरते हुए आस-पास के घरों में जाती हैं।

कुरुक्षेत्र में इसे कोयल कहा जाता है। यहाँ भी बारात की विदाई के पश्चात् सामूहिक नृत्य के साथ हास-परिहास पूर्ण स्वांग की प्रस्तुति होती है। स्त्रियों में एक नाई बन जाती और चूहलपूर्ण अंदाज में समधियाने का वर्णन अपनी मालकिन से करती है। जैसे बारातियों का कैसा स्वागत हुआ, उन्हें क्या-क्या खिलाया गया, मिथिला नरेश ने बारातियों को क्या-क्या दिया। रामचन्द्र जब बाग में गये तो गौरी पूजन के लिए जाती सीता के साथ कोई गुल तो अवश्य ही खिला होगा। नाई अश्लील एवं मनोरंजन गेय संवाद के साथ नाचकर वहाँ का रसपूर्ण हाल सुनाती है। इसी तरह घर के प्रत्येक पुरुष का नाम लेकर उसकी स्त्री के साथ मजाक करते हुए श्रृंगारमय नृत्य करती है। कुरुक्षेत्र में ही बिहार के डोमकच की तरह एक स्त्री मनहारिन का वेश धारण कर चूड़ी पहनाने का स्वांग करते हुए तरह-तरह के मजाक करती है। यहाँ के डोमकच में घर के पुरुषों का नाम लेकर कोयल बोली जाती है, फिर बन्ना-बन्नी बनाकर उसके सात फेरे लगवाये जाते हैं। उस दृश्य में स्त्रियाँ झूमर गीत के साथ मंडलाकार नृत्य प्रस्तुत करती हैं।

कौरवी क्षेत्र में बारात के अगले दिन दोपहर को स्त्रियाँ नृत्य गीत के साथ स्वांग भरती हैं। इसमें तरह-तरह के श्रृंगारपूर्ण गीत गाये जाते हैं, जिसे 'खड़िया' कहा जाता है। ये गीत बड़े ही सुरीले एवं रसपूर्ण होते हैं। बिहार के डोमकच की तरह यहाँ के डोमकच में भी पुत्र जन्म की परिकल्पना की जाती है। जलुआ की तरह पुत्र जन्मोत्सव मनाया जाता है, बधाईयाँ गाई जाती हैं, जिससे कौशिल्या को बधाई दी जाती है-

*बधावा कौशिल्या जी की कोख
जिसने जाया हरि सा पूत... आदि*

यहाँ भी अनेकानेक श्रृंगार प्रधान गीतों से ओत-प्रोत रतजगा का आयोजन किया जाता है। हरियाणा में डोमकच को सात जोड़ियाँ कहा जाता है। यहाँ भी बारात की विदाई के पश्चात् विवाहोत्सव मनाया जाता है, जिसमें पुत्र जन्मोत्सव की खुशी में सोहर-झूमर के साथ सामूहिक नृत्य-गीत की प्रस्तुति होती है। ब्रजक्षेत्र में इसे 'खोइया' कहा जाता है, यहाँ विवाहोत्सव की खुशी में मटकोड़ जिसे वहाँ 'मांगर' कहा जाता है, मटकोड़ से लेकर बारात विदा के बाद तक प्रत्येक दोपहर नृत्य-गीत के साथ कोयल बोली जाती है। यहाँ के स्वांग में भी डोमकच की तरह ही परदेश जाने वाले पति से मान-मनुहार, नोक-झोंक, विरह-वियोग, हास-परिहास प्रस्तुत किया जाता है। 'खोइया' में रसपूर्ण गीतों की भरमार होती है। राजस्थान में विवाह के अवसर पर वेश्याओं द्वारा पुरुष वेशधारण कर भाव नृत्य प्रस्तुत किया जाता है, जिसे 'चौरा' कहा जाता है। यहाँ डोम जाति के लोगों की स्वांग मंडली द्वारा नृत्यमय स्वांग की प्रस्तुति होती है। इसमें महिलाएँ अश्लील स्वांग प्रस्तुत करती हैं, जिसमें चूहलपूर्ण गीतों के साथ नृत्य प्रस्तुत होता है। इस प्रकार डोमकच बिहार एवं बिहार से बाहर अपनी क्षेत्रीयता के आधार पर कमोवेश सामान्य स्वरूप में ही प्रस्तुत किया जाता है। इसे कहीं डिडवा स्वांग नृत्य, कहीं गूजर, गुंजारी, रत्योली भी कहा जाता है, जो डोमकच की तरह की सामाजिक संस्कार से सम्पूर्ण स्वांग नृत्य है। शहरी मानसिकता के प्रभाव स्वरूप संस्कृति का पतन जिस तरह हो रहा है, उसी तरह हमारे संस्कार पूर्ण रीति-रिवाज भी समाप्त हो रहे हैं। इस तरह की प्रस्तुतियाँ अब सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों तक ही सीमित रह गयीं हैं। आज जीवन व्यवहार की यह पुरातन परम्परा हमारे बीच से विलुप्त हो रही है।

संदर्भ

1. राजस्थान के लोक नृत्य : डॉ. महेन्द्र भानावत

बघेलखण्ड का नाट्य संसार

डॉ. अमित शुक्ल

भारत के हृदय स्थल मध्य प्रदेश में बघेलखण्ड की अपनी पृथक पहचान हैं। यहाँ की प्रतिभाओं ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर साहित्य, कला, राजनीति, संगीत आदि अनेक क्षेत्रों में ख्याति अर्जित कर एक महत्त्वपूर्ण स्थान बनाया है। देखा जाये तो यहाँ की वादियाँ, पेड़-पौधे, बघेली बोली की मिठास ने बघेलखण्ड को अपनी अलग पहचान दी है। जहाँ बघेलखण्ड ने अनेक उपलब्धियाँ हासिल की, वहीं वह नाटकों के क्षेत्र में भी अग्रणी रहा है। यह निर्विवाद सत्य है कि नाटककार के रूप में प्रथम नाटककार का श्रेय बघेलखण्ड के महाराजा विश्वनाथ प्रताप सिंह को है। वहीं कुछ अनेक प्रेरणा स्वरूप युवा नाटककार भी वर्तमान समय में उत्कृष्ट नाट्य लेखन एवं रंगमंच में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। यद्यपि यह आश्चर्य का ही विषय है कि नाट्यलेखन के प्रथम परिक्षेत्र बघेलखण्ड के महाराजा विश्वनाथ प्रताप सिंह के बाद और प्रद्युम्न सिंह के बीच कोई नाटक की कड़ी उपलब्ध नहीं है। केवल छोटी-छोटी नाटिकाएँ लिखी गई। श्याम शर्मा का 'सती का प्रयोग', उपन्यासकार सिद्ध विनायक द्विवेदी की नाटिका 'अछूत कन्या' समीक्षक और उपन्यासकार बघेली के पुरोधे डॉ. भगवती प्रसाद शुक्ल का 'आये तो अधिब्याही' तथा सैफुद्दीन सैफू की 'बहन का प्रेम' नाटिकाएँ लिखी गई। शेष कोई दो सौ वर्ष का समय नाटक लेखन विहीन रहा।

हिन्दी के सर्वप्रथम मौलिक नाटक का श्रेय बघेलखण्ड रीवा के महाराजा विश्वनाथ सिंह कृत 'आनन्द रघुनन्दन' को जाता है। इसका प्रकाशन लायड मंत्रणालय काशी से सन् 1871 में हुआ, पर इसकी प्रतियाँ महाराजा के सरदारों के वितरित होने के कारण लेखक व ग्रन्थ को जो स्थान वास्तव में मिलना चाहिए था, वह न मिल पाया। महाराजा विश्वनाथ सिंह जी के अनेक ग्रंथ हैं- आनन्द रघुनन्दन

नाटक, 'आहिक' उत्तम काव्य प्रकाश, गीता रघुनन्दन शतिका, रामायण, गीता रघुनन्दन प्रामाणिक, सर्पसंग्रह, कबीर बीजक की टीका, विनय पत्रिका की टीका, रामचन्द्र की सवारी, भजन, पदार्थ, धनुर्विद्या, आनन्द रामायण, परमधर्मनिर्णय, शान्ति शतक, वेदान्त पंचक शतिका, गीतावली पूर्वाद्ध, ध्रुवास्तक, उत्तमनीति चन्द्रिका, अबोध नीति, पाखंड खण्डिनी, आदि मंगल, बसंत चौतीसी, चौरासी रमैनी, ककहरा शब्द, विश्व भोजन प्रसाद, ध्यान मंजरी, विश्वनाथ प्रकाश, परमतत्त्व, संगीत रघुनन्दन।

नाट्य परम्परा और आनंद रघुनन्दन का महत्त्व

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं भारतेन्दु जी ने आनन्द रघुनन्दन को ही हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक स्वीकार किया है। शुक्ल जी ने कहा है कि ब्रजभाषा में नाटक इन्हीं ने पहले लिखा। इस दृष्टि से आनन्द रघुनन्दन महत्त्व का लेख है। अंक विधान और पात्र विधान भी है। हिन्दी के प्रथम नाटककार के रूप में ये अविस्मरणीय है। बाबू गुलाब राय, बाबू ब्रजरत्नदास तथा हिन्दी नाटकों पर ऐतिहासिक ढंग से शोध कार्य करने वाले विद्वानों ने भी आनन्द रघुनन्दन को ही हिन्दी का प्रथम मौलिक नाटक माना है। डा. सोमनाथ चटर्जी ने भी आनंद रघुनंदन को हिंदी का प्रथम मौलिक नाटक स्वीकार किया। इस प्रकार विद्वानों की नयी और पुरानी पीढ़ी के लोगों ने आनन्द रघुनन्दन के प्रथम मौलिक गद्य नाटक होने की मान्यता दी है। आनन्द रघुनन्दन में सात अंक हैं, इन सात अंकों में प्रथम छः की घटनाओं के क्रम का प्रमुख आधार रामचरित मानस है। सातवें अंक के स्वरूप में अवश्य परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। रामचरित मानस का अन्तिम उत्तर कांड भी कथा प्रवाह या घटनाओं की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं रखता। उसका वास्तविक मूल्य दार्शनिक दृष्टि से ही विशेष है। ज्ञान-भक्ति के विवेचन के रूप में तुलसी का प्रगाढ़ जीवनानुभव और चिंतन परिलक्षित होता है। आनंद रघुनंदन में सातवां अंक घटनाओं की गति की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखता। राम की रसिकता का दूसरा उदाहरण सातवें अंक को नृत्य और संगीत के समारोह के रूप में दिया जा सकता है। वे नृत्य और संगीत के विस्तृत कार्यक्रम का पूरा आनन्द उठाते हैं और कलाकारों को बहुविधि पुरस्कार देते हैं। राम ही इस नाटक के प्राणतत्त्व हैं। राम के व्यक्तित्व के अधिक से अधिक पहलुओं का चित्रण करने का प्रयत्न आनंद रघुनंदन में नाटककार ने किया है। उन्हें इस दिशा में सफलता भी मिली है।

राम का लोकधर्म रक्षक स्वरूप उनका तेजोमय और त्यागमय जीवन मानवीय भावनाओं से एकाकार होकर और भी निखर उठा है। आनंद रघुनंदन में राम के व्यक्तित्व एवं परंपरागत गौरव की पूर्ण रक्षा हुई है। नाटक में सीता के दर्शन पहली बार धनुष यज्ञ के प्रसंग पर ही होते हैं। विश्वामित्र-जनक से राम का परिचय कराते हैं और शिवधनुष दिखाने के लिए कहते हैं, तब नेपथ्य से गान होता है, जिसमें सीता और राम की जोड़ी के अनिवर्चनीय सौंदर्य का वर्णन है। आनंद रघुनंदन की कथा एक धार्मिक आख्यान पर आधारित है। सामान्य रूप से धार्मिक आख्यानों में शान्त रस की प्रधानता होती है, किन्तु आनंद रघुनंदन में इसका अभाव है। जहाँ तक रस-निष्पत्ति का प्रश्न है, आनन्द रघुनन्दन में नाटक की शास्त्रीय परंपरा का पूर्ण-रूपेण निर्वाह हुआ है। नाट्यशास्त्र के अनुसार श्रृंगार या वीर रस ही अंगी रूप में नाटक में अवतरित हो सकते हैं, अन्य रस अंग रूप में आते हैं। आनन्द रघुनन्दन का मुख्य रस वीर है। अन्य रसों का भी इसमें यथास्थान प्रयोग है, किन्तु आद्योपांत तक वीररस का अनुभव किया जा सकता है। नाटक के प्रारंभ से ही वीर रस का परिचय मिलता है।

आनंद रघुनंदन के कथा निर्वाह में यह बात सहज ही देखी जा सकती है कि जहाँ भी वीरोचित प्रसंग आए हैं, अन्य प्रसंगों की तुलना में उन्हें अधिक विस्तार मिला है। इन प्रसंगों के वर्णन में जो चित्रोपमा और उमंग लेखक में दृष्टिगोचर होती है- वह अन्य प्रसंगों में नहीं। वीर रस इसीलिए इस नाटक का प्रमुख रस हो गया है। न केवल राम के पक्ष में बल्कि रावण के पक्ष में भी इसका समुचित विस्तार हुआ है। वीर के अंग रूप में अन्य रसों का समावेश भी नाटक में हुआ है। अन्य रसों में प्रमुख भयानक, अद्भुत, वीभत्स और करुण है। श्रृंगार का नाटक में अभाव सा है। संयोग तथा विप्रलंभ श्रृंगार की छटा कहीं-कहीं ही दिखाई देती है। हास्य के लिए वैसे भी नाटक की मूल चेतना को देखते हुए स्थान मिलना संभव नहीं था। वात्सल्य रस की स्थिति भी कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। नाटक में श्रृंगार और करुण दोनों की योजना नहीं के बराबर है। यद्यपि नाटक के सातवें अंक में राम की राज्य सभा में नृत्य और संगीत की योजना द्वारा एक हास्य-विलास पूर्ण वातावरण की सृष्टि की गई है, किन्तु उसमें अपेक्षित नाटकीय सौन्दर्य का नितान्त अभाव है। इस अंक से यह स्पष्ट अवश्य होता है कि नाटककार सामंत युगीन संस्कृति एवं रीति परम्परा से कितना

प्रभावित है। तभी तो उसके गंधर्व कन्याओं के बहाने नायिका भेद के प्रमुख प्रकार प्रस्तुत किये हैं। साहित्यिक दृष्टि से इस योजना में रीतिकालीन उदाहरण वाली मुक्त प्रणाली का स्पष्ट अनुसरण है। विविध रसों के सफल निर्वाह में आनंद रघुनंदन की कथावस्तु के द्वारा मानवीय भावनाओं के विभिन्न स्वरूपों की व्याख्या करते हुए नाटककार ने जीवन की समग्रता को आत्मसात किया है। विश्वनाथ सिंह को कवि हृदय ने इस परिपाक में अपना उचित सहयोग दिया है। छन्दों का चुनाव भी रस के अनुरूप हुआ है। आनंद रघुनंदन हिन्दी का प्रारंभिक नाटक होते हुए भी एक सफल नाटक कहा जा सकता है। कथोपकथन की दृष्टि से भी आनंद रघुनंदन में ऐतिहासिक मूल्य की ओर ध्यान आकृष्ट होता है। आनंद रघुनंदन के पूर्व नाटक नाम की जितनी भी रचनाएँ हिन्दी साहित्य में प्राप्त होती हैं, उनमें पद्यात्मक कथोपकथन अधिक है। आनंद रघुनंदन की भाषा ब्रजभाषा है। यद्यपि नाटक में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कर्नाटकी, द्रविड़, मैथिली, मराठी, अवधी-बघेली, अंग्रेजी और उर्दू आदि भाषाओं का भी कहीं-कहीं प्रयोग हुआ है। फिर भी ब्रजभाषा गद्य और पद्य दोनों का अत्यन्त प्रांजल स्वरूप इसमें बराबर मिलता है। वास्तव में आनंद रघुनंदन की भाषा का अध्ययन ब्रजभाषा गद्य के अध्ययन की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। नाटक के सभी कथोपकथन गद्य में हैं, और गद्य की भाषा सर्वत्र ब्रज है। इन कथोपकथनों में प्रयुक्त भाषा सजीव, स्वाभाविक और प्रभावपूर्ण है। उसमें ब्रज भाषा का निखरा हुआ रूप देखने को मिलता है। यद्यपि नाटक की भाषा हिन्दी (ब्रज) है, फिर भी समस्त रंग-संकेत संस्कृत में दिए गए हैं। महाराज विश्वनाथ सिंह संस्कृत के विद्वान थे, ये रंग-संकेत उनके संस्कृत प्रेम के परिचायक कहे जा सकते हैं। नाटक के उपर्युक्त भाषा-वैविध्य को देखते हुए लेखक की विभिन्न भाषा ज्ञान सम्बन्धी असाधारण प्रतिभा का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। छन्द योजना की दृष्टि से नाटक में गेय पदों का प्रयोग उल्लेखनीय है। आनंद रघुनंदन में भजन, पद, विरह आदि नए गेय पदों की रचना करने में संगीत को प्रधानता देने की शैली विश्वनाथ सिंह जी ने सर्वप्रथम निकाली, उसका प्रचलन भारतेन्दु के समय में मान्य हुआ और प्रसाद जी ने अपने गीतों में उसे अपनाया। इस प्रकार विश्वनाथ सिंह का बघेलखण्ड के नाटककारों में प्रथम हिन्दी नाटककार के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

रीवा ही नहीं, पूरे बघेलखण्ड में महाराजा विश्वनाथ सिंह के बाद हिन्दी के मूर्धन्य नाटककारों में लाल प्रद्युम्न सिंह जी का नाम आता है। लाल प्रद्युम्न सिंह का जन्म सन् 1911 में रीवा राज्य के कांकर ग्राम में हुआ था। वे प्रारंभिक विद्यार्थी जीवन प्रयाग में व्यतीत कर रीवा में स्थायी रूप से सन् 1947 में आए। विन्ध्यक्षेत्र हाईकोर्ट के न्यायाधीश, सफल अभिभाषक एवं मध्य प्रदेश लोक सेवा आयोग के सदस्य के रूप में कार्य किया। रावण, त्रेतायुग धर्म और युद्ध, बुद्ध, गुरु गोविन्द सिंह, अहिल्याबाई एवं सुभाषचंद्र बोस, मस्तानी, मीरा, परित्यक्ता की पुत्री 'रत्नावली,' श्री अरविंद, विष्णु प्रिया, सुकन्या, सुकरात, तुलसी, यीशु आदि अनेक ऐतिहासिक व पौराणिक पात्रों पर केन्द्रित नाटक लिखे हैं। प्रद्युम्न सिंह के नाटक रीवा के ही ज्योति प्रकाशन से प्रकाशित हुए हैं। ये नाटक कई अंकों और दृश्यों में विभाजित हैं। नाटक में पर्वत, राजदरबार, राजा-रानियों के अंतर्कक्ष आदि के दृश्य हैं। नाटक की भाषा लेखकीय भाषा है। नाटक रंगमंच की दृष्टि से रंगकर्मियों को आकर्षित नहीं कर पाए एवं शायद ही कहीं इनके मंचन हुए हों। परंतु लाल प्रद्युम्न सिंह का नाटक-प्रेम अवश्य ही स्तुत्य है, उन्होंने ये नाटक हिंदी में लिखे हैं। कुछ नाटक उन्होंने अंग्रेजी में भी लिखे हैं।

योगेश त्रिपाठी बघेलखण्ड के एक लोकप्रिय नाटककार के रूप में उभरकर सामने आये हैं। ये आश्चर्य का विषय है कि वे शासकीय बैंक में कार्यरत होते हुए भी हिन्दी नाटकों की दुनिया में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान स्थापित कर चुके हैं। विज्ञान के प्राणिशास्त्र से स्नातकोत्तर की डिग्री प्राप्त योगेश जी का नाटकों के क्षेत्र में प्रवेश आकाशवाणी के माध्यम से हुआ था। उनका झुकाव प्रारंभ में रंगमंच की ओर था, साथ ही वे रंग नाटकों का लेखन भी करने लगे। आज वे बघेलखण्ड के हिन्दी रंग-जगत के एक लोकप्रिय नाटककार के रूप में जाने जाते हैं। योगेश त्रिपाठी द्वारा लिखे गए नाटकों की तीन श्रेणियाँ हैं- रेडियो नाटक, नुक्कड़ नाटक एवं मचीय नाटक। रेडियो नाटक के रूप में उनका पहला नाटक 'बदलाव' जो केवल पन्द्रह मिनट का रेडियो नाटक था। उसमें प्रसिद्ध कलाकार और आकाशवाणी रीवा में पदस्थ उद्घोषक स्वर्गीय प्रभात मित्रा ने इस नाटक में अविस्मरणीय भूमिका निभाई थी, इस पहले ही नाटक से योगेश त्रिपाठी ने अपने अंदर नाट्य लेखन की प्रतिभा की झलक दिखा दी थी। इसके बाद उन्होंने

अनेक नाटक लिखे, जो न केवल आकाशवाणी रीवा से बल्कि पूरे मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ के केन्द्रों से प्रसारित हुए।

बघेलखण्ड के नाटककारों में योगेश त्रिपाठी का योगदान सराहनीय है। उनके अनेक नाटक सरलता के साथ मंचित किए जा सकते हैं। उनके नाटकों की इस खूबी के मूल में उनका रंगकर्मी होना ही है, चूंकि त्रिपाठी एक कुशल रंग निर्देशक है। अतः उन्हें मंच की आवश्यकताओं का ज्ञान तो है ही साथ ही मंचीय आवश्यकताओं की कमियों को भी भरपूर ध्यान रखते हैं। हिन्दी नाटक के क्षेत्र में बघेलखण्ड का नाम राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित हो चुका है। हालाँकि कुछ ही नाटककार इस क्षेत्र में आए हैं, पर जितने भी आए उनके नाटकों में युग के

अनुरूप समस्याओं को उठाया गया है। कुछ लिखने का प्रयत्न कर रहे हैं- पर यह कहा जा सकता है कि बघेलखण्ड नाट्य लेखन एवं रंगमंचीय क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बना चुका है। यह सत्य है के क्षेत्र में अभी बघेलखण्ड में कुछ और काम होना चाहिए, बघेलखण्ड ही नहीं पूरे देश में हिन्दी नाटक लेखन का कार्य अत्यन्त अल्पगति से हो रहा है, पर जितने भी कार्य हो रहे हैं वे निश्चित ही भविष्य में और अधिक इनका विस्तार होगा। बघेलखण्ड में इनका भविष्य अब उज्ज्वल दिखाई दे रहा है। परन्तु नए उभरते नाटककारों को प्रोत्साहित किया जाना आवश्यक है।

मालवी संस्कृति में संजा पर्व

संजय आटेड़िया

मध्यप्रदेश के मालवा की संस्कृति में बालिकाओं के लिए कला अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम संजा पर्व है। मालवांचल में त्योहारों एवं लोककलाओं का गहरा सम्बन्ध है। ऐसी ही एक लोककला का परंपराओं के परिवेश में श्राद्ध पक्ष में श्रेष्ठ समायोजन होता है, जो किशोरियों का प्रमुख त्योहार माना जाता है और इस त्योहार को 'संजा' के नाम से पुकारा जाता है। संजा केवल नाम नहीं, बल्कि सजीव व्यक्तित्व के रूप में कला कृतियों के माध्यम से घरों की दीवारों पर उकेरा जाता है।

संध्या शब्द का अपभ्रंश है संजा। विभिन्न नामों से पुकारे जाने वाला संजा का नाम शुद्ध रूप से संध्या शब्द का द्योतक है। पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदीजी का अनुमान है कि क्या सांझी का ब्रह्मा की कन्या संध्या से किसी तरह का सम्बन्ध तो नहीं? कालकापुराण (विक्रम की दसवीं-बारहवीं शताब्दी) के अनुसार एक विपरीतार्थ किंवदंती उभरती है कि संध्या व ब्रह्मा के समागम से ही 40 भाव और 69 कलाएँ उत्पन्न हुई थीं।

कुंवारी कन्याओं का यह अनुष्ठानिक व्रत मध्यप्रदेश, राजस्थान, पंजाब, उत्तरप्रदेश व महाराष्ट्र आदि प्रदेशों में संजा, सांजी, संझ्या और सांझी आदि नामों से मनाया जाता है। संजा को कई प्रांतों में अलग-अलग नामों से जाना और पूजा जाता है। विभिन्न नामों से पुकारे जाने के कारण संजा का वास्तविक नाम किसी को नहीं पता। दरअसल, संजा संस्कृत शब्द संध्या का तद्भव रूप है। संजा के विषय में कई लोककथाएँ प्रचलित हैं, जिसमें उसके जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। हिंदू पंचांग भादवा मास की पूर्णिमा से क्वार मास की सर्वपितृ अमावस्या तक पूरे सोलह दिन संजा का त्योहार मनाया जाता है। किशोरियाँ ताजे गोबर से संजा की रोज नई आकृति बनाती हैं और उन आकृतियों को गेंदा, गुलाब, गिलतोड़ी, कनेर आदि कई सुगंधित फूलों से सजाती हैं। हर रोज संजा की

आकृति अलग-अलग होती है। सोलह दिनों के लिए संजा के सोलह रूप होते हैं, जो पूर्णिमा के पाँच पाचों से शुरू होते हैं, फिर एकम् को एक, दूज को चाँद, तीज की तराजू, चौथ का चौक, पंचमी को पाँच कटोरे, छठ को छाबड़ी, सप्तमी को सात भाई की फौज, अष्टमी को आठ पंखुड़ी का फूल, नवमी का नगाड़ा, दशमी का दीपक, ग्यारस की गाड़ी, बारस को बंदनवार, तेरस को जमाई की चिट्ठी लेकर आई चिड़िया और चौदस को घोड़े पर बैठा जमाई बनाए जाते हैं। अमावस्या के दिन बड़ा किलाकोट बनाया जाता है और अगले दिन संजा को भावभीनी विदाई दी जाती है।

प्राचीन लोकमान्यता है कि संजा माता पार्वती का ही रूप है, जो सोलह दिन के लिए अपने पीहर आती है और पार्वती ने भगवान को प्राप्त करने के लिए सोलह दिन का अनुष्ठान किया था, उसी अनुष्ठान को आज किशोरियाँ संजा के माध्यम से करती हैं और अच्छे घर-वर की कामना माँ से करती हैं।

एक अन्य किंवदंती के अनुसार संजा की शादी बारह वर्ष की अवस्था में कर दी गई थी और वह सोलह वर्ष की उम्र तक ससुराल वालों की यातनाएँ सहते हुए मृत्यु को प्राप्त हो गई थी। इसलिए एक दिन को एक साल मानकर सोलह दिनों तक संजा की आराधना की जाती है। ककड़ी, भुट्टे का प्रसाद भी बाँटा जाता है। संजा पर्व पर सालों से व्रत कर रही किशोरियों की शादी के बाद ससुराल से लौटकर उनके द्वारा उजमना किया जाता है। इसके अंतर्गत कन्या भोज दिया जाता है, जिससे मालवी संस्कृति की परंपरा को बनाए रखने में महत्वपूर्ण योगदान प्राप्त होता है। संस्कृति शब्द का अर्थ है- परिमार्जन अथवा संस्कार। किसी भी संस्कृति का मुख्य लक्ष्य शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शांति का विकास करना है। संस्कृति मानव के सामाजिक सम्बन्धों व व्यवहारों को निश्चित करती है। इस प्रकार संस्कृति से आशय मनुष्य की मानसिकता, नैतिकता के साथ सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं कलात्मक जीवन की समस्त उपलब्धियों की समग्रता से है। संस्कृति को परिभाषित करते हुए हाइट ने कहा है कि 'संस्कृति एक प्रतीकात्मक निरन्तर संचयी एवं प्रगतिशील प्रक्रिया है।' स्पष्ट है कि संस्कृति हमें सोचने-समझने, कलात्मक अभिव्यक्ति को प्रसारित करने एवं जीवन को जानने का एक अवसर प्रदान करती है।

मालवी में दर्जनों गीत परंपरा में हैं और यह समय के साथ बदलते जा रहे हैं। कुछ परंपरागत गीतों के साथ फिल्मी गीतों का

समायोजन हो गया है। इन गीतों को बालिकाओं ने भी नया आयाम दिया है। परंपरा से यहाँ अर्थ है-एक दूसरे को, दूसरे से तीसरे को दिया जाने वाला क्रम। यह एक गतिशील जीवंत प्रक्रिया है। परंपरा आधुनिकता को आधार देती है, उसे शुष्क और नीरस बुद्धि-विलास बनाने से बचाती है। उसके प्रयासों को अर्थ देती है, उसे असंयत और विश्रृंखल उन्माद से बचाती है। परंपरा और आधुनिकता ये दोनों परस्पर विरोधी नहीं, परस्पर पूरक हैं।

वर्तमान में संजा पर्व पर होने वाले इन कार्यक्रमों में व्यापक परिवर्तन देखने को मिला है। एक ओर संजा कलाकृति शहरों से ओझल होने लगी है, वहीं दूसरी ओर गाँवों में भी इसके मूल स्वरूप में परिवर्तन हुआ है। जहाँ कुछ वर्षों पूर्व शहरों में गोबर की संजा बनाई जाती थी, वहीं वर्तमान में गाँवों में भी पोस्टर पर बनी कलाकृतियों का चलन होने से इसके स्वरूप में भी परिवर्तन देखने को मिल रहे हैं। मान्यताओं और परंपराओं का निर्वाह करने में अभिभावकों के साथ-साथ बालिकाओं की रुचि भी इसके स्वरूप परिवर्तन के लिए जिम्मेदार है। पिछले कुछ वर्षों में संजा पर्व मनाने और उसे सजाने के लिए पहले जहाँ उत्साह रहता था, वहीं अब ज्यादातर परिवारों में युवतियों का समूह इसे बनाता था। आगे बढ़ने की होड़ और समय की कमी का हवाला देने से संजा पर्व पर होने वाले अनुष्ठानों में व्यापक परिवर्तन देखा जा रहा है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि मालवी संस्कृति में संजा पर्व को अक्षुण्ण बनाए रखने में प्राचीन व आधुनिक परंपराओं का विशेष योगदान रहा है, फिर भी समय के साथ लोक परंपराओं में व्यापक बदलाव हुए हैं। यह परिवर्तन शहरों के साथ-साथ गाँवों में हो रहे हैं। किन्तु, ग्रामीण परिवेश में एक बड़ा क्षेत्र इन परम्पराओं को बनाए रखने में महत्वपूर्ण योगदान दे रहा है, यह भी नहीं भुलाया जा सकता है। जीवन मूल्यों में उतार-चढ़ाव भी इसके स्वरूप परिवर्तन का मुख्य कारण परिलक्षित हो रहा है। आपाधापी के इस दौर में अधिकांश रीति-रिवाजों का निर्वाह महज औपचारिक हो रहे हैं। यह भी सत्य है कि पर्वों के दौरान उपयोग की जाने वाली सामग्री की जगह आधुनिक सामग्री ने ले ली है। यह परिवर्तन हमारे संस्कारों व जीवनमूल्यों से कटने का संकेत है। इसका एक बहुत बड़ा कारण है सामाजिक स्थिति में अपने आपको उच्च दर्शाना, जिससे संस्कृति को आँच आना स्वाभाविक है। हमें यथासंभव अपने संस्कारों का दायित्वबोध कर परम्पराओं को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए आगे आना होगा। महाकवि कालिदास ने ठीक ही कहा है कि- जो पुराना है वह सर्वथा त्याज्य नहीं है, हमें नए-पुराने का आकलन दोनों के सापेक्ष करने की आवश्यकता है।

मालवी पर्व : संजा

अंजना दुबे

‘डग डग रोटी पग पग नीर’ का देश मालवा जहाँ एक ओर शस्य श्यामल उर्वर भूमि, अप्रतिम हरियाली एवं अतुलित प्राकृतिक सुषमा, विपुल धनधान्य से आपूरित है, वहीं दूसरी ओर समृद्ध सांस्कृतिक विरासत को अपने में समेटे हुए है। अपनी अनूठी लोक परम्परा, लोक संस्कृति के माध्यम से मालवाँचल देश में अपनी एक विशिष्ट पहचान और स्थान बनाए हुए है। जितना चटख रंग यहाँ की मेहंदी और हल्दी का है, उतना ही चटख और शोख रंग परिधानों का, जितनी मीठी यहाँ की बोली, उतने ही मीठे हैं यहाँ के लाडू और घेवर। पूरे वर्ष विविध रंगों तीज-त्योहारों, पर्व-अनुष्ठानों, मेलों-ठेलों से मालव भूमि उल्लसित एवं तरंगित नजर आती है। यहाँ का उत्सवधर्मी लोक जीवन का हर पक्ष, क्रियाकलाप में किसी न किसी पर्व- उत्सव की सृष्टि कर ही लेता है। इन्हीं पर्व-अनुष्ठानों, तीज-त्योहारों ने भारतीय लोक संस्कृति की धारा को अक्षुण्ण एवं नैरंतर्य प्रदान किया है। सदियों के अनुभव के उपजे ये पर्व-अनुष्ठान न सिर्फ मनोरंजक हैं। अपितु लोक जीवन को किसी पूर्वज की भाँति पथ-प्रदर्शन करते गृहस्थ जीवन की सीख देते नजर आते हैं।

ऐसी महिमामयी मालव भूमि की माटी की सोंधी महक से सुवासित, बालिकाओं के निश्छल, सौम्य हृदय से निःसृत भावी जीवन की सुखद कामनाओं- आकांक्षाओं से ओतप्रोत गीतों का अनूठा पर्व है- ‘संजा’। भाद्रपद की पूर्णिमा से आरम्भ होकर सर्वपितृ अमावस्या तक पूरे सोलह दिन तक चलने वाले इस अनुष्ठान में धर्म, कला एवं लोकरंजन की अनूठी त्रिवेणी प्रवहमान होती है।

संजा को सांजी, सांझी, संजाबाई आदि नामों से भी जाना जाता है। संध्या अर्थात् संध्या, शाम। मालव जनपद की कन्याएँ पूरे सोलह दिन तक शाम के समय संजा की पूजा करती हैं- गीत गाती हैं। इन गीतों में मालव कन्याओं के सरल, स्वछंद स्वभाव की बड़ी मनमोहक अभिव्यक्ति होती है-

नाना नानी बेना हिल मिल संजाबाई ने मनावा जी
घर आंगन ने लिपि पुती को संजा भीत बनावा जी।
मालवा री रीत भली है गीत खुशी के गांवां जी।।

घर की मुख्य दीवार को गोबर से लीपकर सोलह दिन तक गोबर से ही विभिन्न आकृतियाँ बनाई जाती हैं। उसे रंग-बिरंगे फूल-पत्तियों, चमकीली पत्तियों से सजाया जाता है। संजा को सजाने में मुख्य रूप से गुलतेवड़ी, गेंदा, गुलाब के फूल की पंखुड़ियाँ प्रयुक्त की जाती हैं। बिना गोबर, फूल-पत्तियों के संजा की कल्पना भी नहीं की जा सकती। तभी तो पर्व आरम्भ होते ही शुरू हो जाता है- गोबर, फूल-पत्तियों, चमकीली रंगीन पत्तियों, पूजा सामग्री और प्रसाद एकत्रित करने का महाआयोजन और श्राद्धपक्ष के उन शांत गंभीर दिनों में मालवा का लोकांचल एक अनोखे उमंग-उत्साह से उल्लसित हो उठता है। गोबर, फूल-पत्तियों के मिलने से भोली बालाओं के सामने समस्या आ खड़ी होती है, जिसका समाधान भाई तत्काल कर देता है। वह अपनी बहन के अनुष्ठान में बड़ी तत्परता से योगदान देता है-

संजा तो मांगे हरो-हरो गोबर
कांसे लाऊँ बई मैं हर्यो-हर्यो गोबर
संजा का वीरा जी ग्वाल घर जाय लेवो
बई संजा हर्यो-हर्यो गोबर
संजा तो मांगे बई लाल-पीला फुलड़ा
कांसे लाऊँ मैं लाल-पीला फुलड़ा
संजा की वीरा जी माली घर जाय लेवो
बई संजा लाल-पीला फुलड़ा।।

इस तरह पूजा और दैनिक जीवन में प्रयुक्त सामग्री-कपड़े गहने और पकवान का नाम ले-लेकर गीत को आगे बढ़ाया जाता है। खेल-खेल में ही कन्याएँ पूजा-अनुष्ठान की विधि, व्यवहारिक जीवन में उपयोग में आने वाली वस्तुओं से परिचित हो जाती हैं।

गोबर से लिपी दीवार पर पहले चारों तरफ से ही चौहद्दी बनाई जाती हैं इसके भीतर ही प्रतिदिन नई-नई आकृति बनाई जाती है। सूर्यास्त से पहले आकृति पूर्ण कर ली जाती है। शाम को कन्याएँ एकत्रित होकर संजा की पूजा-अर्चना करती हैं। यहाँ यह बात विशिष्ट है कि संजा की उपासना का प्रत्येक विधान गीत के साथ ही पूर्ण होता है। आरती के लिए दीपक की लौ प्रज्वलित होते ही बालिकाओं के कोमल कंठ से गूँज उठता है-

पैली आरती ने दूसरी आरती
रई रमजोत भई बाप की अमृत जोड़
कका बाबा की अलियाँ मैं फूल बिखेरूँ कलियाँ
सिंगासन मेलू आखा तम लो संजा बई वासा।

और

आरती बई आरती करो संजा की आरती
आरती में एको मेलूँ दुको मेलूँ पाँच पचा को पानो मेलूँ
वृंदावन की कोयल मेलूँ राजाजी को सुओ मेलूँ
रानीजी को हार मेलूँ करो संजा की आरती।

संजा प्रतीक है- हर उस कुंवारी कन्या का जो सौभाग्य कामना से भरी होती है। अटूट आस्था, असीम श्रद्धा, अगाध भक्ति के साथ किए जाने वाले इस अनुष्ठान के पीछे योग्य वर की कामना ही मुख्य होती है-

हर्यो सो गोबर पीली से माला करो संजा की आरती।
तमारा भई भतीजा जोग करो संजा की आरती
पाना फूलाँ भरा रे चंगेर सुहाग भर्यो बाटको
संजा बई की माँ संजा ने भेजा करो संजा की आरती।

इस गीत में कन्याओं की सौभाग्य कामना स्पष्ट देखी जा सकती है। संजा के स्थान पर अपनी सखियों के नाम लेकर गीत को आगे बढ़ाया जाता है। आरती के बाद संजा को भोग लगाया जाता है-

संजा बई जीम चुट लो मैं जिमाऊँ सारी रात
चमक चाँदनी सी रात फूलों भरी रे परात
एक फूल घाटे गयो म्हारी संजाबई उदास
एक घड़ी दो घड़ी साढ़े तीन घड़ी।

इस तरह पूजा और गीतों का यह आयोजन पूरे सोलह दिनों तक चलता है। दूसरे दिन सूर्योदय से पहले संजा को भीतर से निकालकर किसी टोकरी या परात में इकट्ठा करते जाते हैं। फिर दोपहर को नई आकृति बनाई जाती है। पहले दिन पूनम का पाटलो, एकम को चंदा-सूरज, बीज को बिजौरा, तीज को घेवर, चौथ को चौपड़, पंचमी को पाँच कुँआरा-कुँवारी, षष्ठी को छाबड़ी, सप्तमी को सातिया (स्वस्तिक), अष्टमी को हाथी तो नवमी को डोकरा-डोकरी बनाए जाते हैं। दसमी के दिन नारियल का पेड़, ग्यारस को जनेऊ, बारस को ढाल और तलवार बनते हैं। तेरस के दिन से शुरू होता है किलाकोट का निर्माण जो तीन दिनों में पूरा किया जाता है। किलाकोट के भीतर एक सम्पूर्ण गाँव की सृष्टि होती है, जिसमें पहले बारह दिनों की आकृतियों के साथ-साथ सबसे ऊपर गणेशजी की आकृति, दाएँ-बाएँ चंदा-सूरज, कमल का फूल, हाथी, घोड़े, ऊँट, रथ, ढोली, केल, नारियल और खजूर के पेड़, भिश्ती, गाड़ी, वंदनवार, पानी की पंदेरी, चिड़ियाँ, सीढ़ी, मोर, छाछ बिलौनी, किराना दुकान, तुलसी क्यारा, रसोईघर, जाड़ी जसोदा, पतली पेमा आदि उकेरे जाते हैं।

और आखिर में वह दिन आ ही जाता है, जब सबकी प्यारी संजा परिवार जन और सखियों को रोते बिलखते छोड़ विदा होती है। सर्वपितृ अमावस्या के दिन संजा को दीवार से निकालकर और पिछले दिनों इकट्ठा की गई संजा को बाँस की टोकरियों में रख कन्याएँ सजधज कर टोकरी सिर पर रख संजाबाई को विदा करने निकलती हैं—

नानी सी गाड़ी रड़कती जाए,
जामे बैठी संजा, संजा सासरे जाए
घाघरो घमकाती जाए, चूड़लो खनकाती जाए
बिछिया बजाती जाए, बईजी की नथनी झोला खाए
रोती जाए गाती जाए, बतई दो बईजी सासरे जाए।

किसी नदी या तालाब में संजा को खमाकर (विसर्जित कर) स्नान कर उदास भाव से कन्याएँ घर लौटती हैं। लौटते समय पीछे मुड़कर नहीं देखा जाता। कन्या पितृगृह को सूना करके ससुराल चली गई है। परिजनों के हृदय में निराशा एवं सूनापन छा गया है, किन्तु बेटी का जीवन हमेशा खुशियों के प्रकाश से जगमगाता रहे। अतः शाम को उस स्थान पर सोलह

दीपक जलाए जाते हैं और कन्याओं को खीर पूड़ी खिलाई जाती है, और समाप्त होता है हँसी-ठिठोली, उमंग-उत्साह का अनूठा गीत अनुष्ठान। विवाह पर्यन्त प्रतिवर्ष इस व्रत को बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ मनाकर विवाह के प्रथम वर्ष में विशेष आयोजन कर संजा को उजम (उद्यापन) दिया जाता है। इस प्रकार कौमार्य व्रत समाप्त कर कन्याएँ गृहस्थ धर्म में प्रवेश करती हैं।

संजा पर्व क्यों मनाया जाता है, इसका कोई ठोस लिखित प्रमाण नहीं मिलता। यही कारण है कि इसके सम्बन्ध में अलग-अलग कथाएँ प्रचलित हैं। एक कथा के अनुसार संजा एक अमीर बाप की बेटी थी। पिता उसका विवाह खूब धूमधाम से करते हैं और गृहस्थी का सभी समान दहेज में देते हैं। इसके बावजूद ससुराल में उसे अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं, जिनसे परेशान हो वह आत्मदाह कर लेती है, और दूसरे दिन संजा की आकृति दीवार में अंकित दिखाई देती है। तभी से संजा को देवी का स्वरूप मानकर उनकी पूजा की जाती है। दूसरी कथा के अनुसार संजा एक कुँआरी लड़की थी, जिसका विवाह तय हो गया था। एक दिन संजा पूजा कर रही थी, तभी उसका होने वाला पति आ जाता है और उसकी पूजा भंग हो जाती है। भगवान रूष्ट होकर उसका पति छीन लेते हैं। तभी से कन्याएँ उस अनिष्ट निवारण के लिए गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने तक इस व्रत को करती हैं। किन्तु सबसे प्रचलित कथा के अनुसार पार्वती ने शिव को पति रूप में प्राप्त करने के लिए खेल-खेल में इस व्रत को प्रतिष्ठित किया था। उन्हीं के अनुकरण पर कन्याएँ सुयोग्य वर प्राप्ति हेतु इस व्रत को करती हैं।

यह संजा का व्रत पार्वती की उस तपःसाधना का सूचक है, जो उन्होंने पिनाकपाणि जैसे देव महादेव को पति रूप में प्राप्त करने के लिए अनुष्ठान के रूप में की थी। यह व्रत कुँआरी कन्याओं के लिए गौरी पूजन का एक स्वरूप मात्र है। कारण कुछ भी हो, इतना स्पष्ट है कि व्रत पतित्व साधना, मंगलमय और समृद्धिदायक गृहस्थ जीवन की कामना एवं अखण्ड सौभाग्य का सूचक है। संजा के गीतों में इसके ऐतिहासिक पक्ष पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है—

काजल टीकी लो बई काजल टीकी लो,
काजल टीकी लइने म्हारी संजा बई ने दो।

संजा बई को पीहर सांगानेर, परण पधार्या गढ़ अजमेर।
राम धारी चाकरी गुलाम थारो देश,
छोड़ो म्हारी चाकरी पधारो व्हांका देस।

उक्त गीत से यह ज्ञात होता है कि संजा का मायका राजस्थान के सांगानेर नामक स्थान में है और उसका विवाह अजमेर में हुआ होगा। संजा पर्व के तेरहवे दिन बनने वाले किलाकोट में राजपूताना संस्कृति की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। मध्यकाल में जिस प्रकार किले के भीतर ही पूरा नगर बसा होता था। संजा के किलाकोट में भी एक पूरे नगर की सृष्टि होती है। एक अन्य गीत में भी संजा के आभिजात्य परिवार की पुत्री होने की बात कही गई है, जहाँ वह खूब लाड़-प्यार, सुख-वैभव में पली बड़ी है-

संजा तम बड़े बाप की बेटी तम खाओ खाजा रोटी
पठानी चाल चालो गुजराती बोली बोली

संजा पर्व के महत्त्व का निर्धारण हम मनोरंजन और शैक्षणिक आधार पर कर सकते हैं।

भारत त्योहारों का देश है। वर्ष के प्रत्येक महीने की कोई तिथि ऐसी न होगी, जिसमें देश के किसी न किसी हिस्से में कोई त्योहार -उत्सव न मनाया जाता हो। मालवांचल में तो इसके लिए लोकोक्ति भी प्रचलित है- 'सारवार ने नौ तैवार'-जीवन के उल्लास और आनंद के लिए सप्ताह के सात दिन भी अपर्याप्त होते हैं। धार्मिक पर्वों एवं हर्षोन्मुख त्योहारों की इतनी बहुलता है कि वे सप्ताह के सात दिनों की परिधि में समाविष्ट नहीं हो सकते। संसार के समस्त देशों में और उनकी भिन्न-भिन्न संस्कृतियों में जितने भी उत्सव और त्योहार मनाए जाते हैं, उनके मूल में आनंद की भावना ही सर्वोपरि है। संजा पर्व में बालिकाओं की मस्ती, उमंग-आनंद-उत्साह और आमोद-प्रमोद का चरमोत्कर्ष देखा जाता है। सोलह दिनों के लिए बालिकाएँ अपना एक अलग संसार रच लेती हैं। संजा निर्माण के लिए गोबर, साज-सज्जा सामग्री एकत्रित करती, संजा गीत गाने के लिए हम उम्र सखियाँ जुटातीं, गीतों के माध्यम से एक दूसरे को छेड़ती, मनोरंजन करती बालिकाएँ अपने लिए एक अद्भुत कल्पना लोक की सृष्टि कर लेती हैं। संजा गीतों में बालिकाओं के सरल, स्वच्छंद स्वभाव की मनोरम अभिव्यक्ति हुई है। संजा को सखियाँ सास का भय

दिखाकर छेड़ रही हैं, इसी से खीजकर वह कहती है-

संजा बई के सासरे जावांगा खाटो रोटी खावांगा
संजा की सासू दुतेली (दुष्ट) घाटी चढ़ता दड़बल्ली
असी दुआं दारी के चमचा की काम करऊंगा धमका कें
में बैटूंगा गादी पे उके बिठाऊंगा खूँटी पे।

खेल में भी ग्रामीण भारतीय बालाओं के आकर्षण का सबसे बड़ा केन्द्र ससुराल और उसके रिश्ते होते हैं। भावी सास-ससुर, जेठ-जिठानी, ननद के किंवदंती बन चुके कूरतापूर्ण व्यवहार की काल्पनिक स्मृति भी उसे भयभीत करने के लिए काफी है। इसी भय ने इन रिश्तों के प्रति एक स्वभाविक अरूचि, रूखापन उसके मन में भर दिया है। कल्पना में ही वह इन रिश्तों का उपहास कर सुख का अनुभव करती है। जब सखियाँ उससे ससुराल वालों के बारे पूछती हैं, तो उसका जवाब देखिए-

संजा री संजा थारी सास कैसी?
हाथ में लाठी न बुड्ढी जैसी।
संजा री संजा थारो ससुरा कैसो?
अटारी पे बैठो बंदर जैसो।
संजा री संजा थारी जिठानी कैसी?
माथे पे टोपली न मालन जैसी।
संजा री संजा थारो देवर कैसो?
घर में काम करे नौकर जैसो।।

ससुराल में पति ही एकमात्र ऐसा प्राणी है जो सर्वाधिक प्रिय है। उसके प्रति एक सहज आकर्षण बचपन से ही उसके मन में होता है, तभी तो ससुराल के सभी रिश्तों पर तंज करने वाली संजा मजाक में भी पति का मान-सम्मान नहीं घटने देती-

संजा री संजा थारो पति कैसो?
कुर्सी पे बैठो बालिस्टर जैसो।

विवाह के बाद एक और रिश्ता बनता है जो सबसे ज्यादा रसीला, छेड़छाड़, हँसी-मजाक वाला होता है- जीजा साली का रिश्ता। जीजा जब पहली बार ससुराल आता है तो सालियाँ छेड़छाड़ कर उसकी वो दुर्गत करती हैं कि बेचारा उनके आगे हार मानने में ही अपनी भलाई समझता है। खाली हाथ आने पर सालियाँ उसकी अच्छी खबर लेती हैं, उसे कंगाली तक कह देती हैं-

खुड़-खुड़ रे म्हारा खोड़्या बामण
 म्हारी संजा को लेवा आयो रे
 म्हारी संजा को माथो छोटो टिकों क्यों नी लायो रे
 लायो थो बई लायो थो पण बाटे भूली आयो रे।
 म्हारी संजा तो कानो वाली अरे कंगाली भले कंगाली
 झुमकी क्यों नी लायो रे, लायो थो बई लायो थो
 नदी किनारे भूली आयो चुकी आयो।
 म्हारी संजा के कंट्यो थो तो माला क्यों नी लायो रे
 माला बेच तंबाकू लायो गुड़-गुड़ करतो आयो रे।

इतना ही नहीं जब दूसरी बार जंवाई संजा के लिए साड़ी लेकर आता है तो सालियाँ उसमें भी मीन-मेख निकालने में नहीं चूकती-

संजाबई का लाड़ा जी लुगड़ो लाया जाड़ा जी
 असी कई लाया दारी का लाता गोट किनारी का।

सखियों में छेड़छाड़ के सबसे प्रिय विषय ससुराल पक्ष के रिश्ते ही होते हैं। संजा की सखियाँ संजा के ससुराल वालों पर क्या-क्या इल्जाम लगाती हैं, इसकी एक झलक देखिए-

इमली के पेड़ के नीचे खोया म्हारा बटुआ
 संजा बई की सास ने चुराया म्हारा बटुआ
 चाँदी ले लो सोना ले लो दे दो म्हारा बटुआ।।

इन सभी गीतों में संजा के स्थान पर एक दूसरे का नाम लेकर सखियाँ एक दूसरे से खूब छेड़छाड़ करती हैं।

हमारे समस्त तीज-त्योहारों, पर्व -अनुष्ठानों के पीछे कोई न कोई महती उद्देश्य, कोई सीख-संदेश अनिवार्यतः निहित होता है। सम्पूर्ण हँसी-ठिठोली, आमोद-प्रमोद के साथ ही किशोरियों का आनुष्ठानिक संजा पर्व शैक्षणिक महत्त्व भी रखता है। इस अनुष्ठान में खेल-खेल में ही बालिकाएँ चित्रकला, संगीत कला, गृहस्थ धर्म के दायित्वों से भली-भाँति परिचय प्राप्त कर लेती हैं।

संजा मुख्यतः एक लोककला उत्सव है, जिसमें किशोरियों की आस्था और आकांक्षाएँ लोक चित्रकारी के माध्यम से अभिव्यक्ति पाती हैं। प्रकारांतर से इसके माध्यम से वे चित्रकला

की शिक्षा भी प्राप्त करती हैं। पूरे सोलह दिनों तक दीवार पर गोबर से भिन्न-भिन्न प्रकार की आकर्षक आकृतियों का निर्माण किया जाता है, जिसे रंग-बिरंगी फूल-पत्तियों, चमकीली पन्नियों से सजाया जाता है। किसी कलाकार के दक्ष हाथों के समान ही छोटी-छोटी बालिकाएँ पहले दिन पूनम के पटले लेकर, तेहरवें दिन किलाकोट बनाने तक तरह-तरह की आकृतियाँ सधे हाथों से बनाती हैं। तेहरवें दिन से बनाने वाला किलाकोट किसी महाभियान से कम नहीं होता। इसे बनाने के लिए एक पूरी दीवार दरकार होती है। साथ ही चाहिए ढेर सारा गोबर और हाथ बंटाने के लिए ढेर सारी सखियाँ। फिर शुरू होता है, किलाकोट का निर्माण, जिसे अगले तीन दिनों में पूरा किया जाता है। किलाकोट एक सम्पूर्ण गाँव का प्रतीक होता है जिसमें पहले बारह दिनों की आकृतियों के साथ ही राजपूत रजवाड़ों के किले के भीतर पाए जाने वाले समस्त उपकरण, हथियार, घर-गृहस्थी में उपयोगी सभी सामग्रियाँ पाई जाती हैं। कन्याएँ सुघड़ हाथों से सबसे पहले ऊपर प्रथमेश गणेश की स्थापना करती हैं, फिर दाएँ-बाएँ कोने में चँदा-सूरज स्थान पाते हैं। साथ ही कमल का फूल, हाथी-घोड़े, रथ, ऊँट, तलवार-ढाल, ढोली, केला, नारियल और खजूर के पेड़, भिश्ती, वंदनवार, पानी की पंदेरी, छाछ बिलोनी, चिड़ियाँ, सीढ़ी, मोर, किराना दुकान, तुलसी क्यारा, गाड़ी, रसोईघर, जाड़ी जसोदा, पतली पेमा आदि उकेरे जाते हैं। ढोली का ढोल छिले हुए भुट्टे से बनता है, तो झाड़ू की सीक बनती है ढोल बजाने की संटी। चने की दाल और गेहूँ से सजते हैं बुंदकियों वाले घाघरे। फूल पत्तियों से सजे इस किलाकोट में ग्रामीण अंचल साकार हो उठता है। इन सुघड़ कलाकृतियों को देख सभी का जी जुड़ा जाता है।

संजा के सजते ही दीपक की पवित्र लौ के साथ बालिकाओं के सुमधुर कंठ से फूट पड़ते हैं मंगल गीत। बाल मन की अनेक कल्पनाओं की तरह ही ये गीत भी विविधता लिए होते हैं। आकर्षक भावाभिव्यंजना, रस स्निग्धता, लालित्य से ओत-प्रोत ग्राम कन्याओं के मुक्त कंठ से निःसृत इन गीतों से पूरा मालवांचल गुँज उठता है। इस प्रकार वे अनजाने में ही लोकसंगीत में पारंगत हो उठती हैं।

हिन्दू समाज में गृहस्थ जीवन को तप की संज्ञा दी गई है और तप की प्रधान साधिका है स्त्री, जो परिवार की धुरी है। सारे

रीति-रिवाज, परम्परा, प्रथा, धर्म-कर्म के निर्वहन का दारोमदार घर की स्त्री पर ही होता है। यही कारण है कि उसे बचपन से ही गृहस्थ जीवन के नियम-कायदों-दायित्वों, विभिन्न रीति-रिवाजों आदि की जानकारी प्रकारांतर से दी जाती रहती है। संजा पर्व भी मानो भावी गृहस्थ जीवन की तैयारी है, जिसके माध्यम से बालिकाएँ न सिर्फ विवाह के बाद जुड़ने वाले रिश्तों से परिचित होती हैं, अपितु विविध पर्व-अनुष्ठानों, रीति-रिवाजों, पूजा विधियों, गृहस्थ जीवन के खट्टे-मीठे प्रसंगों, नियम-कायदों का पूर्वाभ्यास करती दिखती हैं। श्राद्धपक्ष में जब हिन्दू गृहस्थ अपने पूर्वजों को स्मरण करता विभिन्न कर्मकांडों में लिप्त रहता है, तभी किशोरियाँ भी अपनी तरह से व्यवहारिक जीवन की शिक्षा लेती दिखाई देती हैं। संजा के विविध चित्रों में यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। पंचमी को जब समाज कुँवारों का श्राद्ध कर रहा होता है, बालिकाएँ भी संजा में पाँच कुँआरे बनाकर अनजान आत्माओं को अपनी श्रद्धा देती दिखती हैं। सप्तमी को बनने वाला सतिया परिवार की शुभकामना की इच्छा व्यक्त करता है। नवमी को जब बड़े बुजुर्गों का श्राद्ध किया जाता है तो संजा में उकेरे जाते हैं डोकरा-डोकरी। वहीं त्रयोदशी को जब सदगृहस्थ घात में मृत परिजनों का श्राद्ध करता है, बालिकाएँ बनाती हैं घायला-घायली। कितना सूक्ष्म लेकिन कितना सशक्त है संस्कृति का यह अप्रत्यक्ष हस्तांतरण। पहली आरती की पवित्र लौ के साथ अक्षत पुष्पों से संजा का आह्वान धार्मिक अनुष्ठानों की शिक्षा का प्रथम पड़ाव है।

बेटियाँ तो पराई होती हैं। एक न एक दिन उन्हें पितृगृह छोड़कर श्वसुर गृह जाना पड़ता है। इस करुण एवं हृदय द्रावक अटल स्थिति से बालिकाएँ पहले ही संजा के व्रत और गीतों द्वारा परिचित हो जाती हैं। सोलहवें दिन संजा को विदा कर मानो वे पितृगृह को छोड़ने के लिए स्वयं को मानसिक रूप से तैयार करती हैं और यही बात संजा पर्व को विलक्षणता प्रदान करती है। भावी जीवन की तैयारी का ऐसा सुव्यवस्थित विधान एवं शिक्षण साहित्य में मालवांचल को छोड़कर नहीं मिलता है।

संजा पर्व का एक सामाजिक महत्त्व भी है और वह इसमें व्यक्त सामुदायिकता की भावना। संजा का आलेखन हो या गीत गायन, कोई भी कार्य सखियों के सहयोग के बिना सम्भव नहीं। सखियाँ ही नहीं आस-पड़ोस की बड़ी-बूढ़ियाँ यहाँ तक पूरा गाँव-जवार ही पूरे उत्साह और तत्परता से सहयोग देता दिखाई

देता है। माली फूल देता है तो किसान गोबर और चमकदार पन्नियाँ मिलती हैं पान वाले की दुकान से। इस तरह से सामुदायिकता, सहअस्तित्व का पाठ सीखती चलती हैं।

संजा गीतों में स्त्री जीवन के सुख-दुःख, उत्साह-उमंग, इच्छाओं-आकांक्षाओं की मार्मिक व्यंजना हुई है। वस्तुतः संजा पर्व रूपक है स्त्री जीवन का। सोलह दिन मनाया जाने वाला यह अनुष्ठान कन्याओं के जीवन के एक-एक वर्ष का द्योतक है। पूर्णिमा से आरंभ होकर अमावस्या को समाप्त होना भी एक गहरा प्रतीकार्थ रखता है। पूर्णिमा अर्थात् किसी सदगृहस्थ के घर कन्यारत्न के जन्मोत्सव का उल्लास, प्रसन्नता। वह दिन माता-पिता के लिए पूर्णिमा के दिन से कम नहीं, जब सोलह कलाओं से पूर्ण चाँद सी बेटा उनके जीवन में खुशियों का प्रकाश लेकर आती है। सोलह वर्षों बाद विवाह कर श्वसुर गृह के लिए कन्या का प्रस्थान अमावस्या का दिन है, जब पितृगृह की चंद्रकला अपने परिजनों-सखियों को बिछोह के अंधकार में छोड़ चल देती है- एक नए जीवन का वरण करने। कन्या का जन्म बड़ा सुखदायी है, लेकिन यह सुख जन्म से ही अपने दुःख भी लेकर आता है। बिछोह का दुःख। बेटा तो जन्म के साथ ही विदाई भी अपने नसीब में लिखा कर लाई। इस दारुण यथार्थ से सभी परिचित हैं। यही कारण है कि पुत्री का लालन-पालन एक धरोहर की तरह करते हैं, जिसे एक दिन उन्हें लौटाना है।

आज संजाबई म्हारे पावणां

दो दिन पावणां ने तीसरा दन सूना।।

पीहर का परिवेश कितना सुखद और प्रिय है। माता-पिता का लाड़-दुलार, सखियों का स्नेह और प्राणों से प्रिय भाई का संरक्षण। भाई-बहन एक दूसरे के पूरक हैं। बिना भाई के बहन का और बिना बहन के भाई का कोई भी काम पूरा नहीं होता-

इमली का पेड़ नीचे रूनझुन बाजा बाजेजी

आज तो म्हारो सूरज बीरो ले घोड़ी दौड़ाए जी

आज तो म्हारी संजा बेना ले फुलड़ा बधाये जी।।

और

अतल बतल को तोरियो ने बैतल की तलवार रे

कौन सो बीरो बाग लगावे कौन सी बहनिया सींचे रे

सूरज बीरो बाग लगावे संजा बैनिया सींचे रे।।

लेकिन ये सुखद क्षण कितने क्षणिक होते हैं। बेटी तो पराई है। उसे लेने उसका पति (पावणां) आ गया है। माँ के हृदय में ममता की बाढ़ आ गई है। वह अपनी बेटी को खूब खिला-पिलाकर विदा करना चाहती है। आखिर अबकी गई बेटी पूरे वर्ष भर बाद ही पीहर का मुँह देख पाएगी-

*म्हारी संजा बई ने लेवा आया पावणां
भोजन जिमाऊं म्हारी संजा ने।
भारा महना पाछे आवेगा पालकी में बैठी ने जावेगा।।*

पीहर के इस सुखद सुरक्षित परिवेश को छोड़कर बेटी ससुराल नहीं जाना चाहती। ससुराल से आए हाथी-घोड़े, रथ-पालकी को वह लौटा देने को कहती है। कीमती गहनों-कपड़ों का प्रलोभन भी व्यर्थ चला जाता है-

*संजाबई के सासरे से हाथी भी आया घोड़ा भी आया
जावो संजाबई सासरिए।।
संजा का जवाब- हूँ तो नी जऊं दादाजी सासरिए।*

संजा (बेटी) बार-बार अपने पिता से रोक लेने का आग्रह करती है, लेकिन माता की अपनी मजबूरी है। बेटी पराया धन जो ठहरी। उसे लौटना तो है ही, इसीलिए पिता कलेजे पर पत्थर रखकर बेटी की आर्त पुकार अनसुना कर जाते हैं-

*कोट पे बैठी चिड़कली उड़ावो न म्हारा दादाजी
आंगण पे बैठी चिड़कली उड़ावो न म्हारा दादाजी
बैठा पावणां जिमाओ न म्हारा दादाजी
संजा चाल्या सासरे मनाव न म्हारा दादाजी।*

ससुराल में भरपूर सुख-समृद्धि होने पर भी दुतेली सास का भय उसके मन में बैठा हुआ है। वहाँ का पराया वातावरण याद कर उसका फूल जैसा कोमल मन मुरझा जाता है। ससुराल के लोग खोटे हैं, वहाँ उसके साथ खेलने वाला भी तो कोई नहीं है। उसके खेल-खिलौने भी तो यहीं छूटे जा रहे हैं। ससुराल में तो खेलने के लिए बेर की गुठली भी नहीं मिलती। अतः वह अपने भाई से खिलौने ला देने का आग्रह करती है-

*नाना-नाना छावल्या मंगई दो बीर सासरिया में खेलांगा
सासरिया का खोटा लोग खाय खजूरा बेचे बोर।*

वास्तव में वह भाई के साथ खेले खेल उसके साथ बिताए मधुर क्षणों को खिलौनों के माध्यम से स्मृति रूप में रखना चाहती है और इशारे में भाई को बता भी देती है कि भाई ससुराल के लोग ठीक नहीं हैं। वहाँ उसे कष्ट है। भाई ही तो उसका एक मात्र सहारा है। कितनी करुण है बहन की यह पुकार।

आखिर सब मान-मनुहार, इंकार के बाद भी उसे ससुराल जाना ही पड़ता है। किंतु वहाँ भी उसे पीहर की स्मृतियाँ सताती रहती हैं। भाई-भाभी और प्यारा सा भतीजा। वह व्याकुलता से पीहर के बुलावे की वाट देखते रहती है-

*में कोट चढ़-चढ़ देखूँ म्हारो कौन सो बीरो आयो
म्हारो चांद सूरज बीरो, आयो मोटर पे बैठिके आयो
मोटर के पाछे डिक्की, डिक्की में बैठि भाभी
भाभी की गोद में मुन्ना, मुन्ना के सिर पर टोपी।*

तो इधर संजा के पीहर वाले उसकी सखियाँ भी संजा की याद में व्याकुल हैं। साँझ को आकाश में उड़ते तोतों को देख सखियाँ उन्हें संदेश देती हैं-

*तोता रे तोता थारी हरी पीली चोंच रे
तू तो जाजे रे संजा बई के सासरे
बई ने लाजा रे हाथी पे बैठाए
बई तो उतरिया रे बीरा दो मेंदी का झाड़
बई ने रंगिया रे बीरा लाल गुलाबी हाथ
बई की साथन गोठाण रे बीरा जावेगा वाट।।*

अपने भीतर कई सीख संदेश समेटे मालवांचल का यह बेमिसाल सृजन पर्व आयातित संस्कृति की चपेट में आकर अपनी लोकप्रियता खोता जा रहा है। हमारी संस्कृति के द्योतक अनेकानेक पर्व कब आए और गए याद नहीं रहता। आज जब हम विज्ञापन निर्देशित हो गए हैं, हमें वही सुहाता है, जिसका लोकलुभावन प्रचार हो। यही कारण है कि फिल्म से लेकर छोटे बॉक्स तक में बड़े ग्लेमर के साथ प्रदर्शित करवा चौथ, छठ आदि त्योहार सम्बन्धित प्रदेशों में ही नहीं, पूरे देश में प्रसिद्धि-प्रचार पा चुके हैं और उसी ग्लेमर के साथ मनाए जाने लगे हैं। मालव जनपद के इस लोकोत्सव को बचाने के लिए इस तरह की कोशिश स्वागत योग्य हो सकती है।

लोक संस्कृति और भारतीय समाज

डॉ. अर्चना शुक्ला

लोक संस्कृति भारतीय संस्कृति का ही अंग है। लोक संस्कृति के पहले हमें संस्कृति पर विचार करना आवश्यक है। संस्कृति वह इकाई है, जिसमें ज्ञान, कला, रीति-रिवाज, उत्सव एवं समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य के द्वारा अर्जित अन्य सभी योग्यताएँ शामिल हैं। इसकी शब्दगत व्युत्पत्ति है। सम्+कृ+क्ति अर्थात् कृ धातु से क्तिन प्रत्यय और सम् उपसर्ग लगाने से संस्कृति शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है परिमार्जन या परिष्कार।

भारतीय सनातन संस्कृति गंगा की तरह पवित्र है। विभिन्न भाषाओं, वेश-भूषाओं, आचारों-विचारों के बावजूद संस्कृति की आत्मा एक है, जिसे विश्वात्मा के रूप में परिभाषित किया गया है। 'उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्' भारत के लोगों को एक ही कुटुम्ब के रूप में माना गया है। भारतीय संस्कृति विश्व में प्राचीनतम है, इसका स्वरूप बहुधार्मिक, बहुभाषी तथा मिश्रित है। प्राचीन भारत की सिंधु घाटी सभ्यता से लेकर वैदिक काल और वैदिक काल से आधुनिक काल तक भारतीय संस्कृति की बनावट और बनावट में अनेक सूक्ष्म एवं चिरंतन तत्त्वों का समावेश होता आया है। इसलिये भारतीय संस्कृति का कभी भी क्षय नहीं हुआ है, इसके पीछे भारतीय संस्कृति के बुनियादी तत्त्व हैं। यह विश्व की अधिकांश संस्कृतियों के अच्छे स्वरूप को अपने में समेटे हुए परिवर्तन और परिवर्धन की संभावनाएँ मौजूद रखती हैं।

भारतीय संस्कृति की अवधारणा मूलतः प्रकृति से जुड़ी हुई है। यह संस्कृति कालक्रम के अनुसार सनातन बनी रहती है। प्राकृतिक मानवता की धारणा संयुक्त मूल्य द्वारा निर्मित संस्कृति ही मूलतः संस्कृति है। व्यक्ति/ परिवार संस्कृति, लोक संस्कृति सभी समाज के अभिन्न अंग है। समाज के इन सभी अंगों में परिवर्तन यानी भारतीय समाज में परिवर्तन है, क्योंकि समाज और संस्कृति एक दूसरे के पूरक हैं। भारतीय संस्कृति अनादिकाल से नित्य प्रति नूतनता लिये हुए शाश्वत एवं निरन्तर बनी हुई है। सहिष्णुता एवं अनुकूलन क्षमता के बल पर भारतीय संस्कृति ने अपने स्वरूप को गढ़ा है। महाकवि कालिदास के अनुसार जो पुराना है, वह सर्वथा त्याज्य नहीं है। भारतीय संस्कृति का स्वरूप प्राचीनता एवं नवीनता के औचित्यपूर्ण सामंजस्य को व्यक्त करता है।

सम्पूर्ण भारत में विभिन्न जातियों एवं सम्प्रदायों के लोग निवास करते हैं, इसी कारण भारत में अनेकता में एकता के दर्शन होते हैं। भारत की इन विभिन्न जातियों और सम्प्रदायों के अपने-अपने तीज-त्योहार, उत्सव और रीति-रिवाज हैं। सम्पूर्ण भारत के ग्रामीण क्षेत्रों की भी अपनी-अपनी लोक संस्कृति है। उस क्षेत्र की बोली, वेशभूषा, खान-पान, मेले, लोक नृत्य, लोक संगीत आदि सभी लोक संस्कृति है। यह लोक संस्कृति नगरों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक जीवन्त है। इस संस्कृति के जीवित रहने से व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र सभी जीवन्त रहते हैं।

भारत में गुजरात, राजस्थान, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश आदि सभी राज्यों की अपनी-अपनी लोक संस्कृति है। लोक संस्कृति को जीवित रखने में भारत की नदियों की प्रमुख भूमिका है। नदियों के किनारों के ग्रामों और वहाँ के जनसमुदाय में लोक संस्कृति अपेक्षाकृत अधिक जीवित है। मध्यप्रदेश में भी नर्मदा, कावेरी, क्षिप्रा आदि नदियाँ प्रवाहित हो रही हैं, जिसमें से नर्मदा तो मध्यप्रदेश की जीवनदायिनी है। इसीलिये हमारा प्रदेश अपनी लोक संस्कृति में अग्रणी एवं जीवन्त है। प्रदेश की इस लोक संस्कृति में निमाड़ (खंडवा, खरगोन आदि) का गणगौर, सांझा, भुआणा (हरदा, होशंगाबाद आदि) क्षेत्र की भुजलियाँ बुंदेलखण्ड का राई नृत्य आदि प्रसिद्ध हैं। क्षेत्रीय बोलियाँ भी लोक संस्कृति के प्राण हैं। भारत में भोजपुरी, अवधी, खड़ी बोली, निमाड़ी, मालवी, बुंदेलखण्डी आदि विभिन्न बोलियाँ बोली जाती हैं।

ऐतिहासिक घटनाओं के परिदृश्य में जब भी हम दृष्टिपात करते हैं तो भारत भूमि पर विदेशी आक्रमणकारियों ने अपनी पूरी क्षमता के साथ भारतीय संस्कृति को समूल उखाड़ फेंकने का भरसक प्रयास किया। लेकिन वे इनमें सफल नहीं हो सके। जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाश से निरंतर विश्व को प्रकाशित करता रहता है, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति निरन्तर एवं शाश्वत प्रकाशपुंज के रूप में विश्व मानव समाज में ज्ञानरूपी प्रकाश फैला रही है। लेकिन वर्तमान समय में हमारे भारतीय नैतिक मूल्यों का तेजी से विघटन हो रहा है, जिसका प्रभाव हमारी भारतीय संस्कृति और लोक संस्कृति पर भी पड़ रहा है। वर्तमान परिपेक्ष्य में लोक संस्कृति में काफी परिवर्तन आ चुका है। लोक संस्कृति में आये परिवर्तन के अनेक कारण सामने आये हैं- जैसे शैक्षिक, वैज्ञानिक और आधुनिक प्रभाव आदि। वर्तमान युग में पढ़े-लिखे युवा अपनी संस्कृति से विमुख होते जा रहे हैं, क्योंकि उनका परम्पराओं और रीति-रिवाजों में पूर्णतः विश्वास नहीं है। आज का युग वैज्ञानिक युग है। वर्तमान संचार प्रणाली, आवागमन आदि के कारण एक दूसरे से दूरियाँ कम हो गई हैं। इसलिये भी लोक संस्कृति अपना मूल स्वरूप छोड़ रही है।

आधुनिकता की होड़ में युवा अपने मूल अस्तित्व से परे होते जा रहे हैं। उनका रहन-सहन, पहनावा सब कुछ परिवर्तन की ओर है लेकिन यह आरोप हम सभी युवाओं पर नहीं लगा सकते। आज भी युवाओं का कुछ वर्ग अपनी लोक संस्कृति और परम्पराओं की जड़ों से जुड़ा हुआ है और भविष्य में जुड़ा भी रहना चाहिए, ताकि आने वाली पीढ़ी को वह यह सब कुछ हस्तांतरित करते हुये भारतीय समाज को मजबूती प्रदान कर सके। उपरोक्त कारणों के अलावा और भी कई ऐसे कारण हैं, जिससे हमारी लोक संस्कृति परिवर्तित हो रही है। एक ओर तो हम प्राचीन धरोहरों को सहेजकर रख रहे हैं, तो लोक संस्कृति जैसी प्राचीन जीवन्त धरोहरों को खोना समाज के लिये बहुत बड़ी हानि है।

हमारी लोक संस्कृति बहुत हद तक प्रकृति को अपने में समाये रखती है। यदि लोक संस्कृति में परिवर्तन होता है तो आने वाली पीढ़ी प्रकृति से भी परे होती जायेगी। लोक संस्कृति में बदलाव की स्थिति का अर्थ समाज का विकसित होना या विकृत होना माना जाता है। आज व्यक्ति की मानसिकता में आये परिवर्तन को भी बदलाव के अर्थ में लिया जाता है। जीवन मूल्यों का

संक्रमण बदलाव ही है। मानवीय मूल्यों एवं मानव सम्बन्धों का भी पतन हो रहा है, इससे पारिवारिक सम्बन्धों में भी तेजी से बदलाव आ रहे हैं, जिसे आधुनिकता का नाम दिया जा रहा है- पर यह तो परम्परा से कटाव है। व्यक्ति आत्म केन्द्रित होता जा रहा है। फलस्वरूप मानव अपने को अकेला महसूस करने लगा है।

इस परिवर्तन से दाम्पत्य सम्बन्धों में भी बदलाव देखा जा रहा है। समर्पण का भाव आत्म सुख में बदलता जा रहा है। वर्तमान पीढ़ी-दर-पीढ़ी वैचारिक मतभेद ने भी अटूट सम्बन्धों पर प्रभाव डाला है। युवा पीढ़ी को हमारी परम्पराएँ साहित्य, संस्कृति सब असंगत लगने लगी है और इनका पालन करने वाली पुरानी पीढ़ी को वे संकुचित दृष्टिपूर्ण वाला समझते हैं। व्यक्ति की कल्पनाएँ यथार्थ के ताप में झुलस गयी हैं। लोक संस्कृति में परिवर्तन के

परिणाम पूर्णतः प्रतिकूल नहीं पड़े हैं। इसके कुछ अनुकूल प्रभाव भी देखने में आये हैं, जैसे पंडवानी लोक गायिका तीजनबाई ने पारम्परिक लोक गीतों के माध्यम से रामकथा और कृष्णकथा में कुछ बदलाव कर आधुनिक अंदाज में प्रस्तुत किया है, जिसे देश-विदेश में काफी सराहा गया है। इस कार्य हेतु उन्हें पद्मश्री से सम्मानित भी किया गया है।

हमें अपने आपको धन्य समझना चाहिए कि हमने भारत जैसी पवित्र भूमि पर जन्म लिया है, जहाँ भगवान राम और कृष्ण जन्मे थे। आज प्रत्येक व्यक्ति को यह दृढ़ संकल्प लेना चाहिए कि हम अपनी भारतीय सभ्यता और संस्कृति को कभी धूमिल नहीं होने देंगे। मानवता का पूर्ण रूपेण निर्वाह करेंगे।

साहित्य सेवी : बालकवि वैरागी

डॉ. महेन्द्र भानावत

कोई पच्चीस वर्ष पूर्व बालकवि वैरागी के संदर्भ में मैंने लिखा था- कुछ ऐसे भी मित्र होते हैं जो नहीं मिलते हैं। मगर हर समय मिलने का एहसास देते हैं। इस एहसास की आत्मीयता, अपनापन और आनंद की अनुभूति ही जीवन की अमृतानुभूति है। इसी अमृतानुभूति से रू-ब-रू होने का पैंतालीस वर्ष बाद सुयोग मिला। प्रसंग था उज्जैन की प्रतिकल्पा नामक संस्था द्वारा सांझीकला पर राष्ट्रीय संगोष्ठी में भाग लेने का। संगोष्ठी आयोजक डॉ. शैलेन्द्र शर्मा जानते थे कि अकेलेपन की यात्रा मुझे बड़ा बोझिल बना देती है। अकेले यात्री और अकेले गृहस्थ का जीवन मेरी दृष्टि में अधूरा, एकांगी तथा अलटप्पू का जीवन है। मैंने इस रूप में कभी अपनी यात्रा तथा जीवन को रसहीन गन्ने की पंगेरी नहीं बनने दिया। यों मैंने एकलखोरों का जीवन भी देखा है।

वह दिन 25 सितम्बर 2011 का था। ऐन सुबह मुँह झांकते मैं उदयपुर से चलकर ठीक साढ़े आठ बजे बालकवि वैरागीजी के निवास धापू धाम-नीमच पहुँच गया। वहाँ ज्योंही टेक्सी का फाटक खुला, धापू धाम का फाटक भी खुलता नजर आया। सामने ही कुर्सी पर बालकवि विराजमान थे। उन्होंने कुर्सी से उठते ही 'महेन्द्र भाई, धापू धाम में आपका बहुत-बहुत स्वागत, कहकर मुझे अपने सीने से लगा लिया। मैं धन्य हो गया। वे बोले- मेरी माँ के नाम पर इस धाम का नामकरण किया है। आज मैं जो भी कुछ हूँ, मेरी माँ का प्रताप है। मेरी माँ को देखना हो तो कोई मुझे देख ले। इस धाम के सामने जो जगह खाली दिख रही है, वह अंग्रेजों का कब्रगाह है। पता नहीं, वे कौन अंग्रेज थे जो यहाँ दफनाये गये, कोई नहीं जानता।

मैंने कहा- पहले के नाम बड़े संस्कृतनिष्ठ थे। धापू नाम भारतीय जीवन परिवेश का विराट चेतन रूप है। सभी धपे हुए, तृप्त रहें, कोई भूखा न रहे, इसीलिए अन्नपूर्णा देवी का वंदन है। उसके साथ धाम शब्द की उपमा उसे सवाया निखार देने वाली है। मेरी माँ का नाम डेलूबाई था। यदि मैं अपने निवास का नामकरण करूँ तो वह होगा 'डेलू डेरा'। हमारे यहाँ अस्थायी निवास के रूप में डेरे का प्रयोग होता रहा है। बारात जाती है, तब बारातियों के ठहराने की जगह डेरा कहलाती है। विदाई के बाद बहू डेरे पहुँचाई जाती है। कठपुतली के खेल में भी जहाँ बादशाह का दरबार लगता है, वहाँ चोपदार पहरे पर खड़ा रहता है। डुगडुगी वाला उसे आकर सचेत करता है। कहता है- नत्थेखाँ पहरे पर हुसियार रहना, राजा नवाब आये तो उनके डेरे लगवाना।

बालकवि बात को और वजनदार बनाते हैं। कहते हैं- लोकगीत जला तो डेरे के कारण ही लोकप्रिय है। मैं बोला- प्रगाढ़ प्रेमी के रूप में राजस्थान में जला बड़ा प्रसिद्ध है। जलाल युद्ध में जा रहा था, तब उसकी फौज का डेरा शहर के बाहर लगवाया गया। उस समय उसकी प्रेमिका बूवना उससे मिलने और उसका डेरा देखने गई थी। तभी गीत चल पड़ा-

*जलाजी मारु म्हें तो थारां डेरा निरखण आई हो जला
मिरगानैणी रा जला
म्हें तो थारां डेरा निरखण आई हो जला।*

इसे सुन वैरागीजी पुरानी स्मृतियों में खो गये। कहने लगे- सन् 1954-55 में ख्यातलब्ध लोक कलाकार देवीलाल सामर मेरे घर मनासा आये थे, तब उनके साथ भवाई नर्तक दयाराम और लोकगीत गायिका नारायणीदेवी थी। उसका कंठ बड़ा मधुर था। पहली बार उसी से मैंने जला गीत सुना था। सुनकर मैं रोमांचित हो उठा। उस गीत को सुन मेरे सम्मुख जला-बूवना और वह डेरा नजरबंद हो गया। मैंने कहा- सामरजी के बाद दयाराम भी चला गया, मगर नारायणीबाई के गले में आज भी वही टीस, पीड़ा और हिचकोला है।

वैरागीजी ने घड़ी पर नजर घुमाई। हम तत्काल उठे। उनके साथ डॉ. पूरन सहगल और डॉ. सुरेन्द्र शक्तावत थे। टेक्सी में हम तीनों पिछली सीट पर, बालकवि आगे। वैरागीजी ने डॉ. शैलेन्द्रजी से कानाबाती की, नीमच से हमने प्रस्थान कर दिया है। तीन बजे

तक उज्जैन पहुँच जायेंगे। मैं, डॉ. पूरन, डॉ. महेन्द्र भाई और डॉ. सुरेन्द्र; इन तीन-तीन डाक्टरों के साथ हूँ। इनके साथ मौज तथा मजे ही मजे हैं। आप निश्चिंत रहें, मिलते हैं।

मैंने बात छेड़ दी, इन दिनों क्या लिख रहे हैं? वैरागीजी बोले- लिखने को किताबों की भूमिका और करने को उनका लोकार्पण। इस उम्र में लोग इसी काम के योग्य समझने लग गये हैं। पहले तो उन पोथियों को पढ़ो। बहुत सी तो पढ़ने जैसी भी नहीं होती, फिर उन पर लिखो- प्रशंसामूलक, ठकुर सुहाता। जो काम अब तक नहीं किया, अनचाहे भी उसे करना पड़ रहा है।

डॉ. पूरन बोले- मेरे पास एक सज्जन रद्दी कागजों का बंडल लाये। वे दोहा छंद में रचना करते थे। दो घंटे तक सुनाते रहे। अंत में बोले- आप इन्हें देख लें, शुद्ध कर लें, शुद्ध लिख भी दें। छः सौ के करीब तो ये हैं, पर सतसई हो जाय तो मेरा भी कल्याण हो जाय। भूमिका भी आपको ही लिखनी है और लोकार्पण भी आप ही के हाथों करवाना चाहूँगा।

वैरागीजी ने फुलझड़ी छोड़ी, शुक्रिया मानो कि उन्होंने लोकार्पण की व्यवस्था आपके जिम्मे नहीं डाली। मेरे पास तो एक भाई ने लोकार्पण के नाम पर चंदा कराने का साहसपूर्ण प्रस्ताव भी रख दिया। वे चाहते थे कि उन्हें कहीं से पुरस्कार भी मिल जाये। यों आजकल सम्मान और पुरस्कार देने वाले भी बहुत बढ़ गये हैं। देखा जाय तो पुरस्कार रूपी महासागर के हर किनारे पर मछुआरों के मेले लगे पड़े हैं। सबके अपने-अपने जाल हैं और सबकी अपनी-अपनी मछलियाँ भी हैं।

मेरे से रहा नहीं गया, बोला- एक समारोह में जिस मंच पर रचनाकार को पुरस्कृत किया गया, कुछ देर बाद उसी मंच के पीछे उससे वह चैक ले लिया गया। रचनाकार हक्का-बक्का रह गया? वह क्या करता? किससे कहता! कौन उसकी सुनता?

डॉ. शक्तावत ने अपनी चुप्पी तोड़ते हुए कहा- यह तो कुछ नहीं हुआ। इससे भी बड़ी घटना एक समारोह में मैंने देखी, जब एक वयोवृद्ध लेखक का सम्मान किया गया। समारोह में सम्मानकर्ता ने अपनी संस्था की उपलब्धि बताते हुए आर्थिक तंगी का बार-बार जिक्र किया, तब सम्मानित लेखक ने न केवल वह चैक ही वापस कर दिया, अपितु उस संस्था को ग्यारह हजार की राशि भी अपनी ओर से देने की घोषणा कर दी।

इन सब बातों ने हमारे मन का उत्साह ठंडा कर दिया। हम सब चुप हो गए। लगा कि जैसे यात्रा की कोई उमंग हममें नहीं बची है। कुछ चलने के बाद चुप्पी तोड़ते हुए वैरागीजी ने अपने मित्र को मोबाईल किया, ठीक पन्द्रह मिनट बाद मैं रतलाम तुम्हारे दफ्तर में पहुँचूँगा। हम कुल पाँच प्राणी हैं। तीन तो डाक्टर ही हैं मेरे साथ, धुरंधर विद्वान। हम नाश्ता वहीं करेंगे। तुम तीन कचौरियाँ, दो समोसे, कुछ केले, एप्पल और चाय-कॉफी जैसी तुम्हारी मर्जी, तैयार रखना। दस मिनट रूकेंगे और फिर उज्जैन के लिए निकल जायेंगे।

हम ठीक साढ़े बारह बजे पहुँच गये। नाश्ता किया और फटाफट निकल चले। अपने अतीत के बोदेपन को छिपाकर वर्तमान पर इठलाने वाले मैंने कई व्यक्ति देखे, किंतु वैरागीजी ने कभी अपने व्यक्तित्व को नहीं भूला। मैं बोला- इस उम्र में तो अतीत की यादें ही बड़ी सुखद लगती हैं। मेरा बचपन कभी सुखद नहीं रहा। अभावों की जिंदगी जीते हुए जो संघर्ष किया, वही परिवेश आज भी रूढ़ बना हुआ है। आज की तरह पहले दिखावटी संस्कृति नहीं थी। अच्छा कभी भोगा नहीं किंतु पास पड़ोस का भी नहीं देखा, इसलिए कभी कोई हीन भाव नहीं आया।

वैरागीजी की सर्वोत्कृष्ट अच्छाई यह है कि वे अपने अतीत के जीवन को सर्वथा याद करते हुए धन्य बने रहते हैं। अपने रद्दड़ समझे जाने वाले बचपन को उन्होंने कभी हीन नहीं माना और गर्वशाली ही बने रहे। ऐसा व्यक्तित्व ही रोडी का रतन तथा मंगते से मिनिस्टर बनता है। बालपने के रेल के खेल में वे सबसे पीछे रहते थे, कारण कि पीछेवाला हमेशा अपने आगे वाले की कमीज पकड़े रहता। बालकवि के पास पहनने को कमीज नहीं होती, केवल बनियान होता। सबसे पीछे रहने का यह लाभ होता कि वे तो अपने आगे वाले की कमीज पकड़े रहते और उनके बनियान में पकड़ने जैसा कुछ नहीं होता तो वे सबसे पीछे रहकर गार्ड बाबू बन इठलाये रहते। उन्होंने सुन रखा था कि रेल में सबसे पीछे का डिब्बा गार्ड बाबू का होता है जो पूरी गाड़ी का संचालन करता है।

गरीब आदमी का स्वाभिमान समृद्धों की तुलना में कई हजार गुना अधिक होता है। गरीब भले ही मकोड़े की तरह मसल दिया जायेगा, पर कभी ओछा नहीं बनेगा। न झुकेगा, न टूटेगा और न अपना स्वाभिमान तथा सत्व ही खोयेगा।

वैरागीजी सुनाते हैं- मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री ने मुझे संसदीय सचिव बनाया। राज्यपाल द्वारा शपथ ग्रहण करने के लिए कलेक्टर लेने आए। पूरे मनासा के लोग मेरे घर के बाहर जमा हो गये। पिताजी बाहर बैठे मित्रों के साथ गपशप कर रहे थे। मैंने उनके चरण स्पर्श किए। आशीर्वाद स्वरूप उन्होंने कहा- जाओ बेटा राज करो। ध्यान रखना, मेरी गरीबी पर कोई उंगली नहीं उठा पाये। भीख माँगने का लोटा वापस तेरे हाथ में न आ जाये, अब तक कुछ बिगड़ा नहीं है और माथा चूमते बोले- वापस जल्दी आना। जोग संजोग देखिए, साढ़े चार माह में ही हमारी सरकार गिर गई। मैं गया था झंडीवाली कार में बैठकर और लौटा रोडवेज की बस से। लौटते ही पिताजी से कहा- आपने कहा था कि वापस जल्दी आना सो मैं आ गया किंतु अठारह माह बाद ही जब पुनः कांग्रेस सत्ता में आई, तब मैं मंत्री बनाया गया। मेरे पास सामान्य प्रशासन, सूचना प्रकाशन, भाषा तथा पर्यटन विभाग थे।

डॉ. सहगल बोले- दादा का मंत्री काल का समय मध्यप्रदेश शासन के इतिहास में ही नहीं, पूरे देश में याद किया जाता रहेगा। इन्होंने सत्ता में रहते पिता के कथन को सर्वोपरि सीख मान गरीबी पर कभी उंगली नहीं उठने दी। सदैव पारदर्शी जीवन जीया। विशिष्ट रहते हुए भी जब तक ये मंत्री रहे, उनका निवास हर साधारण का घर-आँगन बना रहा। इनके समय की कोई फाईल न कभी ठंडी हुई और न किसी ने लावा ही उगला। एक बार वे विक्रम विश्वविद्यालय के चांसलर डॉ. शिवमंगलसिंह 'सुमन' से मिलने मोटर साइकिल पर गये, तब सारे देश के अखबारों में बड़ी खबर बनी।

वैरागीजी ने बताया कि सुमनजी और बच्चनजी दोनों इलाहाबाद में साथ-साथ रहकर पढ़ाई करते थे तथा काव्यपाठ करने जाया करते थे। उन्होंने ही सर्वप्रथम काव्यपाठ हेतु पारिश्रमिक लेने की शुरुआत की। फिर काका हाथरसी ने उनका पूर्ण समर्थन किया। काका के साथ जो भी काव्यपाठ करता, उसे वे पूरा पारिश्रमिक दिलाते।

हम लोग तीन बजते-बजते उज्जैन पहुँच गये। डॉ. शैलेन्द्र और परिकल्पा की निदेशिका डॉ. पल्लवी हमारी प्रतीक्षा में थे। एक अच्छे से होटल में हमारे ठहरने की व्यवस्था कर दी गई। एक कमरे में वैरागीजी के साथ डॉ. शक्तावत और उनके पास ही मैं

और डॉ. सहगल ठहर गए। चार बजे हमारी संगोष्ठी प्रारंभ होने वाली थी, अतः हम ठीक से तैयार हो कालिदास अकादमी के रघुवंशम् हॉल में पहुँच गए। वहाँ उपस्थित नगर के कई प्रबुद्ध व्यक्तियों से भेंट हुई। संगोष्ठी की अध्यक्षता पुरातत्ववेत्ता डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित ने की।

भोपाल से मेरे मित्र बसंत निरगुणे भी आ गये थे। उन्होंने मालवी लोककला संस्कृति पर विगत चालीस-पचास वर्षों में खूब जमकर मूल्यवान लेखन किया है। डॉ. कपिल तिवारी के साथ जुड़कर आदिवासी लोककला परिषद् में रहते उन्होंने मालवा के सभी लोकांचलों के विद्वानों को जोड़ा और उनके द्वारा कई अच्छे विषयों पर पुस्तकें तैयार करवाईं। मालवी की सहोदर मेवाड़ी के नाते उन्होंने मुझसे भी पाबूजी की पड़ और पांडवों का भारत नामक पुस्तकें लिखवाईं। यहीं से प्रकाशित चौमासा नामक चातुर्मासिक पत्र भारतीय लोकसाहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र में मील का पत्थर बना हुआ है। संगोष्ठी में उनकी लिखी 'सांझा फूली' पुस्तक का लोकार्पण बड़ा सामयिक तथा मालवी लोककला संरक्षण की दिशा में अभूतपूर्व रहा। निमाड़ अंचल के निवासी होने के कारण उन्होंने निमाड़ की रग-रग को लोकरंगी बना दिया। उन्होंने मुझे अपनी सद्यः प्रकाशित निमाड़ी मुहावरों वाली पुस्तक भी दी, जो दस हजार मुहावरों से जड़ी उनके यायावरी जीवन की उपलब्धि का खदानकोश ही कहा जाना चाहिए।

अपने वक्तव्य में मैंने संगोष्ठी में भाग लेने के अतिरिक्त प्रसन्नता का गौरव कहा, कारण कि आज ही के दिन किंतु 51 वर्ष पूर्व, 25 सितम्बर 1960 को धर्मयुग में 'गुड गुड गुडल्यो गुडतो जाय' शीर्षक से संज्ञ्या पर मैंने एक आलेख लिखा था। तब डॉ. श्याम परमार ने मुझे सूचित किया कि पूरे मालव और राजस्थान में सांझी के तीन-चार गीत ही मिलते हैं। उनके इसी कथन से प्रेरित हो मैंने राजस्थान के विविध अंचलों का भ्रमण कर सांझी के 50 गीत एकत्र किए और राजस्थान की संज्ञ्या नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की। इसी सांझी पर बाद में मेरी बिटिया कहानी ने शोधप्रबंध भी लिखा।

बालिकाओं द्वारा गाये जाने वाले संज्ञ्या गीत की मात्र एक पंक्ति 'खुड खुड से म्हारा खोड्या जमाई, थूं संज्ञ्या ने लैवण आयो रे' के आधार पर मैंने मेवाड़ में गाई जाने वाली बगड़ावत महागाथा

में वर्णित एक घटना प्रसंग को लेकर संज्ञ्या को खोज निकाली। यही नहीं, उसे एक हजार वर्ष प्राचीन बता मेवाड़ से उद्भवित यह विरासत हरियाणा, पंजाब, मालवा, महाराष्ट्र आदि प्रांतों में अपना प्रसार देती हुई नेपाल तक जा पहुँची। इस दृष्टि से सांझी कुमारिकाओं के सुखमय जीवन का सौंदर्यमय श्रद्धानुष्ठान ही है।

वैरागीजी ने संज्ञ्या को सुकन्याओं की कोमल भावनाओं की अभिनव परिणति कहा जो उनके भावी जीवन के सौंदर्यबोध को मंगल प्रदान करती है। उन्होंने सांझी को बालिकाओं का सुव्यवस्थित व्याकरण और अनुशासन कहा, जिसके माध्यम से माताएँ अपनी पुत्रियों को भावी गृहस्थ जीवन का सुदृढ़ आधार-प्रदान करती हैं। संगोष्ठी को श्री निरगुणे, डॉ. सहगल, डॉ. शिव चौरसिया, डॉ. पुरु दाधीच, डॉ. जगदीश शर्मा, डॉ. गुलाबसिंह, डॉ. शैलेन्द्र तथा डॉ. पल्लवी ने भी वैचारिक समृद्धि दी।

तीन घंटे की यह संगोष्ठी विद्वानों के चिंतन-मंथन से बड़ी यादगार बन गई। इसी क्रम में रात्रि को अकादमी के संकुल हॉल में संज्ञ्या लोकोत्सव का सांस्कृतिक कार्यक्रम था, जो आकर्षक गीत-नृत्यों की प्रस्तुति से सराबोर रहा। प्रतिकल्पा की डॉ. पल्लवी ने इसे कई रंगों में खूबसूरती दी। संज्ञ्या के गीतों से मंडित बालिकाओं की नृत्य प्रस्तुति सर्वाधिक मोहक रही। यह एक अभिनव प्रयोग था। इसी दौरान मालवी लोकगायक हीरासिंह बोरलिया का सम्मान किया गया।

कुछ तो उम्र के प्रभाव और कुछ बीमारी से जूझते पहले तो हीरासिंह मुझे पहचान नहीं पाये, पर थोड़ा-सा इशारा देने पर लपक पड़े और बड़ी देर तक पुरानी यादों को खंगालते रहे। बोरलिया जी ने जब लोकगीत गाना प्रारंभ किया ही था, तब हमने उन्हें भारतीय लोक-कला मंडल के लोकानुरंजन मेले में आमंत्रित किया था। यहाँ शानदार प्रस्तुति के कारण वे दूर-दूर तक जाने गये, जिसका उल्लेख वे बड़ी देर तक करते रहे। उन्होंने यह भी कहा कि उसी के कारण ही उन्हें विदेश जाने का मौका भी मिला। बोरलिया जी जैसे कलाकार ही होते हैं जो बड़े होने पर भी अपने बड़प्पन में कोई कसर नहीं आने देते हैं।

यहीं रात्रि को बारह बज गई। शैलेन्द्रजी भी कम थके नहीं थे। इस समारोह के भी वे ही सूत्रधार थे। उज्जैन की ऐसी कई साहित्य-कला-संस्कृति नामी संस्थाएँ हैं, जिनसे शैलेन्द्रजी का

आत्मीय जुड़ाव रहता है। उनका यह जुड़ाव उस धागे की तरह होता है जो किसी भी निर्जीव पुतली को चलायमान कर सजीव बना देता है। होटल में भोजनकर हम अपने-अपने डेरे में चले गये।

दूसरे दिन सुबह की चाय के साथ हमारा सुप्रभात शुरू हुआ। चाय पर ही डॉ. शक्तावत ने हमें मुम्बई से सितम्बर का प्रकाशित मासिक संस्कार का प्रवेशांक दिया। हमें अपनी सम्मति लिखनी थी। वैरागीजी ने पत्रा पलटते ही देखा कि संपादक कृष्णकुमार पिप्ती ने संपादकीय के अंत में अंग्रेजी में हस्ताक्षर दे रखे हैं। उन्हें अच्छा नहीं लगा। तत्काल शक्तावत से फोन मिलाने को कहा। वैरागीजी ने उन्हें बेबाक सुना दी।

यहीं श्वेतमा निगम मिलने आई। अपने परिचय में उसने कहा कि वह झलक निगमजी की बिटिया है और 9 अक्टूबर को उनकी पहली बरसी पर आयोजित समारोह में हमारी उपस्थिति चाहती है। पूर्व में हम जब भी उज्जैन आए, झलकजी हर समय हमारे साथ रहे। उनके कविता संग्रह भी निकले हैं और उन्होंने एक समारोह में अपनी कविताओं से हमें रसमग्न भी किया था। वे मालव माटी की लोकाभिव्यक्ति के सधे हुए पारखी और अनुभवी चित्त के सरलमना सुकवि थे। पूरनजी ने ही मुझे उनके निधन की सूचना दी थी। मैंने श्वेतमा से इस तिथि की अनुकूलता नहीं होने की माफी चाही।

साढ़े नौ बजे हम अपने कमरे से बाहर निकल आये। डॉ. शैलेन्द्रजी और उनके अग्रज डॉ. जगदीशजी से बड़ी देर तक सृजन, प्रकाशन, शोध जैसे मुद्दों पर होटल के बाहर खड़े-खड़े ही दिलचस्प चर्चा होती रही। दरअसल हम परिकल्पना के सदस्यों की प्रतीक्षा करते रहे कि उन्हें धन्यवाद ज्ञापित करें और अच्छी संगोष्ठी तथा सांस्कृतिक आयोजन की सफलता से सुविदित करें, मगर हम निराश ही हुए। करीब दस बजे हमने उज्जैन छोड़ दिया।

वैरागीजी का यह सौभाग्य रहा कि वे तीनों सभाओं के सदस्य रहे। देश की लोकसभा, राज्यसभा तथा प्रदेश की विधानसभा में उनकी प्रशंसनीय तथा सकारात्मक भूमिका रही। दल बदलने के दलदल में वे कभी नहीं फँसे। वे पूरे तन-मन से कांग्रेसी रहे किंतु पार्टी को उन्होंने कभी धंधा पानी नहीं बनाया। कविता को संस्कार और राजनीति को एक नीतिगत व्यवस्था मानते हुए उन्होंने जीवन के विधि-विधान को संवैधानिक जनशक्ति से जोड़ा।

उसका प्रभाव यह रहा कि पार्टी से भी ऊपर वे अपनी छवि बनाने में सक्षम और लोकप्रिय हुए।

दो दिन के उनके साथ के यात्रा प्रवास के दौरान वे जहाँ भी जिससे भी मिले, बातचीत की, उनकी मैत्री, भाईचारा, आत्मीयता तथा अजीजता का उमड़ाव ही देखने को मिला। राजनीति की गंध-सुगंध और नेताई आचार-दुराचार से कोसों दूर वैरागीजी का शुद्ध मानस रूप साहित्यजीवी का स्नेह सरोकार पा कवि हृदय की संवेदनशीलता का कमल सरोवर ही किल्लोल करता रहा।

टेक्सी अपनी गति में चल रही थी। मैंने पूरनजी से पूछा- मोबाईल पर वैरागीजी से कौन बात कर रहा है? जाते समय भी किसी शब्द का अर्थ बता रहे थे। किसी कविता की पंक्ति का भावार्थ समझा रहे थे और अभी भौगोलिक जानकारी दे रहे हैं। वे बोले- कोई रवि नाम का लड़का है जो ऐसी जानकारी लेता रहता है। मैंने कहा- नजदीक का ही कोई होगा, सुनते ही वैरागीजी बोले- यह सिंगोली में अध्यापक हैं। बहुत ही सीधासाधा और भोला मगर जिज्ञासु। पढ़ते समय इसे जब लगता है कि बच्चों को अधिक जानकारी देनी चाहिए तो फोन खड़खड़ा देता है। पूरन बोले- दादा आपके नाम को कहीं... बात काटते ही वैरागीजी ने कहा- अरे नहीं बाबा! मामूली-सा अध्यापक है, इसीलिए मैंने जब कहा कि मैं उज्जैन से चलकर मंदसौर के आसपास हूँ और मेरे साथ तीन-तीन पीएच.डी. डाक्टर हैं। यों किसी भी समय वह फोन कर लिया करता है। जब मैं अपनी पत्नी के शव को कंधा दिये चल रहा था, तब भी मैंने इससे बात की थी।

कितने लोग हैं जो शिक्षक और शिक्षा के महत्त्व को समझ और तवज्जू देते हैं? जितने भी बड़े शिक्षाशास्त्री हुए उनके प्रारंभिक जीवन को निहारें तो पता चलेगा, वे किन-किन कठिनाइयों, संघर्षों और अभावों से गुजरे। हम अपने ही जीवन को झाँकें नहीं पढ़ते तो किन परिस्थितियों में होते! टेक्सी चालक सब सुन रहा था, बोला- अभावों में जीता मैं कुछ नहीं पढ़ पाया, मगर दुःख झेलकर भी बच्चों को पढ़ा रहा हूँ। आप लोगों के साथ रह मेरा जीवन धन्य हो गया और वैरागीजी के पास बैठकर तो मैंने सोने का सूरज ही पा लिया। बरसों से इनका नाम सुनता आ रहा हूँ। सर, मैं भी वैरागी हूँ।

चलती गाड़ी में हमने देखा, चालक भाई ने वैरागीजी के

चरण छू छलकती आँखों से अपने आँसू पोंछे। आँखें उसकी ही नहीं, हमारी भी भर आईं। कोई बता पायेगा उन आँसुओं का मोल? किसके थे वे आँसू? दुःख के! गरीबी के! अनपढ़ रहने के! वैरागीजी के सान्निध्य सुख के! जातीय गौरव के! रवि के जिज्ञासु मन के! शवयात्रा के बीच समाधान के या संतोष के!

सच तो यह है कि आँसुओं का कोई मोल और कोई व्याख्या नहीं हो सकती। शब्द, हृदय और भाव सब मौन हो जाते हैं।

मैंने वातावरण को बदलाव देने की गरज से कहा- पूरन भाई, जाते समय अपने पास केवल कपड़े थे। अब किताबों का भार बढ़ गया है। वे बोले, जहाँ भी जाते हैं, यह भार पीछा नहीं छोड़ता और घर वाले कहते हैं लो फिर ले आये कबाड़ा। मैंने कहा- सबको यही सुनने को मिलता है। किताबें कइयों की समस्याएँ बनी हुई हैं। कुछ लोग तो भेंट आई पुस्तकें रद्दी में निकाल देते हैं। कुछ पुस्तकालयों को बेच भी देते हैं। एक बार मैंने एक बंधु से यह सवाल किया तो वे बोले- बहुत सारी किताबें तो व्यर्थ की होती हैं। भेजने वाले क्यों भेजते हैं? उनका हम कुछ भी करें, किसे क्या पड़ी है? वैरागीजी बोले- मैंने दो लाख करीब मूल्य की किताबें लोकसभा पुस्तकालय को भेंट दे दी। पूरन बोले- नीमच में भी दादा के नाम बी.एड. कॉलेज है, वहाँ भी ये पुस्तकें भिजवाते रहते हैं।

मैं बोला- अरे वाह! यह पक्ष मुझे मालूम नहीं था कि दादा के नाम से कॉलेज चल रहा है। सुनते ही वैरागीजी ने कहा- पर मेरा उससे कोई सम्बन्ध नहीं है, ठीक उसी प्रकार जैसे शिवाजी छाप बंडल से शिवाजी का कोई लेना-देना नहीं है। दादा की इस जिंदादिली पर हम सब मुस्कराये बिना नहीं रह सके।

मंदसौर में हमने पत्रकार शांतिलाल जैन के निवास पर चाय-नाश्ता किया। जैन ने कुछ यादगार ऐसे संस्मरण सुनाए जब उन्होंने जोखिम उठाकर खोजी पत्रकारिता के माध्यम से नवभारत

को समाचार-समृद्ध किया था। यात्राकाल के दौरान हर पल मुझे यह एहसास होता रहा कि वैरागीजी का जनसम्पर्क ही नहीं, ग्राम सम्पर्क भी बड़ा विशद और अपनापन लिए है।

उन्हीं की तरह डॉ. सहगल ने भी पराई धरती से आकर इस जनपद को अपना बनाया और कंठासीन साहित्य का कण- कण सहेजा। उनकी सबसे बड़ी देन मालव भूमि के कई अज्ञात संतों, मुख्यतः पीपाजी तथा चन्द्रसखी के पदों को ज्ञात कर उन्हें साहित्यिक अमरता प्रदान करना है। उन्हीं की खोजों से इस अंचल की दशौरी बोली अस्तित्व में आई। उन्होंने ओळखाण नामक एक पत्रिका भी शुरू की। साधन-सुविधाओं के नितांत अभाव रहते एक साधारण अध्यापक के रूप में किसी एक व्यक्ति का अपने बूते पर अनवरत कार्य करते रहना पूरनजी का सबसे बड़ा अवदान है। लोकसंस्कृति के शोधार्थियों के लिए तो उनका धाम तीर्थधाम ही बना हुआ है।

वैरागीजी से रास्ते में सड़क के इधर-उधर के गाँवों के नामकरण, उद्भव, आख्यान तथा निवासियों की सांस्कृतिक निष्ठा की जानकारी पाकर हम बढ़ ही रहे थे कि उन्होंने इशारा देकर बताया- इस गाँव का नाम बोतलगंज है। कभी इसके पास लोग दारू पीने आते और यहाँ बोतलें फेंक दिया करते थे। कालान्तर में यहाँ बस्ती बसनी प्रारंभ हुई और उसका नाम बोतलगंज पड़ गया।

नीमच आने को है। बस स्टैंड से ही पूरनजी को मनासा के लिए गाड़ी पकड़नी है। भीड़ के कारण वे अपना बैग लिए जल्दी ही ओझल हो जाते हैं। हम धापू धाम आ पहुँचे। मेरी यात्रा अभी लम्बी है। वैरागीजी मेरे कंधे पर हाथ रख धापू धाम की ठीक से ओळखाण कराते हैं-

इक्क तरफ जांगीड़ है, इक्क तरफ है जाट।

दोनों ही के बीच में, बाबाजी के ठाठ।।

देखते-देखते बीती यात्रा की सारी हँसी-खुशी नदारद हो गई। मैं भारी मन से अकेला गुमसुम बैठा बढ़ रहा हूँ, अपने गंतव्य की ओर।

संस्कृति संचालनालय एवं मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद् के आयोजन

समारोह

जुलाई 2014

12-13	बकायन टमोह	संगीत समारोह पं. जगन्नाथराव पानसे गायन, वादन एवं नृत्य केन्द्रित	उस्ताद अलाउद्दीन खॉं संगीत एवं कला अकादमी
12-13	इंदौर	सितार समारोह वादन पर एकाग्र	संस्कृति संचालनालय
16	होशंगाबाद	सिंधी अदबी महफिल काव्य गोष्ठी	सिंधी साहित्य अकादमी
21	कटनी	राष्ट्रीय कवि सम्मेलन सिंधी साहित्य केन्द्रित	सिंधी साहित्य अकादमी
26-29	भोपाल	फिल्मोत्सव भारतीय फिलीमो गिल्म समारोह	संस्कृति संचालनालय
27-29	भोपाल	कजरी-ठुमरी संगोष्ठी एवं समारोह	भोजपुरी साहित्य अकादमी

अगस्त 2014

1-3	भोपाल	बालनाट्यम् संस्कृत नाट्य प्रस्तुतिर्वा	कालिदास संस्कृत अकादमी
3-4	चित्रकूट	तुलसी जयंती समारोह भक्ति संगीत, नृत्य एवं संवाद	आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी
6-7	चाकघाट रीवा	मैथिलीशरण गुप्त समारोह किम्वदंती एवं रचना पाठ	साहित्य अकादमी
8-10	भोपाल	पावस महोत्सव कलाओं में पावस का सौन्दर्य	संस्कृति संचालनालय
9-11	भोपाल	अन्तर्राष्ट्रीय जनजातीय दिवस वार्षिक कलाकारों पर आधारित	आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी
12-13	जबलपुर	स्मृति समारोह सुभद्रा कुमारी चौहान किम्वदंती एवं रचना पाठ	साहित्य अकादमी
14	भोपाल	राष्ट्रीय चेतना के सुर देशभक्ति आधारित	सिंधी साहित्य अकादमी
16-18	उज्जैन	गीत रामायण नृत्य नाटिका	मराठी साहित्य अकादमी
23-24	भोपाल	दुर्लभ वाद्य प्रसंग पद्मश्री उ.अ. लतीफ खॉं की स्मृति में	उस्ताद अलाउद्दीन खॉं संगीत एवं कला अकादमी

संस्कृति संचालनालय एवं मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद् के आयोजन

सितम्बर 2014

2-3	अशोकनगर	स्मृति समारोह श्रीकृष्ण सरल विमर्श एवं रचनापत्र	साहित्य अकादमी
8-10	चिदिशा	संस्कृत गौरव दिवस संस्कृत साहित्य आधारित उत्सव	कालिदास संस्कृत अकादमी
12-14	खण्डवा	म.प्र. नाट्य समारोह नाट्य प्रस्तुति	उस्ताद अलाउद्दीन खॉं संगीत एवं कला अकादमी
12-14	इन्दौर	नाट्य समारोह संस्कृत नाटकों का भंडन	कालिदास संस्कृत अकादमी
13-14	जबलपुर	नाट्य समारोह समकालीन पंजाबी नाटक	पंजाबी साहित्य अकादमी
13-17	पन्ना	जनरंजन समारोह कृष्ण लीलाओं पर एकाग्र	आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी
15-16	भोपाल	सिंधी प्रतिभा दुकाओं पर आधारित	सिंधी साहित्य अकादमी
17-19	सागर	पद्माकर समारोह विमर्श एवं रचनापत्र	साहित्य अकादमी
21-22	भोपाल	परम्परा ठठगान-कठकली पर एकाग्र	संस्कृति संचालनालय
23-24	भोपाल	स्मृति समारोह पं. नंदकिशोर शर्मा संगीत एवं नृत्य पर केन्द्रित	उस्ताद अलाउद्दीन खॉं संगीत एवं कला अकादमी
27-28	ग्वालियर	संगीत समारोह पं. कृष्णराव शंकर पण्डित शास्त्रीय गायन एवं वादन पर केन्द्रित	उस्ताद अलाउद्दीन खॉं संगीत एवं कला अकादमी

अक्टूबर 2014

1	जबलपुर	शाम-ए-गज़ल गायन पर एकाग्र	साहित्य अकादमी
2-6	भोपाल	जत्रा मराठी जत्रा पर एकाग्र	मराठी साहित्य अकादमी
6-8	भोपाल	पुतुल समारोह कठकली का लोक वेमन	संस्कृति संचालनालय
7-8	सलकनपुर	लोकगायिकी समारोह भौतिक गीत आधारित	आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी
7-9	भेड़ाघाट	नर्मदा महोत्सव पारम्परिक कलाओं का समारोह	संस्कृति संचालनालय
8-10	चित्रकूट	शरदोत्सव पारम्परिक एवं समकालीन कला उत्सव	संस्कृति संचालनालय

संस्कृति संचालनालय एवं मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद् के आयोजन

9-10	बीना	स्मृति समारोह गजानन माधव मुक्तिबोध विमर्श एवं रचनापाठ	साहित्य अकादमी
13	खण्डवा	अलंकरण समारोह किशोर कुमार राष्ट्रीय सम्मान एवं सुगम संगीत संस्था	संस्कृति संचालनालय
15-16	बड़वानी	लोकोत्सव बटुवणी कलाओं का समारोह	संस्कृति संचालनालय
16-19	भोपाल	उर्दू नाट्य समारोह उर्दू साहित्य के नाटकों का पदार्जन	साहित्य अकादमी
18-20	चित्रकूट	वाल्मीकि समारोह व्यक्तित्व एवं कृतित्व केन्द्रित	कालिदास संस्कृत अकादमी
19	इंदौर	कविता पाठ युवा कवियों का रचनापाठ	पंजाबी साहित्य अकादमी
19-20	कटनी	पुंघरू शास्त्रीय नृत्य विद्याओं पर केन्द्रित	उस्ताद अलाउद्दीन ख़ाँ संगीत एवं कला अकादमी
20	विदिशा	सुहिणा समारोह सिंधी गीत, संगीत एवं नृत्य केन्द्रित	सिंधी साहित्य अकादमी
22	भोपाल,इंदौर,ग्वालियर	दीवाली पहाट संगीत पर एकाग्र	मराठी साहित्य अकादमी
22-24	चित्रकूट	तुलसी उत्सव-रघुनाथ गाथा व्याख्यान, प्रवचन और लीला प्रस्तुति	आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी
25-27	अमरकंटक	भोजपुरी निर्गुण गाथन संगोष्ठी एवं समारोह	भोजपुरी साहित्य अकादमी
27-29	ग्वालियर	नाट्य समारोह नाटकों पर एकाग्र	उस्ताद अलाउद्दीन ख़ाँ संगीत एवं कला अकादमी
30-31	पन्ना	भूषण समारोह विमर्श एवं रचनापाठ	साहित्य अकादमी

शिविर / शिक्षण-प्रशिक्षण

जुलाई	पंजाब के चंडर जिले	संस्कृत संभाषण शिविर संस्कृत भाषा का प्रशिक्षण	कालिदास संस्कृत अकादमी
11अग.-1 सित.	उज्जैन	संस्कृत नाट्य संस्कृत नाटकों के प्रशिक्षण	कालिदास संस्कृत अकादमी
11-17 सितम्बर	भोपाल	प्रशिक्षण शिविर पुष्प गाथन केन्द्रित	उस्ताद अलाउद्दीन ख़ाँ संगीत एवं कला अकादमी
21-23 सितम्बर	इटोपुरकला	नृत्य शिविर सहरीया जनजातीय नृत्य प्रस्तुति परीष्कार	आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी
7-21 अक्टूबर	चित्रकूट	लीला शिविर लीला मंडली का प्रस्तुति परीष्कार	आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी

संस्कृति संचालनालय एवं मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद् के आयोजन

परिसंवाद/व्याख्यान

जुलाई	प्रदेश के नए दिने	सारस्वतम् संस्कृत साहित्य एवं कलाओं पर व्याख्यान	कालिदास संस्कृत अकादमी
4-5 जुलाई	घार	सृजन संवाद अनुसूचित जनजाति के रचनाकारों की कार्यशाला	साहित्य अकादमी
11-12 जुलाई	मटकुली	सृजन संवाद अनुसूचित जनजाति के रचनाकारों कार्यशाला	साहित्य अकादमी
12-14 जुलाई	इंदौर	आवर्तन संगीत प्रस्तुति	मराठी साहित्य अकादमी
19 जुलाई	ग्वालियर	कथा पाठ शीर्षस्थ कलाकारों का रचनापाठ	पंजाबी साहित्य अकादमी
9 अगस्त	इंदौर	सेमिनार मजीर की शादरी और रंग प्रयोग	साहित्य अकादमी
23 अगस्त	रीवा	व्याख्यान एवं शैरी नशिस्त बातचीत	साहित्य अकादमी
5-6 सितम्बर	माण्डू/जबलपुर	संगोष्ठी विमर्श	भोजपुरी साहित्य अकादमी
7-8 सितम्बर	मंदसौर	प्रकृति पर्व प्राकृतिक उपदान एवं परम्परा	कालिदास संस्कृत अकादमी
13-14 सितम्बर	भोपाल/सिंगरौली	संगोष्ठी भोजपुरी-हिन्दी सिनेमा का संगीत	भोजपुरी साहित्य अकादमी
13-15 सितम्बर	ग्वालियर	विचार गोष्ठी विमर्श	मराठी साहित्य अकादमी
12 अक्टूबर	इंदौर	स्मृति प्रसंग कवि कृष्ण शेटवानी बातचीत एवं रचनापाठ	सिंधी साहित्य अकादमी

प्रदर्शनी

1-20 जुलाई	भोपाल	अवयव छंदों-किसानी एवं शिल्पकार उपकरण	आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी
23-24 अगस्त	भोपाल	मध्यप्रदेश कला प्रदर्शनी बहुवर्णी कलाओं पर केन्द्रित	उस्ताद अलाउद्दीन खॉं संगीत एवं कला अकादमी

नोट: अपरिहार्य कारणों से कार्यक्रमों में परिवर्तन किया जा सकेगा।